श्रीमाध्ववेदान्त

(पूर्णप्रज्ञभाष्य)

जगद्गुरु श्रीमन्मध्वाचार्य

સમરીતિર્મહાતેજાઃ પરબ્રહ્મ સનાતનઃ।
[illegible]યતાજ્જ્ઞાનગોનાથો વેદવેદ્યો મહામતિઃ॥

प्रस्तोता

आचार्य ललित कृष्ण गोस्वामी

श्री निम्बार्क पीठ : : १२ महाजनी टोला, प्रयाग

प्रकाशक।
मुनिलाल, प्रकाशन अधिकारी
श्रीनिम्बार्कपीठ,
१२ महाजनी टोला प्रयाग

સમ્રીતિર્મહાતેજાઃ પરબ્રહ્મ સનાતનઃ।
જયતાજ્જ્ઞાનનો નાથો વેદવેદ્યો મહામતિઃ॥

प्रथम संस्करण सं० २०३१

मुद्रक।
मोहन लाल
केशव मुद्रणालय
सुधाकर रोड खजुरी,
वाराणसी-२

सम्पादकमण्डल

श्री मध्वाचार्य मूल संपादक
तर्कतीर्थ, वेदान्तमीमांसाचार्य अनुसंधानसहायक, प्रकाशनाधिकारी
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय वाराणसी-२

श्री सदानन्द गुरुदा, (एम. ए.)
व्याख्याता (कृष्ण द्वारिका-गया)

श्री कान्तानाथ गर्ग, (एम. ए.)
(महाजनी टोला, प्रयाग)

श्री सुदर्शन शरण
(अधिकारी-श्री निम्बार्काचार्यपीठ, प्रयाग)

Scanned by CamScanner

प्रकाशित ग्रन्थ

श्री निम्बार्कवेदान्त
(वेदान्त पारिजात सौरभ सानुवाद) १५ रु०

श्री रामानुजवेदान्त
(श्रीभाष्य सानुवाद) ३१ २०

श्री माध्ववेदान्त
(श्रीपूर्णप्रज्ञभाष्य सानुवाद) १५ रु०

श्रीवल्लभवेदान्त
(अणुभाष्य सानुवाद) १८ रु०

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा
(उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता, भागवत, योगदर्शन, योगवाशिष्ठव्याख्या) १५ रु०

विषय-सूची

प्रकाशकीय

पूज्यचरण स्वामी ललित कृष्ण जी महाराज ने सभी वैष्णवाचार्यो के प्रसिद्ध ब्रह्मसूत्र भाष्यों को लोकभाषा हिन्दी में रूपान्तरित करने का पवित्र संकल्प किया था। भगवत्कृपा और पूज्य गुरुवर जगद्गुरु श्री निम्बार्काचार्य पीठाधिपति स्वामी राधाकृष्ण जी महाराज के श्री-चरणों के प्रताप से अनुवाद का दुष्कर कार्य तो पूर्ण हुआ ही इनके प्रकाशन की समस्या भी सुलभ रूप से सम्पन्न हो सकी।

श्री मध्वाचार्य जी का भाष्य कलेवर में स्वल्प होते हुए भी सारगर्भित है, बड़ी ही सरल रीति से वेदांत के गूढ तत्त्वों की व्याख्या इस भाष्य की विशेषता है। इस भाष्य में भक्ति भावना का प्राचुर्य है जिसे पाठकर पाठक आत्मविभोर हो जाते हैं। यह अन्य भाष्यों से सर्वाधिक सुवोध और ग्राह्य है क्यों कि इसमें अधिकांश प्रमाण रूप से स्मृति वाक्यों का प्रयोग किया गया है प्रायः सभी श्रुति प्रमाणों की पुष्टि पौराणिक वाक्यों से की गई है जो कि हमें "श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्" इस प्रसिद्ध कालिदास की उक्ति का स्मरण दिलाती है।

हिन्दी भाषी इससे लाभान्वित हो सकेंगे हमें इसकी सर्वाधिक प्रसन्नता है।

हम श्रीमध्वाचार्य जी (काशी) और श्री सदानन्द जी गुरुदा (गया) के अन्त्यन्त आभारी हैं, जिन्होंने भाष्य के सम्पादन कार्य में हमारा पूर्ण सहयोग किया है। इनको मध्वानुयायी मनीषियों की कृपा से ही यह ग्रन्थ प्रकाश में आसका हम उनका पुनः अभिनन्दन करते हैं। सब कुछ संभालने वाले श्री अधिकारी जी और गर्ग जी को धन्यवाद देना आत्मा-श्लाघा मात्र है।

गुरुपूर्णिमा सं० २०३१

विनीत

मुनिलाल

(भगवान दास मुन्नीलाल,) बाँदा, उत्तर प्रदेश

સમસ્તૈર્નિર્દોષગુણૈઃ પરબ્રહ્મ સનાતનઃ।
જયતાજ્જગતાંનાથો વેદવેદ્યો મહામતિઃ॥

ग्रंथकार परिचिति

व्याप्तिर्यस्य निजे निजेन महसा पक्षे सपक्षे स्थितिः ।
व्यावृत्तिश्च विपक्षतोऽथ विषये शक्तिर्न वै बाधिते ॥
नैवास्ति प्रतिपच्चयुक्तिरतुलं शुद्धं प्रमाणं स मे ।
भूयात्तत्त्वविनिर्णयाय भगवानानन्दतीर्थो मुनिः ॥

आचार्य मध्व का प्रादुर्भाव एक ऐसे युग में हुआ था जब आर्य जाति राजनैतिक आध्यात्मिक रूप से अपंग होती जा रही थी। विदेशियों से पराजित एवं दर्पदलित हिन्दू जनता कुंठित हो कर निराशापूर्ण जीवन यापन कर रही थी। चौहानों के पराजय के बाद सारे उत्तर भारत में हिन्दू साम्राज्य का सिलसिला ही समाप्त हो चुका था। हिन्दुओं के उपासना स्थलों का तोड़ना, उनकी धार्मिक मान्यताओं का उपहास करना प्रशासन का मापदण्ड बन गया था। उधर बौद्ध मठों में और सनातनी उपासना स्थलों में तन्त्र का प्रभाव जम चुका था, पंचमकार साधना और साध्य दोनों बन चुके थे इस प्रकार भारतीय जनता अधिकांश में नैतिक और धार्मिक स्तरों से पतित हो रही थी। दक्षिण भारत में मलिक काफूर रामेश्वरम् में धावा मार चुका था। यह तेरहवीं शताब्दी का भयावह काल था।

आचार्य के उद्भव एवं बदरीकाश्रम प्रवेश काल के संबंध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है इस सम्बन्ध में चार मतोंका उल्लेख आवश्यक है।

(१) परम्परा के अनुसार और पौराणिक ऐतिह्य के आधार पर तो प्रसिद्ध मान्यता है कि मातरिश्वावायु देव ही भक्तों के कल्याण के लिए श्रीहनुमान, भीम और मध्व के रूप में युगान्तर से प्रकट हुए। कलियुग के चार हजार तीन सौ बर्ष व्यतीत हो जाने के बाद इनका प्राकट्य हुआ जो कि सन् ११९९ होता है। यह मान्यता स्वयं आचार्यकृत महाभारत-तात्पर्यनिर्णय के निम्नश्लोक पर आधारित है :—

चतुःसहस्रे त्रिशतोत्तरे गते संवत्सराणां तु कलौ पृथिव्याम् ।
जातः पुनर्विप्रतनुः स भीमो दैत्योविमूढं हरितत्त्वमाह ॥
(म० भा० ता० ३२।१२१)

(२) दूसरी मान्यता, उत्तरादि तथा अन्य मठों में उपलब्ध गुरु-परम्परा के आधार पर शकाब्द १०४० आर्थात् सन् ११२० निश्चित की जाती है।

(३) तीसरा मत का आधार वायुपुराण का निम्नश्लोक है :—

'विलम्बिवत्सरे शुद्धे माघे मकरगे रवौ सप्तम्यां च रवीवारे,
सुनक्षत्रे शुभे दिने द्वात्रिंशल्लक्षणैर्युक्तस्तेजोमय वपुस्तदा ॥'

इस के अनुसार विलम्बिसंवत्सर में माघ शुक्ल सप्तमी रविवार सिद्ध होता है। किन्तु मध्वविजय आदि ग्रन्थों की मान्यता आश्विन शुक्ल दशमी की है।

(४) उड़ीसा के गंजाम जिलान्तर्गत (श्री कूर्म) प्राप्त शिलालेख के आधार पर डा० बी० एन० के० शर्मा प्रभृति विद्वान आचार्य का कार्यकाल १२८ से १३१७ ई० तक मानते हैं। स्थिति यह है कि श्रीमध्वाचार्य के चार साक्षात् शिष्यों (नरहरि तीर्थ, पद्मनाभ तीर्थ, माधव तीर्थ, तथा अक्षोभ्य तीर्थ) में से नरहरि तीर्थ को कलिंग राज्य कोष में रक्खे हुए, श्रीसीतादेवी और ब्रह्मादि कराधित श्रीरामदेव के श्रीविग्रह को लाने के लिए आचार्य ने भेजा था परिस्थिति वश श्रीनरहरि को वहाँ राज्य शासन कार्य भी संभालना पड़ा बाद में वे विग्रह लेकर लौटे। यह विग्रह आज भी उत्तरादि मठ में विद्यमान है। इस तथ्य का उल्लेख 'मध्वविजय' और 'आनन्द कथा कल्पतरु' में है। उक्त शिलालेख में नरहरितीर्थ के राज्य का विस्तृत उल्लेख है। इसके अनुसार नरहरितीर्थ का सन् १२९२ तक कलिंग में होना निश्चित होता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि आचार्य चरण तब तक थे।

दूसरी बात आचार्य के बदरीबन पधारने के बाद ७ वर्ष तक पद्मनाभ तीर्थ पीठाधिपति रहे, उनके समाधिस्थ होने के बाद नरहरितीर्थ का समय निश्चित करें तो १२८५ में उनका पीठाधिपति होना तथा १२९३ में तिरोभाव निश्चित होता है किन्तु उक्त शिलालेख में १२९२ तक कलिंग

राज्य के शासन संचालन की चर्चा है। अतः इस शिलालेख के अनुसार हमें १३३३ में होनेवाले श्रीमुख संवत् को ही नरहरितीर्थ का तिरोभाव काल मानना चाहिए [१२९३ में यह संवत्सर था भी नहीं] इनके तिरोधान के १० वर्ष पूर्व आचार्यचरण ने बदरीनाथ गमन किया था अतः १३१७ ई० आचार्य का गमनकाल निश्चित होता है। आचार्य के साक्षात् शिष्य हृषिकेश तीर्थ ने अपने ग्रन्थ अणुमध्वविजय में आचार्य को ७९ वर्षों तक जनसमाज के मध्य उपस्थित माना है जिससे सन् १३१७ ई० से पीछे गणना करने पर सन् १२३८ आचार्य का प्राकट्य काल निश्चित होता है। विद्वन्मण्डली इस शिलालेख को सर्वाधिक प्रामाणिक मानकर आचार्य का उपस्थित काल १२३८ से १३१७ ई० तक मानते हैं, जो कि समीचीन प्रतीत होता है।

आचार्य चरण का जन्म तुलुनाड के "पाजक क्षेत्र" (वर्तमान मैसूर राज्य के दक्षिण कनड़ा जिला के उडुपी नगर से ७-८ मील दक्षिण पूर्व) में तुलुव ब्राह्मण परिवार में हुआ था पिता का नाम मध्यगेह (मधि जी) भट्ट तथा माता का नाम वेदवती था। माता-पिता ने इनका नाम वासुदेव रक्खा था। जन्म के ग्यारहवें वर्ष इनका उपनयन संस्कार हुआ और ये पुंगवन भट्ट नामक गुरु के आश्रम में विद्याध्ययन के लिए पधारे। ये प्रायः खेलकूद और मल्लक्रीड़ा में ही तत्पर रहते थे अतः गुरु इनकी ओर से उदासीन रहते थे किन्तु जब एकबार इन्होंने वेदों का सस्वर पाठ और वेद के दुरूह मन्त्रों का सहज व्याख्यान किया तो गुरु चकित हो गए। १६ वर्ष की अवस्था में गुरुकुल का त्यागकर इन्होंने एकान्ति वैष्णव सम्प्रदाय के त्रिदण्डी संन्यासी श्री अच्युतप्रेक्षाचार्य से संन्यास ग्रहण किया, आचार्य जी इनका नाम पूर्णप्रज्ञ रक्खा। नारदपरिव्राजकोपनिषद् के अनुसार इस पूर्व प्रचलित एकान्ति वैष्णव सम्प्रदाय में संन्यास का रूप भी प्रचलित हुआ वैसे यह सम्प्रदाय मूलतः ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम का सम्प्रदाय था, इसके संस्थापक हंस भगवान थे, सनकादि उद्धव आदि इसके परवर्ती आचार्य थे। वर्तमान में मध्यपीठ में ही इसका रूप दृष्टिगत होता है। [महाप्रभु श्री चैतन्यदेव जो कि प्रथम गौड़ देश में प्रचलित गृहस्थ सनकादि सम्प्रदाय के वैष्णव थे जिसमें श्रीराधाकृष्ण युगल सरकार और अष्टादशाक्षर महामंत्र की आराधना होती थी उस समय इनका नाम निमाई पण्डित था जो कि (निम्बाई) का अपभ्रंश रूप है, यह पवित्र नाम सनकादि सम्प्रदाय के आचार्य के

नाम का वाचक है। निमाई पण्डित को जगत के कल्याण लिए संन्यास धारण कर उद्धार करना था अतः वे गया पधारे और वहाँ मध्व संन्यासी ईश्वर पुरी जी से संन्यास ग्रहण कर नारायण मन्त्र का उपदेश ग्रहण किया तभी से वे गौड़ देश में प्रचलित सहज मधुर सम्प्रदाय मध्वगौडीय नाम से प्रचलित हुआ, इसमें भी संन्यास की परम्परा तभी से प्रचलित हुई।

श्रीअच्युतप्रेक्षाचार्य ने आचार्य मध्व को "इष्टसिद्धि" ग्रन्थ का उपदेश दिया और इनकी प्रतिभा और विद्वत्ता से अभिभूत होकर इन्हें आनन्दतीर्थ नाम से सुशोभित कर मठाधिपति और वेदान्तसाम्राज्यधिपति के पद पर अभिषिक्त किया। गद्दी पर बैठने के बाद आचार्य दिग्विजय के लिए निकले, आचार्य ने सर्व प्रथम दक्षिण भारत में अपने मत का प्रचार कर अनेक विरोधियों को परास्त किया बाद में उडुपी लौटकर गीताभाष्य की रचना की। आचार्य ने उत्तर भारत की तीन यात्रायें की थी इन्हीं में एक बार बदरीनाथ में पधार कर भगवान व्यासदेव से गीताभाष्य पर साक्षात् सम्मति प्राप्त की, वहाँ से व्यासदेव की ब्रह्मसूत्र भाष्य लिखने की आज्ञा प्राप्त कर लौटकर गंगातट पर ही कहीं ब्रह्मसूत्रभाष्य की रचना की। अपने शिष्यों सहित दिग्विजय करते हुए जब आन्ध्र में स्वामी शास्त्री और शोभन भट्ट ऐसे दिग्गज विद्वानों को अपने उपदेश से प्रभावित कर शिष्य बनाया जो कि पद्मनाभ तीर्थ और नरहरितीर्थ के नाम से विख्यात हुए। दिग्विजय के बाद आचार्य चरण ने उडुपी में प्रसिद्ध कृष्ण मन्दिर की स्थापना की। आचार्य चरण को दिग्विजय में और भी दिव्य प्रतिमाओं की प्राप्ति हुई, इस समय वह सभी प्रतिमायें उडुपी में विराजमान हैं। कहा जाता है कि भगवान व्यासदेव ने प्रसन्न होकर आचार्य को तीन शालिग्राम की मूर्तियाँ दी थी। इन तीनों को आचार्य ने सुब्रह्मण्य, उडुपी और मध्य तल में स्थापित किया। उडुपी में इस समय उलूखल बन्धन श्रीकृष्ण, श्री राम सीता, लक्ष्मण सीता, चतुर्भुज कालिय दमन, द्विभुज कालिय दमन, विट्ठल आदि श्री विग्रह विराजमान हैं। उडुपी में आचार्य चरण ने आठ पीठों की स्थापना की जिनपर उनके शिष्य आसीन हुए एक पीठ पर आचार्य के छोटे भाई श्री विष्णुतीर्थ जी विराजे। आचार्य चरण ने जो पीठें स्थापित की उनमें से चार श्री पद्मनाभ, श्री नरहरि, श्री माधव और श्री अक्षोभ्य तीर्थ को अपने मत के प्रचार के लिए नियुक्त किया तथा श्री विष्णुतीर्थ श्री हृषीकेशतीर्थ, श्री जनार्दनतीर्थ श्री नरसिंहतीर्थ, श्री उपेन्द्रतीर्थ, श्री वामनतीर्थ, श्रीराम

तीर्थ, श्री अधोक्षज तीर्थ आदि आठ प्राचार्यों को उदुपी में प्रभु सेवा के लिए नियुक्त किया जो कि परम्परा से आज भी प्रचार और सेवा कार्य में संलग्न हैं। श्री पद्मनाभ आदि प्रायः भ्रमण कर उत्तर भारत में मत का प्रचार किया अतः इन चारों के कोई स्थायी मठ नहीं हुए ये प्रचार मठ और उत्तरादि मठ नाम से प्रसिद्ध हैं तथा उदुपी के आठ मठ दक्षिणादि मठ कहलाते हैं।

श्री मन्मध्वाचार्य ने वैसे तो द्वैत मत का ही प्रतिपादन किया है, किन्तु श्री सनकादि सम्प्रदाय के सन्यासी आचार्य श्री अच्युतप्रेक्षाचार्य के शिष्य होने के नाते उस सम्प्रदाय के सिद्धान्त भेदाभेद को जो कि श्री हंस भगवान से उपदिष्ट था आचार्य चरण ने अचिन्त्य और गूढ़ मानकर अचिन्त्य भेदाभेद नाम से श्री मद्भागवत ११।७।५१ के तात्पर्य में स्मरण करते हुए स्वीकार किया है। महाप्रभु चैतन्य देव ने भागवत के हंसोपदेश को ही प्रमाण मानकर श्री मद्भागवत के हंसोपदेश को ही ब्रह्मसूत्र का व्याख्यान स्वीकार किया है किन्तु कालान्तर में श्री बलदेव विद्या भूषण ने अचिन्त्य भेदाभेद परक गोविन्द भाष्य नाम से ब्रह्मसूत्र व्याख्यान की रचना की है (यह सानुवाद वृन्दावन से प्राप्त है) जो कि गौडीय वैष्णवों का प्रमाणित भाष्य माना जाता है।

आचार्य चरण ने प्रायः तीस ग्रन्थों की रचना की जो कि इस प्रकार हैं। (१) गीता भाष्य (२) ब्रह्मसूत्र पूर्वप्रज्ञ भाष्य (३) अणुभाष्य (४) अनुव्याख्यान (५) प्रमाणलक्षण (६) कथा लक्षण (७) उपाधिखण्डन (८) मायावादखण्डन (९) प्रपञ्चमिथ्यात्ववादखण्डन (१०) तत्त्व-संख्यान (११) तत्त्वविवेक (१२) तत्त्वोद्योत (१३) कर्मनिर्णय (१४) विष्णुतत्त्वविनिर्णय (१५) ऋग् भाष्य (१६) दशोपनिषद, ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय तैत्तरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक भाष्य (१७) गीतातात्पर्यनिर्णय (२०) न्यायविवरण (२१) यमक-भारत (२२) तन्त्रसारसंग्रह (२३) कृष्णामृतमहार्णव (२४) द्वादश-स्तोत्र (२५) जयन्तीकल्प (२६) संन्यासपद्धति (२७) उपदेशसाहस्त्री (२८) उपनिषद्प्रस्थान (२९) सदाचारस्मृति आदि।

श्री आचार्य चरण ७९ वर्ष तक भक्तों को कृतार्थ करते रहे अन्त में बदरीनाथ में भगवान व्यासदेव की सन्निधि में अद्यावधि विराजमान हैं।

श्रीमध्वजयन्ती

—स्वामी ललित कृष्ण

सं० २०३१

भूमिका

भारतीय दर्शन एवं वेदान्त क्षेत्र में अपने अभिनव विचारों, प्रौढ़ चिन्तनों एवं तर्कसंगत प्रतिपादनों के कारण महत्त्वपूर्णस्थान प्राप्त करने वाला माध्ववेदान्त आज से लगभग सात सौ वर्ष पूर्व ही शङ्कर के लोकप्रिय मायावाद एवं दृढ़ मूल ऐक्यवाद के गंभीर प्रचारों तथा रामानुज के विशिष्टाद्वैत के विद्वत्तापूर्ण एवं लोकरंजक प्रतिपादनों के बावजूद भी अपने आध्यात्मवादी; मर्यादा पूर्णभक्तिसिद्धान्तों के कारण तथा सर्वथा सत्य एवं भिन्न जीव तथा जगत से श्रेष्ठतम रूप में ईश्वरीय सत्ता के प्रतिपादन के कारण भारतीय विचार जगत में अपना निश्चित एवं दृढ़ मूल स्थान बना चुका था। अपनी विशिष्टताओं के कारण यह विचार संप्रदाय आचार्य मध्व के काल में ही उत्तर से दक्षिण तक सारे भारत में अत्यन्त समादृत हुआ। इसी कारण आचार्य के जीवन काल में उनके शिष्यों एवं अनुयायिओं की विपुल संख्या का उत्तर से दक्षिण तक सारे भारत में फैला हुआ था।

आचार्य मध्व का आविर्भाव १३ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में कर्णाटक राज्य के उडुपी क्षेत्र में मध्यगेह नामक धार्मिक वैदिक ब्राह्मण के घर हुआ था। यह काल भारतीय इतिहास में राजनैतिक पराभव एवं सांस्कृतिक अधःपतन का काल था। उत्तर भारत का विशाल भारतीय क्षेत्र अपने गौरवशाली परम्पराओं के बावजूद भी खिलजी तथा गुलामों के दासत्व को स्वीकार कर चुका था। तथा मलिक काफूर सुदूर दक्षिण रामेश्वरम् तक धावा मार चुका था। इस राजनैतिक परिवर्तन एवं सांस्कृतिक पतन के कारण मानव जीवन असुरक्षित एवं जनमानस चेतना शून्य सी हो गई थी। इसका एक सबल कारण और भी था कि सारे देश के नैतिका आध्यात्मिक एवं वैचारिक मार्ग दर्शन का आधिपत्य जगन्मिथ्यात्ववाद एवं कर्म सन्यासवाद ने अपने हाथों में ले रखा था जो देश के लिए घातक, सिद्ध हो रहा था। मायावाद में अब यह दम शेष नहीं रह गया था कि वह देश के पराजित एवं टूटे हुए लोगों को जयी जाति एवं बाहरी आक्रामकों के विरुद्ध उठा खड़ा कर सके। यथार्थ जीवन को गतिशील बनाने के लिये उसे एक सच्ची आधार भूमि की आवश्यकता थी कर्म सन्यास

एवं जगन्मिथ्यात्ववाद के भयंकर अफीम से देश को जगाना आवश्यक हो गया था तथा आवश्यकता थी एक ऐसे प्रकाश पुंज की जिसके आलोक में जन समाज को यथार्थ आत्मबोध हो सके जिससे वह पराजय की कुण्ठा से अपने को उबार सके। अन्यथा यह स्वाभाविक था कि पराजित हतप्रभ एवं अनुकूल आध्यात्मिक निर्देशन प्राप्त हिन्दू समाज का तीव्र आकर्षण जयी एवं उत्कर्षशील समुदाय की संस्कृति 'इस्लाम' के प्रति हो। इसी सांस्कृतिक विघटन एवं आपत्ति काल में आचार्य श्री का आविर्भाव हुआ। अतः उनके समक्ष भी मायावाद की यह कमजोरी तथा उसके सन्दर्भ में सारे राष्ट्र की सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक विघटन की दुखस्था अवश्य आई होगी। इसलिये हम कह सकते हैं उनके मायावाद के विरोध का चाहे जो कुछ भी कारण रहा हो उसमें यह एक कारण अवश्य रहा होगा। इस प्रकार आचार्य ने अपने क्रांतिकारी विचारों अर्थात् जगत सत्यत्ववाद, जीवभेदवाद एवं हरिसर्वोत्तमत्ववाद की प्रतिष्ठा करके एक बार पुनः भारतीय जीवन को भावुक एवं खोखली मायावादी मिनारों से उतार कर यथार्थ की भूमि पर खड़ा करने का सफल प्रयत्न किया। आचार्य के शुद्ध द्वैतवादी सिद्धान्त तात्कालीन सामाजिक जीवन को कहाँ तक प्रभावित करने में समर्थ हुआ इसका प्रमाण आचार्य के बदरीकाश्रम प्रवेश के कुछ ही वर्षों के बाद कर्नाटक का विजय नगर साम्राज्य की स्थापना है।

यह कोई महज संयोग नहीं कि आचार्य के बदरीकाश्रम प्रवेश के कुछ ही वर्षों के अन्दर महान हिन्दू साम्राज्य के रूप में कर्नाटक में विजय नगर साम्राज्य का उदय हुआ। अपितु यह तो सुनिश्चित रूप से आचार्य द्वारा प्रदत्त आत्मिक पुनर्जागरण एवं आत्मिक बल का परिणाम था। यह निश्चित है कि यह बल जगतसत्यत्ववाद के प्रतिपादन एवं ज्ञान पूर्वक स्वविहितकर्म को ही कर्म सन्यास के रूप में प्रचारित किये जाने का परिणाम था। इस तरह आचार्य द्वारा इन सिद्धान्तों के रूप में वपित बीज से जो आत्मिक साहस एवं कर्त्तव्य बुद्धि उत्पन्न हुई उसी का पल्लवित रूप था विजय नगर साम्राज्य जो आगे आने वाले पीढ़ियों के राजनैतिक मुक्ति संघर्ष का पथ प्रदर्शक सिद्ध हुआ।

आचार्य ने इस प्रतिकूल काल में तथा उपद्रव ग्रस्त देश में भारतीय विद्या के यथार्थ स्वरूप के प्रचार एवं स्वमत की प्रतिष्ठा के लिए दो बार

सारे भारत की विशाल एवं महत्त्वपूर्ण यात्रा की। यात्रा काल में अनेक विद्वानों से वादविवाद के क्रम में अपनी विशिष्ट प्रतिभा के बल पर स्वमत की प्रतिष्ठा की।

भारतीय चिन्तकों तथा विद्वानों की एक अपनी विशिष्ट धारणा रही है जिसके अनुसार वे प्रस्थान त्रयी के मौलिक एवं विशिष्ट भाष्यकार को ही वेदान्त सम्प्रदाय प्रवर्तक आचार्य के रूप में स्वीकार करते रहे हैं। निःसंदेह भारतीय ज्ञान क्षेत्र में इस प्रस्थान त्रयी (उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र) की अपनी महत्ता रही है। आचार्य गण इसी प्रस्थान त्रयी के भाष्य के माध्यम से ही अपने विचारों की विशिष्टता को तर्क संगत एवं शास्त्र सम्मत ढंग से प्रतिपादित किये हैं। उसके विचारों की प्रौढ़ता तथा प्रतिपादन की विशिष्टता इन भाष्यों में चरम स्थान पर दृष्टि गोचर होता है। संभवतः इन्हीं कारणों से भी विद्वानों ने प्रस्थान त्रयी के भाष्य को आचार्यत्व की कसौटी के रूप में माना हो। इस प्रस्थान त्रयी में ब्रह्मसूत्रों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। 'ब्रह्मसूत्र अनेक उपनिषदों में विविध रूपों में प्राप्त चिन्तन परम्परा का प्रामाणिक एवं क्रम बद्ध संकलन हैं। सुविस्तृत वैदिक वाङ्मय के व्यापक ज्ञान काण्ड का प्रतिपादक है उपनिषद् भाग तथा इस गहन एवं चिन्तन प्रधान विशाल उपनिषद् साहित्य के दार्शनिक विवेचनों को समकालीन दार्शनिक विचारों के सन्दर्भ में विवेचित कर भगवान बादरायण ने अपने नवीन एवं वैज्ञानिक सूत्र शैली में प्रतिपादित किया है। इसे ही ब्रह्मसूत्र, शारीरिकसूत्र, वेदान्तसूत्रादि नाम में अभिहित किया गया है।

शंकर तथा रामानुज के बाद आचार्य ने भी अपने मौलिक एवं क्रांतिकारी दार्शनिक विचारों के प्रतिपादन के क्रम में प्रस्थान त्रयी के अन्य दो गीता तथा उपनिषद् भाष्य के तरह ही अत्यन्त विद्वत्ता पूर्ण, गंभीर तथा प्रामाणिक ब्रह्मसूत्र भाष्य की भी रचना की। आचार्य ने उत्तर भारत की यात्रा काल में ही गंगा तट पर निवास क्रम में भाष्य की रचना की तथा विद्वानों के विवादों में अपनी महान मेधा एवं विलक्षण प्रतिभा के बल पर अपने भाष्य को सुप्रतिष्ठित किया। अपने पूर्ववर्ती सभी इक्कीसों भाष्यकारों से असहमत होते हुए आचार्य ने उनके भाष्यों को सयुक्तिक ढंग से सदोष सिद्ध कर अपने विचारों की प्रतिष्ठा अपने भाष्य में किये हैं। मध्वविजयकार ने इस तथ्य का उल्लेख करते हुए कहा --

'एकविंशतिकुभाष्यदूषकं ब्रह्मसूत्रगणभाष्यमद्भुतम् ।
अन्य दूष्यमतनौदनन्त धीर्भूतमाविभवादात्मभिक्वचित् ।।

माध्व भाष्य एक अत्यन्त संक्षिप्त शैली में लिखा गया गूढ़ार्थ पूर्ण तथा विस्तृतव्याख्येय साहित्य के उद्धरणों से पूर्ण कृति है। अपने संक्षिप्त तथा निगूढ़ार्थ शैली के कारण आज भी यह विद्वानों के लिये एक समस्या बनी हुई है। जयतीर्थ, भावबोधकर, राघवेन्द्र एवं व्यासतीर्थ जैसे प्रतिभाशाली व्याख्या कारों की पंक्ति निश्चय ही इसके अर्थ गांभीर्य को दूसरा ही प्रकट करते हैं। अतः यदि अनेक भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वान इस भाष्य के संक्षिप्तता तथा अर्थ गांभार्य के कारण भाष्य के अभिप्राय को पकड़ पाने में असमर्थ होने के कारण इसे बेकार कह कर अपनी रक्षा की हो तो वह कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। स्वयं भाष्यकार ने भी अपनी अन्यकृति में इसके अर्थ गांभीर्य को प्रकट करते हुए कहा है—

'ग्रन्थोऽयमपि बह्वर्था भाष्यं चात्यर्थविस्तरम् ।
बहुज्ञा एव जानन्ति विशेषेणार्थमेतयोः ।।'
(अनुव्याख्यान)

लेकिन आश्चर्य तब होता है जब इस अर्थ गांभीर्य एवं विषय की जटिलता को आचार्य अत्यन्त सहजता के साथ निरूपित करते हैं। जिससे भाव बोध की दुरुहता नहीं रह पायी है। उसकी सहज अर्थ का बोध अल्पज्ञों को भी स्वाभाविक ढंग से हो जाता है। भले ही उसका निगूढ़ अर्थ बहुज्ञों के लिये भी दुर्बोध बना रहे। आचार्य के भाष्य के इसी अद्भुत निरूपण शैली पर मुग्ध होकर नारायण पंडिताचार्य ने कहा था:—

'बालसङ्घमपि बोधवद्धर्श दुर्निरूपवचनं च पण्डितैः ।
अप्रमेयहृदयं प्रसादवत्सौम्यकान्ति च विपक्षभीषणम् ।।
(मध्वविजय ९।१०)

विशाल वैदिक वाङ्मय में एक ही प्रयत्न सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है वह यह कि अनेक गुणगलालंकृत भगवान नारायण के सर्वोत्कृष्टत्व एवं सर्वचेतनाचेतननियामकत्व सिद्ध करना तथा यह निरुपित करना कि यह नारायण ही इस सत्य सृष्टि का निर्माता, पालक तथा संहर्त्ता है। ब्रह्मसूत्र के वेदमूल होने के कारण सूत्रकार ने इन्हीं विषयों की अवतारणा

अपने सूत्रों में 'अध्युपदेश' तथा 'अन्तर्यामी' आदि पदों से किया है। तथा सूत्रकार के इन वेद सम्मत प्रतिपादनों को प्रकाशित करना ही आचार्यमध्व ने अपने भाष्य का प्रमुख उद्देश्य माना है।

चारो अध्यायों के अभिप्रायों का सक्रम उपपादन करते हुए आचार्य मध्व ने यह प्रदर्शित किया है कि ब्रह्मसूत्र के प्रथमाध्याय अर्थात् समन्वयाध्याय में नारायण का सर्वोत्कृष्टत्व एवं अनेक गुणगणालंकृतत्व प्रतिपादित करना ही भगवान बदरायण का उद्देश्य रहा था। भगवान नारायण इस विश्व के सभी सत्य तथा क्रम युक्त जड़ चेतनों से श्रेष्ठ हैं अतः 'अध्युपदेष्टा' हैं तथा अन्तर्यामी होने के कारण वह इस संसार को बनाता है, पालता है, मिटाता है। इस प्रतिपादन से सहज ही यह भी बोध हो जाता है कि ईश्वर वह है जिसके कृपा से सत्य, बद्ध एवं भिन्न जीव स्वरूपानन्दाविर्भाव रूप मुक्ति पा सकता है। तात्पर्य इतना हो कि भाष्य के प्रथमाध्याय का प्रतिपाद्य यह बताना है कि जिज्ञास्य ब्रह्म नारायण पूर्ण, निर्दोष चेतन (भूमा) तथा असीमित कल्याण गुण (संप्रसाद) युक्त है तथा विश्व के अन्य सभी चेतनों (अल्प शक्ति संपन्नों) और अचेतनों से अपनी महत्ता, गुणपूर्णता तथा असीम शक्तिमत्ता के कारण श्रेष्ठतम है। इस तरह आचार्य ने यह स्पष्ट किया कि सभी वेद शास्त्रों का यही उपदेश है कि ब्रह्म अपने अतुलनीय एवं अमाप्य महत्ता के कारण इस सत्य सृष्टि के सभी चेतन अचेतनों से श्रेष्ठ है, सभी कल्याण गुणों का अधिष्ठान है, सभी वस्तुओं (अस्तित्व शालियों) का उद्गम है तथा सभी चेतनों का चेतन्य है। इन्हीं उपदेशों का क्रमानुबन्धन यह समन्वयाध्याय है। सारांशतः विस्तृत वैदिक वाङ्मय के चारो प्रकार के (तत्र प्रसिद्ध-अन्यत्र प्रसिद्ध-उभयत्र प्रसिद्ध-अन्यत्रैव प्रसिद्ध) नामलिंगात्मक शब्दों में प्रथम तो निश्चित रूप से विष्णु परक है तथा शेष तीनों को विष्णु परत्व रूप में समन्वित कर देना ही इस समन्वयाध्याय का अर्थ है।

द्वितीय अध्याय में समन्वय की श्रुति समय-युक्ति तथा श्रुतियुक्ति विरोध रूप चतुर्विध विरोध परिहार चारो पादों में निरूपित हुआ है। अतएव इसे अविरोधाध्याय कहा गया। तात्पर्य कि आचार्य ने दूसरे अध्याय में समकालीन तथा पूर्ववर्ती अन्य सभी विपक्षी दार्शनिक विचारों में अनेक दूषण सिद्ध कर उनकी असमर्थताओं को प्रकट किया है। तथा अपने पक्ष का प्रतिस्थापन कर उनके विरोधों को तर्क एवं शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर शान्त किया है। अतः इसे अविरोधाध्याय कहा गया है।

तृतीयाध्याय में मोक्षसाधन, वैराग्य भक्ति, श्रवण, मनन, ध्यान–रूपोपासना तथा अपरोक्ष ज्ञान पर विवेचन किया गया है। इस साधनाध्याय में अनेक आध्यात्मगर्भित विषयों पर तथा स्वप्नानुभव की वस्तु स्थिति जैसे भावनात्मक विषयों के आध्यात्मिक पक्षों पर सूत्रकार के विवेचनों एवं अभिप्रायों पर एक रोशनी डाली गई है। इस अध्याय के व्याख्या में आचार्य मध्व का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय अवदान है, संगत एवं निर्देशक मार्ग से भक्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन। आचार्य सूत्रों के माध्यम से (सूत्रानुकूल्य रूप में) ही मर्यादापूर्ण भक्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है तथा भक्ति को आध्यात्मिक आधार पर अवस्थित कर मुक्ति के प्रकृष्टतम साधन के रूप में विवेचित किया है।

चतुर्थ एवं फलाध्याय में कर्मनाश, उत्क्रांति, मार्ग तथा भोगात्मक चतुर्विध मोक्षरूप फल का प्रतिपादन हुआ है। मुक्तावस्था में भी जीव-ईश्वर तथा जीव-जीव का भेद एवं भोग तारतम्य का सयुक्तिक और सप्रमाण निरूपण इस अध्याय के भाष्य की विशेषता है।

इस भाष्य रचना के द्वारा आचार्य मध्व को निर्विवाद रूप से आचार्य पद की प्राप्ति तो हुई ही तथा साथ ही लोगों को उनकी दैवी प्रतिभा का भी दर्शन प्राप्त हुआ, परन्तु इन सबसे बढ़कर जो उपलब्धि रही वह है भारतीय जीवन को एक नवीन आलोक पथ की प्राप्ति। अतिशयित भावुकता मिथ्या एवं अनिश्चयतापूर्ण सिद्धान्तों से सर्वथा भिन्न एक यथार्थवादी जीवन दर्शन भारतीय लोगों को प्राप्त हुआ। भारतीयों को पहली बार किसी ने अत्यन्त दृढ़ता से तथा सयुक्तिक ढंग से बताया कि यह जगत् तथा जीवन सत्य है और इस से संन्यास लेकर भागना व्यर्थ है क्योंकि कर्मसंन्यास का तो अर्थ ज्ञानपूर्वक स्वावहित कर्म करना है। विश्व का रचनाकार ईश्वर सर्वश्रेष्ठ है तथा जीव उसका दास है। यह जीव अपने सीमाओं में रहकर ही ईश्वर की सेवा करके उसकी प्रसन्नता से मुक्ति पा सकता है।

आचार्य ने इसके अतिरिक्त सूत्र साहित्य के व्याख्या में तीन और ग्रंथ लिखें हैं--अणुभाष्य, अनुव्याख्यान तथा न्यायविवरण। जिनमें अनुव्याख्यान सर्वाधिक महत्व पूर्ण है यह ब्रह्म सूत्रों पर लिखा गया समालोचनात्मक गवेषणापूर्ण लघु निम्बध है। जिसमें मध्व सिद्धांतों का पूर्ण एवं पांडित्यपूर्ण निरूपण हुआ है। यह ग्रंथ मध्वभाष्य का अनुपूरक ग्रन्थ भी है।

मध्वभाष्य के महत्त्वपूर्ण टीकाकारों में जयतीर्थ, रत्नधर्म, व्यासराय, राघवेन्द्र, श्रीनिवास प्रमुख है जिनके मानवोत्तर प्रतिभाओं ने आचार्य द्वारा प्रतिपादित गूढ़ार्थ का विस्तार कर भारतीय दर्शन एवं वेदान्त को प्रतिभा सम्पन्न बनाने में महत्त्वपूर्ण योग दान दिया है।

अनन्त श्री जगद्गुरु श्री निम्बार्कपीठाचार्याधिपति स्वामी श्री राधाकृष्ण जी महाराज के सुविज्ञ विद्वान् स्वामी श्री ललित कृष्ण जी महाराज ने सुबोध सरल लोक भाषा में रूपान्तरित कर निश्चित ही आचार्यत्व-पद को चरितार्थ किया है, एतदर्थ हम उनका हार्दिक विनम्र अभिनन्दन करते हैं।

सदानन्द गुरुदा एम. ए.
व्याख्याता गया

સમગ્રીતિર્નદેવાજ્ઞા: પરબ્રહ્મ સનાતન:।
જયતાજ્જાનનો નાથો વેદવેદ્યો મહામતિ:॥

ब्रह्मसूत्र

पूर्णप्रज्ञभाष्य

प्रथम अध्याय—प्रथमपाद

नारायणं गुणैस्सर्वैरुदीर्णं दोषवर्जितम् ।
ज्ञेयं गम्यं गुरूंश्चापि नत्वा सूत्रार्थ उच्यते ।।

स्वभावतः निर्दोष, समस्तकल्याणमय गुणों के सागर ज्ञेय एवं गम्य नारायण प्रभु और गुरु के श्री चरणों में दण्डवत कर सूत्रार्थ कहता हूँ।

द्वापरे सर्वत्र ज्ञानव्याकुलीभूते तन्निर्णयाय ब्रह्मरुद्रेन्द्रादिभिर्रथितो भगवान्नारायणो व्यासत्वेनावततार। अथेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारेच्छूनां तद्योगमविजानतां तज्ज्ञापनार्थं वेदमुत्सन्नं व्यञ्जयंश्चतुर्धा व्यभजत्। चतुर्विंश्यतिधैकशतधा सहस्रधा द्वादशधा च। तदर्थनिर्णयाय ब्रह्मसूत्राणि चकार। तच्चोक्तं स्कान्दे—

"नारायणाद् विनिष्पन्नं ज्ञानं कृतयुगे स्थितम् ।
किंचित्तदन्यथा ज्ञातं त्रेतायां द्वापरेऽखिलम् ।।
गौतमस्य ऋषेः शापाज्ज्ञाने त्वज्ञानतां गते ।
संकीर्णबुद्धयो देवा ब्रह्मरुद्रपुरस्सराः ।।
शरण्यं शरणं जग्मुर्नारायणमनामयम् ।
तैर्विज्ञापितकार्यस्तु भगवान् पुरुषोत्तमः ।।
अवतीर्णो महायोगी सत्यवत्यां पराशरात् ।
उत्सन्नान् भगवान् वेदानुज्जहार हरिः स्वयम् ।।
चतुर्धा व्यभजत्तांश्च चतुर्विंशतिधा पुनः ।
शतधा चैकधा चैव तथैव च सहस्रधा ।।

कृष्णो द्वादशधा चैव पुनस्तस्यार्थवित्तये ।
चकार ब्रह्मसूत्राणि येषां सूत्रत्वमञ्जसा ॥

द्वापर में जब शास्त्रीय मतों में (ज्ञान) उलट फेर हो गए तब उसका निर्णय करने के लिए ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि की प्रार्थना पर भगवान नारायण ने व्यास के रूप में अवतार धारण किया। सही और गलत का निर्णय न कर सकने में लाचार व्यक्तियों के संशय को निवृत्त करने के लिए व्यास जी ने उच्छिन्न वेद मर्यादा की स्थापना के लिए वेद को चार भागों में विभक्त कर लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया। उन्होंने बारह हजार एक सौ चौबीस संहिताओं में वेदों का गुंफन किया। उन सबका अर्थ निर्णय करने के लिए ब्रह्म सूत्रों की रचना की। जैसा कि स्कन्द पुराण में उल्लेख है कि "भगवान नारायण से प्रदत्त ज्ञान सतयुग में पूर्णरूप से था, त्रेता में उसमें कुछ अन्तर आया, द्वापर में एक दम उलटफेर हो गया। गौतम ऋषि के शाप से ज्ञान में जब अज्ञानता हुई तब व्यामोहित ब्रह्मा रुद्र आदि देवता, एकमात्र शरण्य, स्वस्थ भगवान नारायण की शरण में गये। उन देवताओं ने जब अपना मंतव्य भगवान से निवेदन कर दिया तब पुरुषोत्तम महायोगी भगवान ने पराशर के द्वारा सत्यवती के गर्भ से अवतार लिया। उच्छिन्न वेदों का भगवान् ने उद्धार करके चार विभाग करके शाखाओं (वेदों) में गुंफन किया। उनका सही अर्थ का निर्णय करने के लिए ब्रह्मसूत्रों की रचना की।

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥
निर्विशेषितसूत्रत्वं ब्रह्मसूत्रस्य चाप्यतः ।
यथा व्यासत्वमेकस्य कृष्णस्यान्ये विशेषणात् ॥
सविशेषणसूत्राणि ह्यपराणि विदो विदुः ।
मुख्यस्य निर्विशेषेण शब्दोऽन्येषां विशेषतः ॥
इति वेदविदः प्राहुः शब्दतत्त्वार्थवेदिनः ।
सूत्रेषु येषु सर्वेऽपि निर्णयाः समुदीरिताः ॥
शब्दजातस्य सर्वस्य यत्प्रमाणश्च निर्णयः ।
एवंविधानि सूत्राणि कृत्वा व्यासो महायशाः ॥

ब्रह्मरुद्रादिदेवेषु मनुष्यपितृपक्षिषु,
ज्ञानं संस्थाप्य भगवान् क्रीडते पुरुषोत्तमः ।" इत्यादि

ब्रह्मसूत्र, थोड़े से अक्षरों में असंदिग्ध, सारगर्भित सार्थक, निर्दोष, विस्तृत विवेचन करते हैं, ऐसा सूत्र मर्मज्ञों का मत है। जैसे कि एक ही व्यास, कृष्ण आदि अन्य विशेषणों से सुशोभित होते हैं वैसे ही ब्रह्मसूत्र की निर्विशेषित सूत्रता भी है, सूत्रमर्मज्ञों के मत से सूत्रों में सविशेषणता गौण है निर्विशेषणता ही मुख्य है। शब्दतत्त्वार्थ के ज्ञाताओं का कथन है कि इन सूत्रों में समस्त वैदिक सिद्धान्तों की समुचित मीमांसा की गई है। समस्त वैदिक वाङ्मय का जिन प्रमाणों से निर्णय सम्भव था वैसे ही सूत्रों की यशस्वी व्यास जी ने रचना की। वे भगवान् पुरुषोत्तम ही ज्ञान की संस्थापना करके ब्रह्मरुद्र आदि देवताओं मनुष्यों, पितरों, पक्षियों आदि में क्रीडा कर रहे हैं।

१ अधिकरण

ॐ ॐ अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॐ ।१।१।१।१॥

अथशब्दो मंगलार्थोऽधिकारानन्तर्यार्थश्च । अतः शब्दो हेत्वर्थः । उक्तं च गारुडे—

"अथातः शब्दपूर्वाणि सूत्राणि निखिलान्यपि ।
प्रारभन्ते नियत्यैव तत् किमत्र नियामकम् ॥
कश्चार्थश्च तयोर्विद्वन् कथमुत्तमता तयोः ।
एतदाख्याहि मे ब्रह्मन् यथा ज्ञास्यामि तत्त्वतः ॥
एवमुक्तो नारदेन ब्रह्मा प्रोवाच सत्तमः ।
आनन्तर्येऽधिकारस्य मंगलार्थे तथैव च ॥
अथशब्दस्त्वतःशब्दो हेत्वर्थे समुदीरितः ।
परस्य ब्रह्मणो विष्णोः प्रसादादिति वा भवेत् ॥
स हि सर्वमनोवृत्तिप्रेरकः समुदाहृतः ।
सिसृक्षोः परमाद् विष्णोः प्रथमं द्वौ विनिस्सृतौ ॥
ओंकारश्चाथशब्दश्च तस्मात्प्राथमिकौ क्रमात् ।

Scanned by CamScanner

तद्धेतुत्वं वदंश्चापि तृतीयोऽत्र उदाहृतः ॥
अकारः सर्ववागात्मा परब्रह्माभिदायकः ।
तथौ प्राणात्मकौ प्रोक्तौ व्याप्तिस्थितिविधायकौ ॥
अतश्च पूर्वमुच्चार्याः सर्व एते सतां मताः ।
अथातःशब्दयोरेवं वीर्यमाज्ञाय तत्त्वतः ॥
सूत्रेषु तु महाप्राज्ञास्तावेवादौ प्रयुञ्जते ।'' इति

अथ शब्द मंगलार्थक है, अधिकार आनन्तर्य अर्थ का भी द्योतक है। अतः-शब्द हेत्वर्थक है। जैसा कि गरुड़पुराण में उल्लेख है—"समस्त सूत्र ग्रन्थों में सर्व प्रथम अथ और अतः शब्दों को लिखकर ही क्यों प्रारम्भ किया गया है। इन दोनों शब्दों का अर्थ क्या है, इन दोनों की उत्तमता का क्या कारण है, मैं इस रहस्य को जानना चाहता हूँ, हे ब्रह्मन् कृपया मुझे बतलाइये, ऐसा नारद जी के पूछने पर ब्रह्मा जी ने कहा कि—अथशब्द अधिकार आनन्तर्य और मंगलार्थक है तथा अतःशब्द हेत्वर्थक है। ये दोनों शब्द परब्रह्म विष्णु की कृपा से ही प्रकट हुए हैं। समस्त मनोवृत्तियों को प्रेरणा देने वाले, सृसिक्षु परब्रह्म विष्णु के मुखारविन्द से सर्वप्रथम ओंकार और अथशब्द निकले उनके हेतु को बतलाने के लिए तीसरा अतःशब्द निकला। समस्त वाङ्मय के आत्मा परब्रह्म का अभिधायक अकार है। अतःशब्द का तकार एवं अथ शब्द का थकार ये दोनों उस अकार स्वरूप आत्मा के प्राण हैं जो कि व्याप्ति और स्थिति के विधायक हैं। इसीलिए इनका सर्वप्रथम उच्चारण करना चाहिए ऐसा ऋषियों का मत है। अथ और अतःशब्द के इस महत्त्व को जानकर ही सूत्रकार, सूत्रों में सर्वप्रथम प्रयोग करते हैं।"

अधिकारश्चोक्तो भागवततन्त्रे—

"मन्दमध्योत्तमत्वेन त्रिविधा ह्यधिकारिणः ।
तत्र मन्दा मनुष्येषु य उत्तमगणा मताः ॥
मध्यमा ऋषिगन्धर्वा देवास्तत्रोत्तमा मताः ।
इति जातिकृतो भेदः तथान्यो गुणपूर्वकः ॥
भक्तिमान् परमे विष्णौ यस्त्वध्ययनवान्नरः ।

अधमः शमदमादिसंयुक्तो मध्यमः समुदाहृतः ॥
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तमसारं चाप्यनित्यकम् ।
विज्ञाय जातवैराग्यो विष्णुपादैकसंश्रयः ॥
स उत्तमोऽधिकारी स्यात् सन्यस्ताखिलकर्मवान् ।'' इति

अधिकारी का वर्णन भागवत तंत्र में इस प्रकार है—"अधिकारी, उत्तम मध्यम और मन्द तीन प्रकार के हैं, मनुष्यों में जो सर्वश्रेष्ठ हैं वे मन्द अधिकारी है। ऋषि और गन्धर्व मध्यम तथा देवता उत्तम अधिकारी हैं। ये तो जातिकृत भेद से हैं, गुण-भेद से वे अधिकारी हैं जो कि—परमविष्णु में भक्ति के साथ रत हैं। उन भक्तों में वे अधम हैं जो कि शमदम आदि षट् साधन संपत्ति के आश्रय से भगवान् को जानने के लिए उद्यत हैं। मध्यम वे हैं जो आब्रह्म स्तम्बपर्यन्त सारे विश्व को अनित्य और असार मानकर चलते हैं। उत्तम वे हैं जो कि समस्त कर्मों को भगवान् के श्री चरणों में अर्पित कर एकमात्र भगवान् के श्री चरणों के आश्रित हैं।"

"अध्ययनमात्रवतः नाविशेषादिति चोपरि ।" "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत् ।" "परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् ।" नास्त्यकृतः कृतेन ।" तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।"
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।
"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मानः ॥" इत्यादि श्रुतिभ्यश्च ।

ऊपर भागवत तंत्र का जो उद्धरण दिया गया है, उसमें अध्ययनमात्र में लगे व्यक्तियों का ही उल्लेख है, अविशेष भाव से मानने वालों की चर्चा नहीं है। "शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर हृदय में ही आत्मा को देखना चाहिये।" लौकिक कर्मों की असारता को देखकर ब्राह्मण निर्विण्ण होना चाहिये। "उसे जानने के लिए हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के निकट जाना चाहिये।" वह प्रभु जिसका वरण करता है उसे ही प्राप्त होता है, वह उस भक्त के समक्ष अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है। "जिसकी परमात्मा और गुरु में तारतम्य रूप से भक्ति होती है उसी को समस्त अध्ययन

किया हुआ और परमात्मतत्त्व प्रकाशित होते हैं।" इत्यादि श्रुतियों में भी क्रमशः भी मन्द मध्यम और उत्तम अधिकारियों का वर्णन किया गया है।

व्योमसंहितायां च—

"अन्त्यजा अपि ये भक्ता नामज्ञानाधिकारिणः।
स्त्रीशूद्रब्रह्मबन्धूनां तत्त्वज्ञानेऽधिकारिता॥
एकदेशे परोक्ते तु न तु ग्रन्थपुरस्सरे।
त्रैवर्णिकानां वेदोक्ते सम्यग् भक्तिमतां हरौ॥
आहुरप्युत्तमस्त्रीणामधिकारं तु वैदिके।
यथोर्वशी यमी चैव शच्याद्याश्च तथापराः॥" इति।

व्योमसंहिता में अधिकारी की चर्चा है कि—"जो अन्त्यज भी भगवान के भक्त हैं वे भी नाम ज्ञान के अधिकारी हैं, स्त्री शूद्र और हरिजनों का भी, ब्रह्म को जानने का अधिकार है। भगवान केवल शास्त्रों में ही बँधे हों ऐसा तो है नहीं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य उन्हें वेदों की वाणी से जानते मात्र हैं पर जो भगवान के भक्त हैं उन्हें ही उनका यथार्थ ज्ञान होता है। वैदिकों ने उत्तम स्त्रियों का अधिकार माना है उर्वशी यमी शची आदि अनेक स्त्रियां वैदिकों की दृष्टि में अधिकारिणी थीं।"

यतो नारायणप्रसादमृते न मोक्षः। न च ज्ञानं विनात्यर्थप्रसादः। अतो ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्या।

"यत्रानवसरोऽन्यत्र पदं तत्र प्रतिष्ठितम्।
वाक्यं वेति सतां नीतिः सावकाशेन तद् भवेद्॥"
इति बृहत्संहितायाम्।

"तमेवं विद्वानमृत इह भवति, नान्यः पन्था अयनाय विद्यते।"

"प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः॥

आत्मावा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः"
इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यः।

"कर्मणा त्वधमः प्रोक्तः प्रसादः श्रवणादिभिः।
मध्यमो ज्ञानसम्पत्त्या प्रसादस्तूत्तमो मतः॥
प्रसादात्त्वधमाद् विष्णोः स्वर्गलोकः प्रकीर्तितः।
मध्यमाज्जनलोकादिरुत्तमस्त्वेव मुक्तिदः॥
श्रवणं मननं चैव ध्यानं भक्तिस्तथैव च।
साधनं ज्ञानसम्पत्तौ प्रधानं नान्यदिष्यते॥
न चैतानि विना कश्चिज्ज्ञानमाप कुतश्चन।"
इति नारदीये

बिना नारायण की कृपा के मोक्ष संभव नहीं है। बिना भगवान के स्वरूप ज्ञान के उनकी कृपा भी संभव नहीं है। इसलिए ब्रह्मजिज्ञासा (विचार) करनी चाहिये। "जहाँ जिस पद का वाक्य का जो अर्थ अभिधा से लब्ध हो वहाँ उसे ही मानना चाहिए, जहाँ वैसा संभव न हो तो अन्यार्थ की कल्पना करनी चाहिये" ऐसा बृहत्संहिता का मत है।

"उस ब्रह्म को इस प्रकार जाननेवाला यहीं अमर हो जाता है," इसको जानने का कोई दूसरा उपाय नहीं है, "ज्ञानी भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं, क्योंकि उसे मैं प्रिय हूँ," परमात्मा जिसे वरण करते हैं उसे ही प्राप्त होते हैं, "आत्मा द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मतव्य और निदिध्यासितव्य है" इत्यादि श्रुति स्मृतियों से ब्रह्मज्ञान की महत्ता निश्चित होती है।

"कर्माशक्ति को अधम कहा गया है, श्रवण मनन आदि भगवत् संबंधी कर्मों से ही भगवत्कृपा प्राप्त होती है। भगवत् संबंधी ज्ञान हो जाना मात्र मध्यम कोटि का प्रयास है, भगवत् कृपा प्राप्त होना ही उत्तम बात है। बिना कृपा से स्वर्गलोक पा सकना अधम गति है। जनलोक में प्रशस्ति पा लेना मध्यम गति है। मुक्ति देने वाली भगवत्कृपा ही उत्तम है। श्रवण, मनन, ध्यान और भक्ति ज्ञान प्राप्ति के प्रधान साधन हैं। इनके अतिरिक्त कोई और साधन नहीं है। इन साधनों के बिना कभी किसी ने ज्ञान नहीं प्राप्त किया।" ऐसा नारदपुराण का स्पष्ट मत है।

ब्रह्मशब्दश्च विष्णावेव ।

"यमन्तः समुद्रे कवयो वयन्ति यदक्षरे परमे प्रजाः ।
यतः प्रसूता जगतः प्रसूती तोयेन जीवान् व्यससर्ज भूम्याम् ॥"

इत्युक्त्वा "तदेवर्तं तदुसत्यमाहुः तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्" इति हि श्रुतिः । "तन्नो विष्णुः" इति वचनात् विष्णुरेव हि तत्रोच्यते न चेतरशब्दात्तत्प्राप्तिः ।

"नामानि विश्वानि न सन्ति लोके यदाविरासीदनृतस्य सर्वम् ।
नामानि सर्वाणि यमाविशन्ति तं वै विष्णुं परममुदाहरन्ति ॥"

इति भाल्लवेयश्रुतिः ।

"यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवनायन्त्यन्ये ।"

"इत्येवशब्दान्नान्येषां सर्वनामता । अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ।" इति हि विष्णोर्लिंगम् ।

ब्रह्म शब्द विष्णु के लिए ही प्रयुक्त होता है । "जो समुद्र के मध्य में है जिस परम अक्षर में सारी प्रजा व्याप्त है, जिससे सारा जगत उत्पन्न हुआ है, उसने ही जल के मध्य से जीवों को पृथिवी पर सृष्टि की है" उसे ही विद्वान् परम ब्रह्म कहते हैं" ऐसी श्रुति है ।" तन्नो विष्णुः" इस पद से निश्चित होता है कि उक्त प्रसंग में विष्णु का ही उल्लेख है और किसी शब्द से ब्रह्म का उल्लेख नहीं मिलता । "इस नाम रूपात्मक सृष्ट जगत में जो कुछ भी है वह किसी अन्य से उत्पन्न नहीं है, सारे नाम जिसमें प्रविष्ट होते हैं उस परम ब्रह्म को विष्णु कहते हैं ।" ऐसी भाल्लवेय श्रुति भी है । "यो देवानां नामधा एक एव" इत्यादि श्रुति में किए 'एव' शब्द के प्रयोग से विष्णु की ही सर्वनामता सिद्ध होती है । "अज की नाभि के अन्तराल में समस्त भुवनों सहित विश्व स्थिति है" ये वर्णन भी विष्णु का ही है ।

न च प्रसिद्धार्थं विनाऽन्योर्थो युज्यते ।

"अजस्य नाभाविति । यस्य नाभेरभूच्छ्रुतेः पुष्करम् लोकसारम् ।
तस्मै नमो व्यस्तसमस्तविश्वविभूतये विष्णवे लोककर्त्रे ॥"

इति स्कान्दे "परो दिवा पर एना पृथिव्या" इति समाख्या श्रुतौ । "यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तं ऋषि तं सुमेधाम्" इत्युक्त्वा "मम योनिरप्स्वंतस्समुद्रे "इत्याह । उग्रो रुद्रः समुद्रेऽन्तर्नारायणः, प्रसिद्धत्वात् सूचितत्वाच्चास्यार्थस्य । न चाविरोधे प्रसिद्धः परित्यज्यते । उक्तन्यायेन श्रुतय एतमेव वदन्ति ।

"वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुस्सर्वत्रगीयत ॥

इति हरिवंशेषु । न चेतरग्रन्थविरोधः ।

प्रसिद्धार्थ को छोड़कर अन्य अर्थ नहीं करना चाहिए अजनाभि में विष्णु का ही उल्लेख हैं, स्कन्द पुराण में उसका सुस्पष्ट उल्लेख है । 'जिसकी नाभि कमल से लोकसार श्रुतियाँ प्रकट हुई ऐसे व्यष्टि समष्टि विश्वविभूति रूप लोककर्त्ता भगवान विष्णु को प्रणाम है ।" "परो दिवा पर एना पृथिव्या", इत्यादि समाख्या श्रुति से भी उक्त बात पुष्ट होती है । इस श्रुति में "यं कामये तं तमुग्रं" इत्यादि कह कर आगे "मम योनिरप्स्वंतस्समुद्र" कहकर "यमन्तःसमुद्रे कवयो वयन्ति" इत्यादि श्रुति की ही पुष्टि की गई है । उक्त श्रुति में उग्र शब्द रुद्र का तथा समुद्रे अन्तःशब्द नारायण का वाचक है । ये शब्द प्रसिद्धि और सूचक होने से उक्त अर्थ का ही द्योतन करते हैं । जब तक कोई विरोध न हो, प्रसिद्ध अर्थ को छोड़ना भी नहीं चाहिये श्रुतियाँ विष्णु का ही उल्लेख करती हैं । "वेद, रामायण पुराण, महाभारत आदि सभी जगह आदि मध्य और अन्त में विष्णु का ही गुणानुवाद किया गया है ।" ऐसा हरिवंश पुराण का भी वचन है । दूसरे ग्रन्थ भी इससे विरुद्ध कुछ नहीं कहते ।

"एष मोहं सृजाम्याशु यो जनान्मोहयिष्यति ।
त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय ॥
अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुज ।
प्रकाशं कुरु चात्मानं अप्रकाशं च मां कुरु ॥"

इति वाराहवचनात् । शैवे च स्कान्दे—

"श्वपचादपि कष्टत्वम् ब्रह्मेशानादयः सुराः ।
तदैवाच्युत यान्त्येव यदैव त्वं पराङ्मुखः ॥"

इति । ब्राह्मे च ब्रह्मवैवर्त्ते—

"नाहं न च शिवोऽन्ये च तच्छक्त्येकांशभागिनः ।
बालः क्रीडनकैर्यद्वत् क्रीडतेऽस्माभिरच्युतः ॥"

इति । न च वैष्णवेषु तथा । तच्चैव मोहमित्युक्तम् ।

विष्णु के अतिरिक्त जो, ब्रह्म का प्रयोग शिव आदि देवताओं के लिए शंकर आदि ने किया है वह भगवान की लीला मात्र है जैसा कि वाराहपुराण में स्पष्ट कहा गया है—"हे रुद्र ! मैं इस मोह की सृष्टि कर रहा हूँ, जो कि लोगों को तत्काल मोहित कर लेगा, तुम मोहशास्त्र की रचना करो, निरर्थक और अतथ्य बातें उस शास्त्र में दिखलाओ अपनी महत्ता दिखला कर मेरे महत्त्व को दबा दो।" शिव और स्कन्द पुराण में भी जैसे- हे अच्युत ! आपके पराङ्मुख होने पर ब्रह्मा शंकर आदि देवता श्वपच से भी तिरस्कृत होते हैं।

ब्रह्म और ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में स्पष्टतः विष्णु की महत्ता का उल्लेख है ब्रह्मा कहते हैं कि—"मैं शिव या अन्यान्य कोई भी देवता उनके समक्ष नहीं ठहर सकते हम सब उनके एक अंशमात्र हैं, जैसे बच्चे खिलौनों से खेलते हैं वैसे ही वे हम लोगों से खिलवाड़ करते हैं।" वैष्णवों को तो इस संबन्ध में कोई भ्रांति होती नहीं जैसी की शकरमतानुयायियों को होती हैं, वह सब प्रभु के द्वारा सृष्ट मोह की ही लीला है।

२ अधिकरण

ब्रह्मणो लक्षणमाह अब ब्रह्म का लक्षण बतलाते हैं—

ॐ जन्माद्यस्य यतः ॐ ।१।१।१।२॥

सृष्टिस्थितिसंहारनियमनज्ञानाज्ञानबन्धमोक्षाः यतः,

"उत्पत्तिस्थितिसंहारानियतिर्ज्ञानमावृतिः ।
बन्धमोक्षौ च पुरुषाद्यस्मात् स हरिरेकराट् ॥"

इति स्कान्दे । "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन-जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्मेति," "य उ त्रिधा तु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा, चतुर्भिस्साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तं व्यतींरवीविपत् ॥ परो

मात्रया तन्वा वृधान न ते महित्वमन्वश्नुवन्ति । न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप । यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा" इत्यादि च ।

जिससे सृष्टिस्थिति संहार नियमन ज्ञान अज्ञान बन्ध और मोक्ष होते हैं वही ब्रह्म है। जैसा कि स्कन्द पुराण से सिद्ध होता है—"उत्पत्ति, स्थिति संहार, नियति, ज्ञान, अज्ञान, बन्ध और मोक्ष जिस महापुरुष से होते हैं, ऐसे वे सर्व-तन्त्र स्वतन्त्र भगवान हरि ही हैं।"

"जिससे ये सारा भूत समुदाय प्रकट होता है, जिससे उत्पन्न होकर जीवित है, प्रलय होने पर जिसमें समा जाता है, उसे ही जानों वहीं ब्रह्म है।" जो कि अपने एक चरण से पृथिवी और तीन चरणों से आकाश में व्याप्त है, समस्त भुवनों सहित विश्व का आधार हैं, चौरान्वे नामों से वह हमारे चारों ओर व्याप्त होकर स्थित है।" उनकी कलाओं से उत्पन्न ये देवता उसके महत्त्व को नहीं जान सकते" "हे विष्णु आप की महिमा को कोई पा नहीं सकता।" जो हमारा पिता, माता, विधाता है उसे ही सारे भुवनों और विश्व का आधार जानो। "इत्यादि श्रुतियों से भी ब्रह्म का लक्षण निश्चित होता है।

३ अधिकरण

अनुमानतोऽन्ये न कल्पनीयाः-अनुमान से किसी अन्य ब्रह्म की कल्पना नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह—

ॐ शास्त्रयोनित्वात् ॐ ।१।१।१।३॥

"नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम् सर्वानुभूमात्मानँ साम्पराये, औपनिषधः पुरुषः" इत्यादि श्रुतिभ्यः ।

"वेद को न जानने वाले, उस महान् सर्वव्याप्त भूमा स्वरूप ब्रह्म को, गवेषणा से नहीं जान सकते "वह औपनिषद् अर्थात् उपनिषद् से ही जानने योग्य परुष है "इत्यादि श्रुतियाँ उसे वेद से ही ज्ञेय कहती हैं।

न चानुमानस्य नियतप्रामाण्यम् ।

"श्रुतिसाहाय्यरहितं अनुमानं न कुत्रचित् ।
निश्चयात्साधयेदर्थं प्रमाणान्तरमेव च ॥

श्रुतिस्मृतिसहायं यत्प्रमाणान्तरमुत्तमम् ।
प्रमाणपदवीं गच्छेत् नात्र कार्या विचारणा ।।
पूर्वोत्तराविरोधेन कोऽत्रार्थोऽभिमतो भवेत् ?
इत्याद्यमूहनं तर्कः शुष्कतर्कं तु वर्जयेत् ।।"

इत्यादि कौर्मे । शक्यत्वाच्चानुमानानां सर्वत्र ।

"सर्वत्र शक्यते कर्तुं आगमं हि विनानुमा ।
तस्मान्न सा शक्तिमती विनागममुदीक्षितुम् ।।"

इति वाराहे ।

अनुमान प्रमाण सहित होता भी नहीं । "श्रुति की सहायता के बिना कहीं भी अनुमान सही नहीं उतरता । श्रुति ही निश्चित करती है तभी अन्य प्रमाण सही उतरते हैं । श्रुति और स्मृति की सहायता से जो प्रमाण मेल खाता है, वही प्रमाण कहला सकता है, यह निश्चित बात है । पूर्व और उत्तर वाक्य जब अविरुद्ध हो तो कौन सा अर्थ यहाँ सही है' ऐसा संशय करते हुए शुष्क तर्क नहीं करना चाहिए" इत्यादि कूर्म पुराणका वचन है । जो अर्थ शक्य होता है उसी का अनुमान सब जगह किया जाता है । आगम के बिना कहीं भी अनुमान करना शक्य नहीं है, बिना आगम को समझे अनुमान करने की क्षमता होती भी नहीं ।" ऐसा वाराह पुराण का मत है ।

"रेतो धातुर्वटकणिका घृतधूमाधिवासनम् ।
जातिस्मृतिरयस्कान्तः सूर्यकान्तोऽम्बुभक्षणम् ।।
प्रेत्यभूताप्ययश्चैव देवताभ्युपयाचनम् ।
मृते कर्मनिवृत्तिश्च प्रमाणमिति निश्चयः ।।"

इति मोक्षधर्मवचनान्न नास्तिक्यवादो युज्यते । "दर्शनाच्च तप आदि फलस्य ।"

"वीर्य, धातु, घृत, धूम में अधिवास,, पूर्वजन्म का स्मरण, चुम्बक मणि और सूर्यकान्त मणि, जलपान शक्ति, मरकर भूत होना, देवताओं से वरदान याचन, इत्यादि शास्त्रीय प्रमाण हैं ।" मोक्षधर्म के इस वचनानुसार उक्त बातों को असंभव कहना ठीक नहीं है, तप आदि के फलस्वरूप ये बातें प्रत्यक्ष देखी जाती हैं । इससे जीव, ईश्वर अदृष्ट सिद्ध होते हैं ।

"ऋग्यजुः सामथर्वाश्च भारतं पंचरात्रकम्,
मूलरामायणं चैव शास्त्रमित्यभिधीयते ।
यच्चानुकूलमेतस्य तच्च शास्त्रं प्रकीर्तितं,
अतोऽन्यो ग्रन्थविस्तारो नैव शास्त्रं कुवर्त्म तत् ।।"

इति स्कान्दे "सांख्यं योगः पाशुपतं वेदारण्यकमेव च" इत्यारभ्य वेदपंचरात्रयोरैक्याभि प्रायेण पंचरात्रस्यैव प्रामाण्यमुक्तमितरेषां भिन्नमतत्वं प्रदर्श्य मोक्षधर्मेष्वपि । शास्त्रं योनिः प्रमाणमस्येति शास्त्रयोनि ।

"ऋग् यजु साम अथर्व, महाभारत पंचरात्र, रामायण को शास्त्र कहते हैं । जो इनसे अनुकूल साहित्य है वह भी शास्त्र कहला सकता है, बाकी तो सब ग्रन्थ का विस्तार मात्र है, वह शास्त्र नहीं हो सकता वह तो कुमार्ग है ।" ऐसा स्कन्द पुराण का मत है । " सांख्य, योग, पाशुपत, वेदारण्यक" इत्यादि में, वेद और पंचरात्र की एकता के अभिप्राय से पंचरात्र का ही प्रामाण्य बतलाकर अन्य सांख्य आदि भिन्न मत हैं ऐसा मोक्षधर्म में भी उल्लेख किया गया है । इस ब्रह्म की योनि अर्थात् प्रमाण शास्त्र ही है, इस लिए यह शास्त्रयोनि हैं ।

४ अधिकरण

अज्ञानां प्रतीयमानमपि नेतरेषां शास्त्रयोनित्वम् । कुतः ? अज्ञानियों को प्रकृति, जीव आदि भी ब्रह्म रूप से समझ में आते हैं किन्तु उनका शास्त्र योनित्व निश्चित नहीं होता । क्योंकि—

ॐ तत्तु समन्वयात् ॐ ।१।१।१।४।।

अन्वय उपपत्त्यादिलिङ्गम् । उक्तं च बृहत्संहितायां—

"उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ।।" इति ।

उपक्रमादितात्पर्यलिङ्गैः सम्यङ्निरूप्यमाणे तदेव शास्त्रगम्यम् ।
मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्योपोह्य इत्यहम् ।
इत्यस्य हृदयं साक्षान्नान्यो मद्वेद कश्चन ।।"इति भागवते ।

अन्वय उपपत्ति आदि सारे लिंगों से मुख्य ब्रह्म ही शास्त्र से निश्चित होता है ! जैसा कि बृहत्संहिता उन लिंगों से ही तात्पर्य निर्णय बतलाया गया है—"उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वताफल, अर्थवाद और उपपत्ति ही तात्पर्य के लिंग हैं।" उपक्रम आदि तात्पर्य निर्णायक लिंगों से भली-भाँति निरूपण करने पर मुख्य ब्रह्म ही शास्त्रगम्य निश्चित होता है। "शास्त्रों में मुझे ही तत्त्व रूप से निर्णय और नियत किया गया है, उनमें अनेक रूप से और तर्क द्वारा स्थापित करने योग्य भी एकमात्र मैं ही हूँ, इन श्रुतियों का मैं ही, हृदय हूँ, मेरे अतिरिक्त किसी और को मत जानो "ऐसा भागवत का भी भगवद् वाक्य है।

ननु "यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् "अवचनेनैव प्रोवाच यद्वाचानभ्युदितम्, येन वागभ्युद्यते यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्" इत्यादेर्न तच्छब्दगोचरम्। नेत्याह—

'जिसे न पाकर मन सहित वाणी लौट आती है" वह अशब्द अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, नित्य, और अगन्ध है "वह अकथ्य है उसे वाणी से कहना कठिन है, वाणी जिससे प्रकट होती है जो श्रोत्र से नहीं सुनता, जिससे ये श्रोत्र सुनते हैं" इत्यादि श्रुतियों में तो उसकी शब्द गोचरता का निषेध किया गया है। इस तर्क का खण्डन करते हुए कहते हैं—

५ अधिकरण

ॐ ईक्षतेर्नाशब्दम् ॐ ।१।१।१।५।।

"स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते आत्मन्येवात्मानं पश्येत्", विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत् "इत्यादिवचनैरीक्षणीयत्वाद्वाच्यमेव । औपनिषदत्वान्नावचनेनेक्षणम् ।

"सर्वे वेदा यत्पदमामनंति, तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति ।
"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेवचाहम् ।।"
"इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्च । अवाच्यत्वादिकं त्वप्रसिद्धत्वात्

न तदीदृगिति ज्ञेयं न वाच्यं न च तर्क्यते ।
पश्यंतोऽपि न पश्यन्ति मेरो रूपं विपश्चितः ।। इतिवत् ।"
"अप्रसिद्धेरवाच्यं तद् वाच्यं सर्वागमोक्तितः ।
अतर्क्यं तर्क्यमज्ञेयं ज्ञेयमेवं परं स्मृतम् ।।"
इति गारुडे । न चाशब्दत्वमितरसिद्धम् ।

"वह, इस जीव से भी पर हृदय की गुफा में स्थित पुरुष को ईक्षण करता है" आत्मा में ही आत्मा को देखो "उसे जानने के लिए प्रज्ञा करनी चाहिए" इत्यादि श्रुतियों से परमात्मा का ईक्षणीयत्व निश्चित होता है, अतः वही वाच्य है। "सारे वेद जिस पद को प्राप्त करते हैं" "सारे तप उसी के लिए कहे गए हैं", समस्त वेदों से मैं ही वेद्य हूँ, वेदांत मर्मज्ञ मुझे ही वेद्य कहते हैं" इत्यादि श्रुति स्मृतियों से औपनिषत् तत्त्व निश्चित होता है, अतः ईक्षण को अकथ्य नहीं कह सकते। परमात्मा के अवाच्यत्व आदि जो गुण हैं वह अप्रसिद्ध हैं, जैसे कि—"वह ऐसा नहीं है न ज्ञेय है, न वाच्य है, न तर्क्य है, इस प्रकार बुद्धिमान लोग मेरु के रूप बने देखते हुए भी नहीं देखते।" इत्यादि में मेरु के सम्बन्ध में ऊहापोह होता है वही बात परमात्मा के सम्बन्ध में भी है। जैसा कि गरुड़ पुराण में स्पष्ट कहते भी हैं कि—"उसकी अप्रसिद्ध अकथ्यता को समस्त श्रुतियों के वचन, कथ्य सिद्ध कर देते हैं, तथा अतर्क्य को तर्क्य, अज्ञेय को ज्ञेय बतलाते हैं।" इसलिए परमात्मा को न तो अशब्द कह सकते हैं और न उसके अतिरिक्त किसी और को शास्त्र सम्मत कह सकते हैं।

ॐ गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॐ ।१।१।१।६।।

न च गौण आत्मा दृश्यो वाच्यश्च निर्गुण इति युक्तम्। आत्मशब्दात्।

"यो गुणैः सर्वतो हीनो यश्च दोषविवर्जितः ।
हेयोपादेयरहितः स आत्मेत्यभिधीयते ।।
एतदन्यस्वभावो यः सोऽनात्मेति सतां मतम् ।
अनात्मन्यात्मशब्दस्तु सोपचारः प्रयुज्यते ।।"

इति वामने । "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे आत्मा चैवानात्मा च,

तत्र यः स आत्मा, स नित्यो शुद्धः केवलो निर्गुणश्च । अथ ह यो अनीदृशः सोऽनात्मा ।'' इति तलवकारब्राह्मणम् । न च मुख्ये सत्यमुख्यं युज्यते ।

शास्त्रों का वाच्य गौण आत्मा है, जो कि दृश्य और निर्गुण नहीं है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि शास्त्रों में तत्त्व को आत्मा कहा गया है। वामन पुराण में आत्म अनात्म का भेद स्पष्ट किया गया है कि—'जो गुणों से रहित, दोष रहित, हेय और उपादेय से रहित है उसे ही आत्मा कहते हैं, इससे विपरीत स्वभाव वाला, बुद्धिमानों की दृष्टि में अनात्म है। जहाँ अनात्म में आत्मा शब्द का प्रयोग किया भी गया है वह औपचारिक है।'' ''ब्रह्म के, अनात्मा और आत्मा दो रूप हैं, उनमें जो आत्मा है वह नित्य, शुद्ध, केवल और निर्गुण है, जो इन विशेषताओं से रहित है वह अनात्मा है।'' ऐसा तलवकार ब्राह्मण का वैदिक मत भी है। इसलिए मुख्य आत्मा की वाच्यता सिद्ध है, अमुख्य आत्मा की कल्पना करना ठीक नहीं है।

ॐ तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॐ ।१।१।१।७।।

न हि गौणात्मनिष्ठस्य मोक्षः ।

''यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मा अस्मिन् संदोहे गहने प्रविष्टः ।''
स विश्वकृत् स हि सर्वस्य कर्त्ता तस्य लोकः स उलोक एव ।।''

''इत्यात्मनिष्ठस्य मोक्ष उपदिश्यते । अयमात्मा ब्रह्म ।''

''ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्यते ।''
दत्तं दुर्वाससं सोमं आत्मेशब्रह्मसम्भवान् ।
चेतनस्तु द्विधा प्रोक्तो जीव आत्मेति च प्रभो ।
जीवा ब्रह्मादयः प्रोक्ता आत्मैकस्तु जनार्दनः ।।
इतरेष्वात्मशब्दस्तु सौपचारः प्रमुज्यते ।
तस्यात्मनो निर्गुणस्य ज्ञानान्मोक्ष उदाहृतः ।।
सगुणास्त्वपरे प्रोक्तास्तज्ज्ञानान्नैव मुच्यते ।
परो हि पुरुषो विष्णुस्तस्मान्मोक्षस्ततः स्मृतः ।।''

इति पाद्मे ।

''इस सच्चिदानन्द घन परमात्मा में घुस कर जो जान लेता है वही प्रतिबुद्ध होता है, वह परमात्मा ही समस्त विश्व का कर्त्ता, वही सब का आधार है, उसे ही सब प्राप्त करते हैं।'' इत्यादि श्रुति में आत्मनिष्ठ जीव का मोक्ष बतलाया गया है। यह आत्मा ही ब्रह्म है। इसे ही ''ब्रह्म परमात्मा और भगवान शब्द से पुकारा जाता है'' जैसा कि पद्म पुराण में स्पष्ट उल्लेख भी है—''दत्त दुर्वासा और सोम, आत्मा और ईश ब्रह्मा के अंश से प्रकट हुए हैं। चेतन, जीव और आत्मा नाम से दो प्रकार का है। ब्रह्मा आदि सब जीव कहे जाते हैं, आत्मा तो एकमात्र जनार्दन ही हैं। अन्यों के लिए जो आत्म शब्द का प्रयोग होता है वह औपचारिक है। उस निर्गुण आत्मा के ज्ञान से ही मोक्ष बतलाया गया है। उनके अतिरिक्त सब सगुण हैं, उनके ज्ञान से मोक्ष नहीं होता। परम पुरुष विष्णु ही हैं, उन्हीं से मोक्ष बतलाया गया है।''

ॐ हेयत्वावचनाच्च ॐ ।१।१।५।८।।

''तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ, अमृतस्यैष सेतुः'' इत्यन्येषां हेयत्ववचनादस्याहेयत्ववचनान्न गौण आत्मा ।

''एक मात्र उस आत्मा को ही जानो, और को कहना छोड़ दो'' यही अमृत का आधार सेतु है इत्यादि श्रुतियों से अन्यों की हेयता और इस परमात्मा की अहेयता निश्चित होती है। इसलिए शास्त्र प्रतिपाद्य आत्मा गौण नहीं है।

ॐ स्वाप्ययात् ॐ ।१।१।५।९।।

''पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते, पूर्णस्य पूर्णमादय पूर्णमेवावशिष्यते ।'' स आत्मन आत्मानमुद्धृत्यात्मन्येव विलापयत्यथात्मैव भवति ।

''स देवो बहुधा भूत्वा निर्गुणः पुरुषोत्तमः ।
एकीभूय पुनः शेते निर्दोषो हरिरादिकृद् ।।''

इति स्वस्यैव स्वस्मिन्नप्ययवचनात् । न हि गौणात्मनि निर्दोषस्य लयः ।

''वह परब्रह्म सब प्रकार से पूर्ण है, यह जगत भी पूर्ण ही है, क्योंकि उस पूर्ण से ही यह पूर्ण उत्पन्न हुआ है, पूर्ण के पूर्ण को निकाल लेने पर भी पूर्ण ही

बच रहता है।" वह आत्मा से आत्मा को निकाल कर आत्मा में ही विलीन कर लेता है, और पुनः सब आत्मा ही हो जाता है। "वह निर्गुण देव पुरुषोत्तम, अनेक होकर, पुनः एकीभूत होकर सोता है, वह निर्दोष हरि ही सृष्टि कर्त्ता है।" इत्यादि में अपने को ही अपने में लीन करने का वर्णन किया गया है इससे शास्त्र प्रतिपाद्य परमात्मा की ही सिद्धी होती है। गौण आत्मा में निर्दोष ब्रह्म का लय संभव नहीं है।

न च कासु चिच्छाखास्वन्यथोच्यते—

किसी भी श्रुति में उक्त सिद्धान्त के विपरीत कोई दूसरा उल्लेख नहीं मिलता।

ॐ गतिसामान्यात् ॐ ।१।१।५।१०।।

"सर्वे वेदा युक्तयः सुप्रमाणा ब्राह्मं ज्ञानं परमं त्वेकमेव।
प्रकाशयन्ते न विरोधः कुतश्चिद्, वेदेषु सर्वेषु तथेतिहासे ।।"

इति पौङ्गिलश्रुतेर्गतेर्ज्ञानस्य साम्यमेव।

"सभी वेद, युक्तियां, सारे प्रमाण एकमात्र परम ब्रह्म ज्ञान को ही प्रकाशित करते हैं, वेद इतिहास आदि में कहीं भी इस विषय में मतभेद दृष्टि गोचर नहीं होता।" यह श्रुति, ज्ञान साम्य का ही उल्लेख करती है।

ॐ श्रुतत्वाच्च ॐ ।१।१।५।११।।

"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।।"

इति, न ह्यशब्दः श्रूयते, न चाप्रसिद्धं कल्प्यम्। सर्वशब्दावाच्यस्य लक्षणायुक्तेः।

"वह एक देव ही समस्त भूतों में छिपा है, वह सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी, कर्माध्यक्ष, सर्वभूताधिवास, साक्षी चेता केवल और निर्गुण है।" इत्यादि श्रुति स्पष्टतः उस आत्मा का उल्लेख कर रही है इसलिए उसे अशब्द नहीं कह सकते और न अप्रसिद्ध की कल्पना ही कर सकते हैं। वह सर्वशब्द से वाच्य है, यहाँ लक्षणा करना ठीक नहीं है।

६ अधिकरण

तमेव समन्वयं प्रकटयत्यानन्दमयोऽभ्यासादित्यादिना समस्तेनाध्यायेण प्रायेण। प्रायेणान्यत्र प्रसिद्धानां शब्दानां परमात्मनि समन्वयः प्रदर्श्यतेऽस्मिन् पादे। नान्यथा तददृष्टेः। ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्येत्युक्तम् तच्च ब्रह्म, "ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा" इत्यानन्दमयावयवरूपं प्रतीयते न हि अवयविनं विनाऽवयवमात्रस्य ज्ञेयतेत्यत आह—

आनन्दमयोऽभ्यासात् इत्यादि से उनमें ही समन्वय दिखलाया गया है, प्रायः पूरा अध्याय ही समन्वय दिखला रहा है। इस पाद में अन्यत्र प्रसिद्ध शब्दों का परमात्मा में समन्वय दिखलाया गया है। इसलिए ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्य है। "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इस वाक्य से तो आनन्दमय के अवयव के रूप में ब्रह्म की प्रतीति हो रही है, अवयवी के बिना केवल अवयव की ज्ञेयता तो कहीं होती नहीं, इसका उत्तर देते हैं—

ॐ आनन्दमयोऽभ्यासात् ॐ ।१।१।६।१२।।

आनन्दमयो ब्रह्मादिः प्रकृतिर्विष्णुर्वा। ब्रह्मशब्दाद् हिरण्यगर्भस्य प्राप्तिः शतानन्दनाम्ना च। अष्टमूर्तित्वात् सूर्ये प्रोक्तत्वाच्च रुद्रस्य एवमन्येषामपि। "मम योनिर्महद्ब्रह्म" इति ब्रह्मशब्दाद्बहु भावाच्च प्रकृतेः। बृहजातिजीवकमलासनशब्दराशिष्विति ब्रह्मशब्दादेव सर्वजीवानां अन्नमयत्वादेश्च। तथापि न त आनन्दमयशब्देनोच्यन्ते। किन्तु विष्णुरेव। "तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्" एतमेव ब्रह्मेत्याचक्षते "ब्रह्मशब्दः परे विष्णौ नान्यत्र क्वचिदिष्यते, असंपुर्णाः परे यस्मादुपचारेण वा भवेत्।

"ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।
वासुदेवात्मकं ब्रह्म मूलमंत्रेण वा यतिः ।।"

इत्यादिषु तस्मिन्नेव प्रसिद्धब्रह्मशब्दभ्यासात्।

संशय होता है कि आनन्दमय शब्द ब्रह्मा आदि जीव के लिए आया है या प्रकृति अथवा विष्णु के लिए। जीव से सौगुना आनन्द ब्रह्मा का है इस प्रसंग में

ब्रह्म शब्द से हिरण्यगर्भ का भी बोध होता है अष्ट मूर्तियों में सूर्य और रुद्र को भी ब्रह्म शब्द से उल्लेख किया गया है, इसी प्रकार और औरों के लिए भी। "मम योनिर्महद् ब्रह्म" इत्यादि में ब्रह्म शब्द बहुभाव की दृष्टि से प्रकृति का वाचक है। बृह धातु जाति, जीव, कमलासन, शब्दराशि आदि अर्थों में प्रयुक्त होती है। अतः ब्रह्म शब्द से ये सभी प्रसिद्ध हैं। सर्व अन्नमयता आदि भी ब्रह्म शब्द से प्रसिद्ध हैं। फिर भी ये शब्द आनन्दमय शब्द से वाच्य नहीं है विष्णु ही वाच्य हैं : "वही सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म है" 'इसे ही ब्रह्म कहते हैं" ब्रह्म शब्द विष्णु में ही घटता है किसी अन्य में नहीं क्योंकि इनके अतिरिक्त सब अपूर्ण है, अतः उनके लिए गौण रूप से ब्रह्म शब्द का प्रयोग होता है" इन्हें ही ब्रह्म, परमात्मा, भगवान कहते हैं "ब्रह्म वासुदेवात्मक है, मूलमंत्र से इसी का जप किया जाता है" इत्यादि में विष्णु के लिए ही बार-बार ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया गया है।

ॐ विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॐ ।१।१।६।१३।।

विकारात्मकत्वात्तदभिमानित्वाच्च युज्यते प्रकृत्यादीनां मयट्-शब्दः । न तु परमात्मन इति माभूत् । प्रचुरानन्दत्वाद् हि आनन्द-मयः । न तु तद्विकारत्वात् । अन्नादीनां च प्राचुर्य्यमेव । अद्यतेऽत्ति च इति व्याख्यानात् तत् प्राचुर्यं च युज्यते । उपजीव्यत्वमेवाद्यत्वम् । स वा एष इत्यन्यप्रारम्भात् । "येऽन्नं ब्रह्मोपासते "इत्यादि ब्रह्म-शब्दाद्बहुरूपत्वाच्च न विकारित्वमविरोधश्च । न च पृथक्कल्पना युक्ता स्वरूपे च युज्यते प्रचुरप्रकाशो रविरितिवत् ।

मयट् प्रत्यय विकारार्थक भी होता है, प्रकृति आदि विकारात्मक हैं अतः यह इनमें सही अर्थ में घटता है, परमात्मा के लिए इसका प्रयोग हो ऐसा समझ में नहीं आता, ऐसा नहीं कह सकते। मयट् प्रत्यय प्राचुर्यार्थक भी होता है, प्रचुर आनन्द स्वरूप होने से आनन्दमय ब्रह्म ही है, इसमें विकार अर्थ नहीं है यह शब्द आनन्द के विकार का बोधक नहीं है। अन्नमय इत्यादि में भी प्राचुर्यार्थक हो है। "अद्यते अत्ति चेति अन्नः" इस व्याख्या के अनुसार उसमें प्राचुयार्थ सही भी है। अन्न उपजीव्य है इसलिये सर्वप्रथम अन्नमय का वर्णन किया गया है। "स वा एष" इत्यादि से अन्न का प्रारम्भ किया गया है। "येऽन्नं ब्रह्मोपासते" इत्यादि में किये गये ब्रह्म शब्द के प्रयोग से तथा बहुरूपता से ब्रह्म शब्द की

विकारता सिद्ध नहीं होती। इसमें पृथक् कल्पना करना भी उचित नहीं है, जैसे कि सूर्य में प्रचुर प्रकाश होता है वैसे ही ब्रह्म के स्वरूप में प्राचुर्य है।

ॐ तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॐ ।१।१।६।१४।।

"को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्याद्" इति ।

"यदि यह आनन्दस्वरूप आकाश की भांति परमात्मा न होता तो कौन जीवित रह सकता, कौन प्राणों की क्रिया कर सकता" इत्यादि में उसके हेतु का स्पष्ट व्यपदेश किया गया है।

ॐ मांत्रवर्णिकमेव च गीयते ॐ ।१।१।६।१५।।

"ब्रह्मविदाप्नोति परम् "इति सूचयित्वा "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति मंत्रवर्णोपलक्षितं परमेव ब्रह्मशब्दानुसंधानाद् गीयते न चावयवत्व-विरोधः । "स शिरः स दक्षिणः पक्षः स उत्तरः पक्षः स आत्मा स पुच्छम् "इति तस्यैवावयवोक्तेश्चतुर्वेदशिखायाम् ।

"शिरो नारायणः पक्षो दक्षिणः सव्य एव च ।
प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च संदोहो वासुदेवकः ।।
नारायणोऽथ संदोहो वासुदेवः शिरोऽपि वा ।
पुच्छं संकर्षणः प्रोक्त एक एव तु पंचधा ।।
अंगांगित्वेन भगवान् क्रीडते पुरुषोत्तमः ।
ऐश्वर्यान्न विरोधश्च चिन्त्यस्तस्मिन् जनार्दने ।।
अतर्क्ये हि कुतस्तर्कस्त्वप्रमेये कुतः प्रमा ।।"

इति बृहत्संहितायां रसशब्देन विशेषणात्तत्सारभूतं चिन्मात्रमेवोच्यते । इदमिति च दृश्यमानसन्निहितत्वात् ।

"अनन्योऽप्यन्यशब्देन तथैको बहुरूपवान् ।
प्रोच्यते भगवान् विष्णुरैश्वर्यात् पुरुषोत्तमः ।।"

इति ब्रह्माण्डे । न चोक्तप्राप्त्या विरिञ्चादिरुच्यते ।

"ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म को प्राप्त करता है" ऐसा बतलाकर "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि मंत्र के अक्षरों से उपलक्षित परमब्रह्म को ही शब्दानुसंधान से निश्चित किया गया है। उसके अवयवत्व का भी विरोध नहीं होता; चतुर्वेद शिखा में समस्त अवयवों को उन्हीं का रूप बतलाया गया है जैसे—"वह शिर है, वह दक्षिण पक्ष है, वह उत्तर पक्ष है, वही आत्मा है, वह पुच्छ है।" बृहत् संहिता में तो और भी स्पष्ट कहा गया है—"शिर भगवान नारायण हैं, दक्षिण और उत्तर पक्ष, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध हैं, पूरा शरीर वासुदेव हैं, या यों समझे कि नारायण पूरे शरीर हैं वासुदेव शिर हैं, पुच्छ संकर्षण हैं, इस प्रकार वह एक ही पाँच रूपों से अंगांगि भाव से भगवान पुरुषोत्तम लीला करते हैं। यह चिन्तन के लिए उनका ऐश्वर्यमय रूप है इसलिए उन जनार्दन में कोई विरुद्धता नहीं है, वे अतर्क्य और अप्रमेय हैं, उनमें तर्क और प्रमा कैसे संभव है।" रस शब्द से जो ब्रह्म को संबोधित किया गया है, वह उनके साररूप चिन्मात्र का बोधक है, उनका यही रूप दृश्यमान होता है और जीव के अधिक निकट से अनुभूत होता है। ब्रह्माण्ड पुराण का मत है कि—"वह अनन्य होते हुए भी अन्य शब्द से जाना जाता है क्योंकि वह एक होते हुए भी अनेक रूपों वाला है, भगवान पुरुषोत्तम विष्णु की यह अनेकता उनके ऐश्वर्य की परिचायक है।" सूत्रस्थ चकार के प्रयोग से बतलाते हैं कि प्रद्युम्न आदि की तरह ब्रह्मा इत्यादि भी उन्हीं के रूप हैं।

ॐ नेतरोऽनुपपत्तेः ॐ।१।१।६।१६॥

न ह्यन्यज्ञानान्मोक्ष उपपद्यते—"तमेवं विद्वानमृत इह भवति, नान्यः पन्था अयनाय विद्यते" इति ह्युक्तम्।

विष्णु के अतिरिक्त किसी अन्य के ज्ञान से मोक्ष नहीं होता, "उन्हें इस प्रकार से जानने वाले इस लोक में ही अमृत हो जाते हैं, परमपद की प्राप्ति के लिए कोई दूसरा मार्ग नहीं है" इत्यादि में स्पष्ट रूप से विष्णु को ही ज्ञेय और मोक्षदायक बतलाया गया है।

ॐ भेदव्यपदेशाच्च ॐ।१।१।६।१७॥

"ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः, अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोभयं गतो भवति, स यश्चायं पुरुषः" इत्यादि भेदव्यपदेशात्। न च "तत्त्वमसि" "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि-

श्रुति विरोधः। "नामानि सर्वाणि यमाविशन्ति" इति तच्छब्दवाच्यत्वोक्तेः। "इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो यतो जगत्स्थाननिरोधसंभवः" "असर्वः सर्वं", इत्यपि। त्रिद्यात्मनि भिदा बोधः। "भेददृष्ट्याभिमानेन निःसंगेनापि कर्मणा", जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः, असर्वः सर्वं इवात्मैव सन्नात्मेव प्रत्यङ्पराङ्विवैक ईयते बहुधेयते स ईश्वरः स ब्रह्म, "सर्वान्तर्योमिको विष्णुः सर्वनाम्नाऽभिधीयते", एषोऽहं त्वमसौ चेति न तु सर्वं स्वरूपतः नैतदिच्छान्ति पुरुषमेकं कुरुकुलोद्वह "इत्यादेश्च। उक्ता च प्राप्तिः।" ब्रह्मैव सन्। इत्यपि जीव एव ब्रह्मशब्दः। उपपद्यते च विरोधे। प्रमादात्मकत्वाद्बन्धस्य। विमुक्तत्वं च युज्यते। "मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः" इति हि भागवते।

"वे जो प्रजापति के एक सौ आनन्द हैं, वह ब्रह्मा का एक आनन्द है" "अदृश्य, अनात्म्य, अनिरुक्त, अनिलय में अभय प्राप्त करता है" वह दोनों मार्गों से प्राप्त है, इत्यादि श्रुतियों में भेद दिखलाया गया है इससे भी ब्रह्म की महत्ता निश्चित होती है। "तत्वमसि" "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि अभेदात्मक श्रुतियों से विरुद्धता भी नहीं होती, क्योंकि—"सारे नाम जिसमें समा जाते हैं" श्रुति सबको उन्हीं का रूप बतलाती है। "यह विश्व भगवान के दूसरे रूप के समान ही है क्योंकि वे प्रभु जगत् के आधार हैं उन्हीं में जगत् का निरोध होता है।" वह असर्व सर्व है "इसमें भी वही बात कही गयी है। भेद दृष्टि रखना ही (अज्ञान) है।" भेद दृष्टि की अहमीयता अनासक्त कर्म से छूट सकती है। "अन्य सारे विश्व का जब इस परमात्मा में अभेद दर्शन करता है तो उसकी महिमा को जानकर वीतशोक हो जाता है।" वह असर्व आत्मा ही सब कुछ अनेक होता है वही ईश्वर वही ब्रह्म है। "सर्वान्तर्यामी विष्णु ही सब नामों से पुकारे जाते हैं मैं तुम यह इत्यादि भेद उनमें नहीं हैं क्योंकि वह सर्वस्वरूप हैं, उस एक पुरुष में ये सारी भिन्नतायें नहीं हैं।" इत्यादि से भी विरुद्धता का परिहार हो जाता है। उनकी प्राप्ति की बात "अदृश्येऽनात्म्ये" आदि में कही ही गई है। "ब्रह्मैव सन्" श्रुति मे भी जीव को ही ब्रह्म शब्द से बतलाया गया है। विरुद्धता मानने पर भ्रम होता है, यह भाव प्रमादात्मक होता, यही बन्धन का कारण होता है। इसलिए इस

प्रमादात्मक भाव से छूटना ही उचित है। जैसा कि भागवत में स्पष्ट कहा भी है- "अन्यथारूप को छोड़ कर स्वरूप में व्यवस्थित हो जाना ही मुक्ति है।"

न च तत्तदनुमानविरोधः अनुमानों से भी विरुद्धता नहीं होगी।

ॐ कामाच्च नानुमानापेक्षा ॐ ।१।१।६।१८॥

यथाकामं हि अनुमातुं शक्यते। अतो न तत्त्वे पृथगनुमानमपेक्ष्यते, उक्तं च स्कान्दे।

"यथाकामानुमा यस्मात्तस्मात्साऽनपगा श्रुतेः।
पूर्वापराविरोधाय चेष्यते नान्यथा क्वचित्॥"

इति "नैषा तर्केणमतिरापनेया" इति च।

इसमें स्वेच्छापूर्वक जैसा चाहें वैसा अनुमान कर सकते हैं, स्कन्द पुराण में कहा भी है "जिस श्रुति से अर्थावबोध न होता हो उसमें पूर्वापर प्रसंगानुसार अनुमान कर लेना चाहिये, प्रसंग में विरुद्धता नहीं होनी चाहिये, उससे कोई हानि नहीं होगी। "इसमें तर्क मति नहीं करनी चाहिये।" इस श्रुति से भी उक्त मत की पुष्टि होती है।

ॐ अस्मिन्नस्य च तद् योगं शास्ति ॐ ।१।१।६।१९॥

अस्य जीवस्य, युक्तिसमुच्चये चशब्दः "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता", "अनिलयने अभयं प्रतिष्ठां विदन्ते", "एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति" इत्यादि।

इस जीव का परमात्मा के साथ योग का स्पष्ट उल्लेख है वह ब्रह्म के साथ समस्त कामनाओं का भोग करता है, उस अनिलय में निर्भय प्राप्त करता है, इस आनन्दमय में अपने को मिला देता है।" इत्यादि।

७ अधिकरण

अदृश्येनात्म्य इत्युक्तम्, तच्चादृश्यत्वम् "अन्तः प्रविष्टं कर्त्तारमेतमन्तश्चन्द्रमसि मनसा चरन्तम्, सहैवसन्तं न विजानन्ति देवाः" इत्यन्तस्थस्य कस्यचिदुच्यते। "स चेन्द्रो राजा सप्त युञ्जन्ति" इत्यादिभिरन्यः प्रतीयते तस्मात् स एवानन्दमय इति न मन्तव्यम्।

अदृश्य होने का तात्पर्य आत्मा से है, उसके अदृश्यता का वर्णन अन्तस्थ आत्मा के रूप में किसी शाखा में इस प्रकार किया गया है—"अन्तः प्रविष्ट इस कर्त्ता को जो कि चन्द्रमा के अन्दर मनरूप से चल रहा है, साथ रहते हुए भी देवता नहीं जान पाते।"

"सचेन्द्रो राजा सप्त युञ्जन्ति" इत्यादि में किसी अन्य अन्तर्यामी की प्रतीति हो रही है, इसलिए केवल ब्रह्म ही आनन्दमय है ऐसा नहीं मानना चाहिये, ऐसा संशय किया गया उसपर सूत्रकार कहते हैं—

ॐ अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॐ ।१।१।७।२०॥

अन्तः श्रूयमाणो विष्णुरेव "समुद्रेऽन्तः कवयो विचक्षते", अन्तः समुद्रे मनसा चरन्तम्; "ब्रह्मान्वविन्दद्दश होतारमर्णे", मरीचीनाम्पदमिच्छन्ति वेधसः, "यस्याण्डऽकोशँशुष्ममाहुः" इत्यादितद्धर्मोपदेशात्। सहि क्षीरसमुद्रशायी, तस्य च वीर्यमण्डकोशः।

"सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सृसिक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत्॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
यस्मिन्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥
आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥

इति व्याससमृतौ। "अहं तत्तजोरश्मीन्नारायणं पुरुषं जातमग्रतः पुरुषात् प्रकृतिर्जगदण्डम्" इति च चतुर्वेदशिखायाम्।

अन्तर्यामी रूप से विष्णु का ही उल्लेख है "समुद्रेऽन्तः कवयो," अन्तःसमुद्रे मनसा,", ब्रह्मान्वविन्द, "मरीचीनां पदम्" "यस्याण्डकोशँ" इत्यादि श्रुतियों में विष्णु के धर्मों का ही उल्लेख किया गया है, वह विष्णु ही क्षीरसमुद्रशायी हैं और उन्हीं का ब्रह्माण्ड कोश है, व्याससमृति में इसका स्वष्ट वर्णन किया गया है—"उसने प्रवल कामना से अपने शरीर से विविध प्रजा की सृष्टि करने की इच्छा से सर्वप्रथम जल की सृष्टि की, उसमें अपने तेज का आधान किया जिससे सूर्य के समान प्रकाशमान सुवर्ण का गोला प्रकट हुआ उसमें से

प्रभुरिति प्रियत्वादिभिः वाक्याः यन्तु आनन्दमयो आत्मा

समस्त लोक के पितामह ब्रह्मा प्रकट हुये। जल को नार कहते हैं, जल ही नर को सृष्टि कर्त्ता हैं, वह आप सृष्टि के पूर्व उस ब्रह्म का निवास स्थान है इसीलिए उन्हें नारायण कहते हैं। "चतुर्वेद शिखा में भी इसी प्रकार का उल्लेख है—प्रदीप्त रश्मियों वाले नारायण से विराट् पुरुष सर्वप्रथम हुआ उस पुरुष से प्रकृति जगदण्ड के रूप में हुई।"

ॐ भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॐ ।१।१।७।२१॥

"इन्द्रस्यात्मा निहितः पंचहोता वायोरात्मानं कवयो निचिक्युः ।
अन्तरादित्ये मनसा चरन्तं देवानां हृदयं ब्रह्मान्वविन्दान् ॥"
इत्यादि भेदव्यपदेशात् ।

"इन्द्र की आत्मा में निहित, वायु के आत्मा, आदित्य के अन्तःकरण में मनरूप से संचरित, देवताओं के हृदय उस ब्रह्म को साधक लोग जानते हैं" इत्यादि में स्पष्ट रूप से भेद दिखलाया गया है।

८ अधिकरण

"को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" इत्थाकाशस्यानन्दमयत्वे हेतुरुक्तः, न तु विष्णोरिति न मन्यव्यम् यतः

"यदि इस आकाश का आनंद न होता तो कौन जीवित रहता कौन प्राणों की क्रिया कर सकता" इत्यादि में तो आकाश की आनंदमयता बतलाई गई है, विष्णु की तो चर्चा भी नहीं है, इत्यादि मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि—

ॐ आकाशस्तल्लिंगात् ॐ १।१।८।२२॥

"अस्य लोकस्य का गतिः ? इत्याकाश इति होवाच" इत्यत्र भूताकाशस्य प्राप्तिः। न चासौ युज्यते, किन्तु विष्णुरेव "स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः" इत्यादि तल्लिङ्गात्। "विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि, परो मात्रया तन्वा-वृधान" इत्यादिना तस्यैव हि तल्लिगम् ।

"अनन्तो भगवान् ब्रह्म आनन्देत्यादिभिः पदैः ।
प्रोच्यते विष्णुरेवैकः परेषामुपचारतः ॥"

इति ब्राह्मे "नामानि सर्वाणि यमाविशन्ति" इति चोक्तम् ।

"इस लोक की गति कौन है ? इस पर उत्तर मिला आकाश" इत्यादि में तो भूताकाश की प्रतीति होती है, ऐसा विचार भी ठीक नहीं इसमें भी विष्णु का ही वर्णन है क्योंकि इस बर्णन में कहा गया है कि—"यह महान् से महान् गाने योग्य है, यह सर्वथा असीम है" इत्यादि, ये विशेषताएँ विष्णु की ही हो सकती हैं। "विष्णोर्नुक वीर्याणि" इत्यादि मंत्र में वही विशेषताएँ विष्णु नाम देकर स्पष्ट रूप से बतलाई गई हैं। पद्मपुराण में भी आया है कि—"अनन्त, भगवान, ब्रह्म आनन्द, इत्यादि पदों से उसी एक विष्णु का उल्लेख किया गया है, ये शब्द जहाँ विष्णु के अतिरिक्त किसी अन्य के लिए आये हैं" वह औपचारिक हैं। "सारे नाम जिसमें समा जाते हैं" ऐसी श्रुति है ही।

९ अधिकरण

ॐ अत एव प्राणः ॐ १।१।९।२३॥

"तद् वै त्वं प्राणो अभवः महान्भोगः प्रजापतेः भुजः करिष्यमाणः यद्देवान् प्राणयो न" इति महाभोगशब्देन परमानन्दत्वं प्राणस्योक्तं, स च प्राणः प्रसिद्धेर्वायुरित्यापतति, न चैवं, यतो विष्णुरेव प्राणः, अत एव "श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ अहोरात्रे पार्श्वे" इत्यादि तल्लिगादेव

"तद् वै त्वं प्राणो अभवः महान्भोगः" इत्यादि ऋचा में महाभोग शब्द से प्राण का परमानन्दत्व बतलाया गया है, वह प्राण, प्रसिद्ध प्रण वायु का द्योतक है, ऐसी बात नहीं है, विष्णु ही प्राण हैं उस प्राण की "अत एव श्रीश्च" इत्यादि श्रुति में श्री और लक्ष्मी दो पत्नी पार्श्वों में स्थित बतलाई गई हैं, यह विष्णु का ही वर्णन है।

१० अधिकरण

"यो वेद निहितं गुहायाम्" इत्युक्तम्, तच्च गुहानिहितं "विमे कर्णापतयतो विचक्षुर्वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्, विमे मनश्चरति दूर आधीः किस्विद्वक्ष्यामि किमुनू मनिष्य" इति ज्योतिरुक्तम् तच्च ज्योतिरग्निसूक्तत्वात् प्रसिद्धेश्चाग्निरेवेति प्राप्तम्—अत आह—

"जो गुहा में निहित तत्त्व को जानता है" ऐसी श्रुति है, उस गुहा में निहित तत्त्व को "विमे कर्णापतयतो" इत्यादि मंत्र में ज्योति कहा गया है, वह ज्योति अग्निसूक्त में अग्निरूप से प्रसिद्ध है, इसलिए अग्नि हीं ज्ञेय है। इस संशय पर सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

ॐ ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॐ ।१।१।१०।२४।।

विष्णुरेव ज्योतिः, कर्णादीनां विचरणाभिधानात्। स हि "परोमात्रया तन्वा वृधान" इत्यादिना कर्णादिविदूरः।

वह गुहा में निहित ज्योति विष्णु ही है क्योंकि कान आदि में उसके विचरण की चर्चा की गई है, उसे ही "परो मात्रया तन्वा वृधान" इत्यादि में कर्ण आदि से बहुत दूर भी कहा गया है।

११ अधिकरण

ॐ छन्दोभिधान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम् ॐ ।१।१।११।२५।।

"यथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यत" इत्युक्तस्य ज्योतिषो "गायत्री वा इदं सर्वम्". इति गायत्र्या समारम्भः कृतः। तस्मान्न-विष्णुरिति चेन्न। तथा चेतोऽर्पणार्थं हि निगद्यते। अग्निगायत्र्यादि-शब्दार्थरूपोऽसाविति चेतोऽर्पणार्थं हि निगद्यते, तथा हि दर्शनं 'गायति त्रायति च" इत्यादि।

"सर्वच्छन्दोभिधो ह्येष सर्वदेवाभिधोह्यसौ।
सर्वलोकाभिधो ह्येष तेषां तदुपचारतः॥"

इति वामने।

"अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते" इत्यादि में वर्णित ज्योति को गायत्री वा इदं सर्वम् "इत्यादि में गायत्री बतलाया गया है, इसलिए ज्योति पद विष्णु के लिए नहीं आया है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, ज्योति का जो गायत्री रूप वर्णन किया गया है वह चित्त की संलग्नता की दृष्टि से किया गया है, अग्नि गायत्री आदि का शब्दार्थ यह विष्णु ही है "गायति त्रायति च" इत्यादि में

स्पष्टतः बतलाया गया है सारे छन्दों के नाम, सब देवताओं के नाम, सब लोकों के नाम इन, विष्णु के ही हैं, उन छन्द आदि में तो वह औपचारिक हैं।" ऐसा वामन पुराण का वचन है।

ॐ भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॐ १।१।११।२६।।

"तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पुरूषः पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" इति। "सुवर्णकोशं रजसा परीवृतं देवानां वसु-धानीं विराजम्, अमृतस्य पूर्णान्तामुकलां विचक्षते पादं षट्होतुर्न किला-विवित्से" इति श्रुतेः। पाद इत्येकदेशपरिमितं चतुर्भागवल इतिवद्-भिन्नं च। स हि पुरुषसूक्ताभिधेयः। "यज्ञेन यज्ञमयजन्त" इति यज्ञ शब्दात्। "यज्ञो विष्णुर्देवता" इति श्रुतिः।

"तस्मिन् काले महाराजा राम एवाभिधीयते।
यथा हि पौरुषे सूक्ते विष्णुरेवाभिधीयते॥"

इति च स्कान्दे।

"इस पुरुष की महिमा उतनी ही नहीं है जितनी दीख रही है, इससे कहीं अधिक है, इसके एक चरण में सारा चराचर जगत व्याप्त है इसके तीन चरण जो कि अमृत स्वरूप हैं वे आकाश में हैं। सुवर्ण कोश और चाँदी से व्याप्त देवताओं की राजधानी सुशोभित है, अमृत से पूर्ण उस" इत्यादि श्रुति में उस विष्णु के चरणों की व्याप्ति का उल्लेख किया गया है। "एक देश परिमित चौथे भाग को पाद कहते हैं", इस प्रकार के विष्णु के पाद हैं तथा पुरुष सूक्त में कहे गए भी हैं। "यज्ञेन यज्ञमयजन्त" इत्यादि में यज्ञ शब्द से भी विष्णु का ही उल्लेख किया गया है। "यज्ञो विष्णुर्देवता" ऐसी श्रुति भी है। "जैसे कि पुरुष सूक्त में विष्णु का अर्थावबोध होता था, उस समय वही बोध महाराजा राम के लिए होता था" ऐसा स्कन्द पुराण का वचन है।

ॐ उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॐ ।१।१।११।२७।।

"त्रिपादस्यामृतं दिवि" इति पूर्वोपदेशः। "परो दिवः" इति पंचम्यन्तः पश्चिमः। तस्मान्नैकम् वस्त्वत्रोच्यते, इति चेन्न। त्रिसप्त-लोकापेक्षयोभयस्मिन्नप्यविरोधात्।

"त्रिपादस्यामृतं दिवि" ऐसा पहला उपदेश है बाद में "परो दिवः" ऐसा पंचम्यन्त उपदेश दिया गया है इसलिए दोनों में एक ही तत्त्व का उपदेश नहीं प्रतीत होता, ऐसा संशय ठीक नहीं, क्योंकि दोनों मिलाकर ही एक्कीस लोकों का वर्णन पूरा होता है इसलिए दोनों अविरुद्ध हैं।

१२ अधिकरण

प्राणो विष्णुरित्युक्तम्, तत्र "तावा एताः शीर्षन्च्छ्रीयश्श्रिता-श्चक्षुश्श्रोत्रं मनो वाक्प्राणः" इत्यत्र प्राणस्य विष्णुत्वम् न युज्यते, इन्द्रियैः समभिधानादिति—अत आह—

प्राण विष्णु ही हैं ऐसा पहिले निश्चित किया किन्तु "तावा एताः" इत्यादि श्रुति में तो प्राण का विष्णुत्व समझ में नहीं आता इसमें तो इन्द्रियों के साथ उसका उल्लेख किया गया है अतः वह प्राणवायु का ही वाचक प्रतीत होता है। इस संशय पर सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

ॐ प्राणस्तथानुगमात् ॐ ।१।१।१२।२७।।

"तं देवा प्राणयन्त स एषोऽसुः स एष प्राणः प्राणऋच इत्येव विद्यात्तदयं प्राणोऽधितिष्ठति" इत्याद्यनुगमादत्रापि प्राणो विष्णुरेव।

"विष्णुमेवानमन्देवा विष्णुम् भूतिमुपासते।
स एव सर्ववेदोक्तस्तद्रथो देह उच्यते ॥"

इति स्कान्दे, ब्रह्मशब्दानुगमाच्च।

"देवता जिससे अनुप्राणित होते हैं, वही असु और प्राण है, प्राण को ही ऋक् जानो यही प्राण सब में व्याप्त है" इत्यादि अनुगम से इस जगह भी विष्णु ही प्राणवाची निश्चित होते हैं। "विष्णु से अनुप्राणित देवता विष्णु की उपासना करते हैं, वह विष्णु ही वेदों के प्रतिपाद्य तत्त्व हैं, मनुष्य के शरीर को उनका रथ कहते हैं ऐसा स्कन्द पुराण का वचन है। ब्रह्म शब्द के अनुगम से भी उक्त बात पुष्ट होती है।

ॐ न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ॐ ।१।१।१२।२९।।

"प्राणो वा अहमस्मि" इति वक्तुरात्मोपदेशादिन्द्र एवेति चेन्न। "प्राणस्त्वं प्राणः सर्वाणि भूतानि" इति बह्वध्यात्मसम्बन्धो ह्यत्र विद्यते

"मैं प्राण हूँ" ऐसा इन्द्र ने अपने लिए प्राण का उपदेश दिया इसलिए इन्द्र प्राण है, ऐसा कहना भी असंगत है क्योंकि "तुम समस्त भूतों के प्राण हो" इत्यादि में ब्रह्म का बहुलता से अध्यात्म सम्बन्ध निश्चित किया गया है।

ॐ शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॐ ।१।१।१२।३०।।

शास्त्रमन्तर्यामी, "संविच्छास्त्रं परं पदम्" इति हि भागवते।

"तत्तन्नाम्नोच्यते विष्णुः सर्वशास्तृत्वहेतुतः।
न क्वापि किंचिन्नामास्ति तमृते पुरुषोत्तमम् ॥"

इति च पाद्मे। "अहं मनुरभवं सूर्यश्च" इत्यादिवत्।

शास्त्र अन्तर्यामी है, "शास्त्रपर पद को जानते हैं" ऐसा भागवत का वचन भी है। "उन-उन नामों से विष्णु का उल्लेख किया गया है समस्त शास्त्र के प्रतिपाद्य वही हैं" उनके अतिरिक्त कहीं भी कुछ नहीं है। "ऐसा पद्मम पुराण का भी वचन है"। ब्रह्म की सार्वभौमता "अहं मनुरभवं सूर्यश्च" ऐसे वामदेव के उपदेश के समान स्वभाव सिद्ध है।

ॐ जीवमुख्यप्राणालिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॐ ।१।१।१२।३१।।

"तावन्ति शतसंवत्सरस्याह्नां सहस्राणि भवन्ति" इति जीवलिंगम्। प्राणसंवादादि मुख्यप्राणलिंगम्। तस्मान्नेति चेन्न अन्तर्बहिः सर्वगतत्वेन इत्युपासात्रैविध्यादिहाश्रितत्वाच्च। "स एतमेव सीमानं विदार्येतया द्वारा प्रापद्यत्।" स एतमेव पुरुष ब्रह्म ततमम-पश्यत्। "एतद् ह स्म वै तद् विद्वानाह महिदास ऐतरेयः" इत्यादिना।

"महिदासाभिधो जज्ञे इतरायास्तपोबलात्।
साक्षात्स भगवान् विष्णुर्यस्तांत्रं वैष्णवं व्यधात् ॥"

इति ब्रह्माण्डे। तत्तदुपासनायोग्यतया च पुरुषाणाम्।

केषांचित् सर्वगतत्वेन केषांचिद् हृदये हरिः ।
केषांचिद्बहिरेवासावुपास्यः पुरुषोत्तमः ॥"

इति ब्राह्मे ।

"अग्नौ क्रियावतां विष्णुर्योगिनां हृदये हरिः ।
प्रतिमास्वप्रबुद्धानां सर्वत्र विदितात्मनाम् ॥"

इति च ।

"तावन्ति शतसंवरस्या" इत्यादि में जीव का तथा प्राणसंवाद आदि में मुख्य प्राण का उल्लेख है इसलिए प्राण शब्द विष्णु वाची नहीं है ऐसा संशय भी उचित नहीं है। बाहर-भीतर और सर्वव्यापक उस ब्रह्म की इन भेदों से तीन प्रकार की उपासना की जाती है "स एतमेव सीमानम्" "स एतमेव पुरुषं ब्रह्म" एतत् ह स्म वै" इत्यादि ऋचाओं में इन तीनों का वर्णन किया गया है। "राजा महिदास ने यज्ञ से तथा दूसरे ने तप के बल से भगवान् विष्णु का साक्षात् किया" ऐसा ब्रह्माण्ड पुराण का उपाख्यान भी है इनमें पुरुषों की उपासना योग्यता निश्चित होती है। "कुछ लोग सर्वव्यापक मानकर, कुछ लोग हृदय में भगवान हरि की उपासना करते हैं, कुछलोग बाहर ही पुरुषोत्तम को भजते हैं।" ऐसा ब्रह्मपुराण का वचन है। "याज्ञिक अग्नि में विष्णु की आराधना करते हैं, योगी हृदय में हरि का चिन्तन करते हैं, सब जगह परमात्मा को देखने वाले भक्त लोग प्रतिमाओं में उपासना करते हैं।" ऐसा वचन भी है।

प्रथम अध्याय—प्रथम पाद समाप्त।

प्रथम अध्याय—द्वितीयपाद

१ अधिकरण

लिङ्गात्मकानां शब्दानां विष्णौ प्रवृत्तिदर्शयत्यस्मिन् पादे प्राधान्येन। "ब्रह्म ततम्" इति सर्वगतत्वमुक्तं विष्णोः, तच्च "तस्यै तस्यासावादित्यो रसः ॥" इत्यादिना आदित्यस्य प्रतीयत इत्यतोऽब्रवीत्—

इस पाद में विशेष रूप से, लिंगात्मक शब्दों की प्रवृत्ति विष्णुपरक दिखलाते हैं। "ब्रह्म ततम्" श्रुति में विष्णु की व्यापकता कही गई है, वहीं व्यापकता "तस्यैतस्यासावादित्यो रस" इत्यादि श्रुति में आदित्य के लिए कही गई प्रतीत होती, इस संशय पर कहते हैं—

ॐ सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॐ ।१।२।१।१॥

"स यश्चायमशरीरः प्रज्ञात्मा। "इत्यादिना सर्वत्रोच्यमानो नारायण एव ॥ "तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्। "परमं यो महद् ब्रह्म,

"वासुदेवात् परः कोनु ब्रह्मशब्दोदितो भवेत्।
सहिसर्वगुणैः पूर्ण स्तदन्येतूपचारतः ॥

"इति तस्मिन्नेव प्रसिद्धब्रह्मशब्दोपदेशात्।

"स यश्चायमशरीरः प्रज्ञात्मा" इत्यादि श्रुति से तो सर्वत्र उल्लेख्य नारायण ही निश्चित होते हैं। "तदेव ब्रह्मपरमं कवीनाम्," परमं यो महद् ब्रह्म, वासुदेवात् परः को नु ब्रह्मशब्दोदितो भवेत्" इत्यादि वचनों में तो उनके लिए ही प्रसिद्ध ब्रह्म शब्द का उपदेश दिया गया है उससे उन्ही की व्यापकता सिद्ध होती है।

ॐ विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॐ ।१।२।१।२॥

"स यञ्तोऽश्रुत" इत्यादि। "स हि न ते विष्णो जायमानः" इत्यादिना अश्रुतत्वादिगुणः। "स सविता स वायुः स इन्द्रः सोश्रुतः सोदृष्टो यो हरिर्यः परमो यो विष्णुर्योऽनन्तः" इत्यादि च

चतुर्वेदशाखायाम् । न च आदित्यशब्दाच्चक्षुर्मयत्वादेश्च जीव इति वाच्यम् ।

"स योऽत्तोऽश्रुत" इत्यादि और "स हि न ते विष्णो जायमान" इत्यादि में अश्रुतत्व आदि गुणों का उल्लेख किया है। "वही सविता, वायु, इन्द्र, अश्रुत, अदृष्ट है, जो कि हरि, विष्णु परम अनन्त नाम वाला है" ऐसा चतुर्वेदशाखा में भी है आदित्य और चक्षुर्मयत्व आदि विशेषणों से उसे जीववाच्य नहीं कह सकते।

ॐ अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॐ ।१।२।१।३।।

एकस्य सर्व शरीरस्थत्वानुपत्तेरेव ।

वह अकेला ही सब शरीरों में स्थित है ऐसी विशेषता ब्रह्म की ही है, जीव में सम्भव नहीं है।

ॐ कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॐ ।१।२।१।४।।

'आत्मानं परस्मै शंसति' इत्यादि ।

"अपने को दूसरों में प्रविष्ट करता है" इत्यादि श्रुति में कर्म और कर्त्ता का स्पष्ट भेद है इसलिए भी ब्रह्म का वैशिष्ट्य सिद्ध हैं।

ॐ शब्दविशेषात् ॐ ।१।२।१।५।।

"एतमेव ब्रह्मेत्याचक्षते" इति, न हि जीवमेव ब्रह्मेत्याचक्षते "एष उ एव ब्रह्मैष उ एव सवितैष उ एव इन्द्र एष उ एव हरिर्हरति परः परानन्दः" इति च इन्द्रद्युम्नशाखायाम् ।

"इसे ही ब्रह्म कहते हैं" ऐसी श्रुति है, जीव को तो ब्रह्म कह नहीं सकते। "एष उ एव ब्रह्म" इत्यादि इन्द्रद्युम्नशाखा में हरि पर सविता इन्द्र आदि विशेषण दिये गये हैं जिससे ब्रह्म की ही प्रतीति होती है।

ॐ स्मृतेश्च ॐ १।२।१।६।।

"अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।।"

इत्यादि, न चाप्रामाणिकं कल्प्यम् ।

"हे गुडाकेश अर्जुन ! मैं समस्त भूतों के अन्तःकरण में स्थित आत्मा हूँ, पृथ्वी में प्रवृष्ट होकर मैं अपने तेज से भूतों को धारण करता हूँ" इत्यादि स्मृति भी श्रौत मत की पुष्टि करती है, इसे अप्रामाणिक तो कह नहीं सकते।

ॐ अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॐ १।२।१।७।।

सर्वेषु भूतेवित्यल्पौकस्त्वाच्चक्षुर्मयत्वादिना जीवव्यपदेशाच्च नेति चेन्न । अर्भकौकस्त्वेन चक्षुर्मयत्वादिरूपेण च तस्यैव विष्णोर्निचाय्यत्वात् । सर्वगतत्वेऽप्यल्पौकस्त्वं च युज्यते व्योमवत् ।

"सर्वेन्द्रियमयो विष्णुः सर्वप्राणिषु च स्थितः ।
सर्वनामाभिधेयश्च सर्ववेदोदितश्च सः ।।"

इति स्कान्दे ।

उक्त तत्त्व को समस्त भूतों में सूक्ष्मतर और नेत्र वाला बतलाया गया है, जो कि जीव का ही उल्लेख प्रतीत होता है, इत्यादि संशय भी असंगत है, ये दोनों ही विशेषताएँ विष्णु की हैं, क्योंकि वह वैसे ही इसमें भी है। जैसा कि स्कन्द पुराण का वचन है—"विष्णु सर्वेन्द्रियमय हैं, समस्त प्राणियों में स्थित हैं, सभी नामों से पुकारे जाते हैं और सभी वेदों में प्रतिपाद्य हैं।"

ॐ संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॐ १।२।१।८।।

जीवपरयोरेकशरीरस्थत्वे समानभोगप्राप्तिरिति चेन्न । सामर्थ्यवैशेष्यात्, उक्तं च गारुडे—

"सर्वज्ञाल्पज्ञताभेदात्सर्वशक्त्यल्पशक्तितः ।
स्वातंत्र्यपारतंत्र्याभ्यां सम्भोगो नेशजीवयोः ।।" इति ।

जीवत्मा और परमात्मा जब एक ही शरीर में स्थित हैं तो दोनों का भोग भी समान होगा, ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि दोनों के सामर्थ्य में अन्तर है, ब्रह्म में विशेष सामर्थ्य है। जैसा कि गरुड़ पुराण में स्पष्ट उल्लेख है—"सर्वज्ञ और अल्पज्ञ के भेद से एक सर्व शक्तिमान दूसरा अशक्त है, एक स्वतन्त्र दूसरा परतन्त्र है इसलिये ईश और जीव का भोग समान नहीं है।

२ अधिकरण

"जन्माद्यस्य यतः" इत्युक्तम् । तत्र अत्तृत्वं "स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत सर्वं वा अत्तीति तददितेरा दितित्वम्" इत्यदितेः प्रतीयते । "स यद्यदेवासृजत" इति पुल्लिगं च "कूटस्थोऽक्षर उच्यते" इतिवत् । अत्रोच्यते ।

"जन्माद्यस्य यतः" में जन्म स्थिति संहार सब कुछ विष्णु से ही बतलाया गया किन्तु संहार के प्रकरण में "स यद्यदेवा" इत्यादि श्रुति में जो भक्षण बतलाया गया है वह तो अदिति के लिए प्रतीत होता है "स यद्यदेवा" पद में जो पुलिंग का प्रयोग है वह तो "कूटस्थोऽक्षर उच्यते" की तरह है अतः संहार की बात विष्णु के लिए संगत नहीं होती इसका समाधान करते हैं—

ॐ अत्ता चराचरग्रहणात् ॐ ।१।२।२।९।।

न हि चराचरस्य सर्वस्यात्तृत्वमदितेः ।

"स्रष्टा पाता तथैवात्ता निखिलस्यैक एव तु ।
वासुदेवः परः पुंसामितरेऽल्पस्य वा न वा ।।"

इति स्कान्दे । "एकः पुरस्ताद्य इदं बभूव यतो बभूव भुवनस्य गोप्ता, यमप्येति भुवनं साम्पराये स नो हरिर्घृतमिहायुषेऽत्तुदेवः" इति च श्रुतिः ।

समस्त चराचर का भक्षण अदिति के द्वारा संभव नहीं है जैसा कि स्कन्द पुराण में उल्लेख भी है—"एकमात्र वासुदेव ही निखिल जगत स्रष्टा, पाता और अत्ता हैं उन परमपुरुष से भिन्न अन्य कोई थोड़ा भी करने में समर्थ नहीं हैं। वह एक ही जो पहिले के उन्हीं से यह संसार हुआ, वही भुवन के रक्षक हैं, संहार के समय यह भुवन जिनमें लीन हो जाता है, वही देव हरि इस जगत को जैसे आयु की वृद्धि के लिए घृत खाया जाता है वैसे खा जाते हैं।" ऐसी श्रुति भी हैं।

ॐ प्रकरणाच्च ॐ ।१।२।२।१०।।

अप्संवत्सरसृष्ट्यादिना तत्प्रकरणाच्च ।

"नेहासीत् किंचनाप्यादौ मृत्युरासीद् हरिस्तदा ।
सोऽमनो मनसास्राक्षीदप एव जनार्दनः ।।
शयनास्तासु भगवान्निर्ममेऽण्डं महत्तरम् ।
तत्र संवत्सरं नाम ब्रह्माणमसृजत् प्रभुः ।।
तमत्तुं व्यादादास्यं तदासौ विरुराव ह ।
अथ तत्कृपया विष्णुः सृष्टिकर्मण्ययोजयत् ।
सोऽसृजत् भुवनं विश्वं अद्यार्थं हरये विभुः ।।"

इति ब्रह्मवैवर्ते ।

अप् संवत्सर सृष्टि आदि के प्रकारण से विष्णु ही अत्ता निश्चित होते हैं, जैसा कि ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में सृष्टि प्रकारण में स्पष्ट उल्लेख है—"यह कुछ नहीं था, एकमात्र मृत्युरूप हरि ही थे, उस जनार्दन ने अपने मन से जल की सृष्टि की उस जल में शयन करते हुए भगवान् ने बड़े विशाल अण्ड की रचना की, उस अण्ड पर संवत्सर नामक ब्रह्मा की रचना की, फिर उसे खाने के लिए जब प्रभु ने अपना मुख फैलाया तो वह रोने लगा, तब कृपा करके विष्णु ने उसे सृष्टि कर्म में नियुक्त किया, उस ब्रह्मा ने, विभु परमात्मा के भोजन के लिए भुवन विश्व की रचना की।"

३ अधिकरण

सर्वात्तैकः परः उक्तः । "ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे, छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पंचाग्नयो ये च त्रिनाचिकेताः "इति पिबन्तौ प्रतीयते । तौ काविति ? उच्यते ।

सबको खाने वाला एकमात्र परमात्मा को कहा गया किन्तु—"पुण्यवान मनुष्य के शरीर में परब्रह्म के उत्तम निवास स्थान हृदयस्थ आकाश में बुद्धिरूप गुफा में छिपे हुए सत्य का पान करने वाले, छाया और आतप की भाँति परस्पर भिन्न दो हैं ऐसा ब्रह्मज्ञानी कहते हैं तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन करने वाले और पंचाग्निसम्पन्न ग्रहस्थ भी ऐसा ही कहते हैं "इस श्रुति में तो पीने वाले दो कहे गये हैं तो ये दोनों कौन हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

ॐ गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॐ १।२।३।११।।

गुहां प्रविष्टौ पिबन्तौ विष्णुरूपे एव–
'घर्मासमन्तन् त्रिवृतं व्यापेतुः तयोर्जुष्टिं मातरिश्वा जगाम'
इत्यादिना तद्दर्शनात् ।

'आत्मान्तरात्मेति हरिरेक एव द्विधा स्थितः ।
निविष्टो हृदये नित्यं रसं पिबति कर्मजम् ।।'

इति बृहत्संहितायाम् ।

'शुभं पिबत्यसौ नित्यं नाशुभं स हरिः पिबेत् ।
पूर्णानन्दमयस्यास्य चेष्टा न ज्ञायते क्वचिद् ।।'

इति पाद्मे। 'यो वेद निहितं गुहायां' इत्यादिना प्रसिद्धं हिशब्देन दर्शयति ।

गुहा में प्रविष्ट पीने वाले दोनों विष्णु रूप ही हैं–"घर्मा समन्ता" इत्यादि श्रुति से ऐसा ही निश्चित होता है । "आत्मा और अन्तरात्मा इन दो रूपों में भगवान हरि ही स्थिति हैं, हृदय में नित्य प्रविष्ट वह कर्मजन्य रस का पान करते हैं" ऐसा बृहत् संहिता में भी कहा गया है । पद्म पुराण में भी आता है कि—"यह जीव नित्य शुभ अशुभ का पान करता है, वह हरि नहीं पीते, पूर्णानन्दमय इन हरि की चेष्टा कुछ भी समझ में नहीं आती ।" यो वेद निहितं गुहा याम् "इत्यादि श्रुति में उस प्रसिद्ध ब्रह्म का ही उल्लेख है ।

ॐ विशेषणाच्च ॐ ३।२।६२।।

"यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म तत्परम्" इति ।

पृथग्वक्तुं गुणास्तस्य न शक्यन्तेऽमितत्वतः ।
यतोऽतो ब्रह्मशब्देन सर्वेषां ग्रहणं भवेत् ।।
एतस्माद् ब्रह्मशब्दोऽयं विष्णोरेव विशेषणम् ।
अमिता हि गुणा यस्मान्नान्येषां तमृते विभुम् ।।"

इति ब्राह्मे । न च जीवे समन्वयोऽभिधीयते । "सत्य आत्मा

सत्यो जीवः सत्यं भिदा सत्यं भिदा सत्यं भिदा मैवरुण्यो मैवारुण्यो मैवारुण्यः" इति पैङ्गिश्रुतिः । "आत्मा हि परमः स्वतन्त्रोधिगुणो जीवोऽल्पशक्तिरस्वतंत्रोऽवरः" इति भाल्लवेयश्रुतिः ।

'यथेश्वरस्य जीवस्य भेदः सत्यो विनिश्चयात् ।
एवमेव हि मे वाचं सत्यां कर्तुमिहार्हसि ।।
यथेश्वरस्य जीवस्य सत्यभेदौ परस्परम् ।
तेन सत्येन मां देवास्त्रायन्तु सहकेशवाः ।।'

इत्यादेर्नासत्यो भेदः ।

"यः सेतुरीजानानां" इत्यादि में इतने गुणों का उल्लेख है कि उनमें से ब्रह्म के गुणों की छांटना शक्य नहीं है । इसी बात को ब्रह्म पुराण में स्पष्ट करते हैं कि—"ब्रह्म शब्द से सभी का ग्रहण होता है, इसीलिए ब्रह्म शब्द को विष्णु का ही विशेषण माना गया है, उस विभु के अतिरिक्त किसी अन्य में यह गुण नहीं है, इससे अमित गुण प्रकट होते हैं ।" आत्मा सत्य है, जीव सत्य है, भेद सत्य है, भेद सत्य, है भेद सत्य है "इस प्रकार पैङ्गि श्रुति भी विवेचन करती है ।" आत्मा परम स्वतंत्र है, कमगुण वाला जीव अल्प शक्ति और परतंत्र है "ऐसी भाल्लवेय श्रुति भी है ।" "जैसे कि ईश्वर और जीव का भेद निश्चित सत्य है, वैसे ही मेरी वाणी को सत्य करने के लिए तुम योग्य हो । जैसे कि ईश्वर और जीव का भेद सत्य है वैसे ही उस सत्य से केशव सहित सारे देवता मेरी रक्षा करें ।" इत्यादि से भेद की सत्यता सिद्ध है ।

४ अधिकरण

आदित्ये विष्णुरित्युक्तम् । "य एष आदित्ये पुरुषः सोऽहमस्मि स एवाहमस्मि" इत्यादौ अग्नीनामेवादित्यादिस्थत्वमुच्यते । अतोऽक्ष्यादित्ययोरैक्यात् "य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते" इत्यत्राप्यग्निरेवोच्यते । अतस्तद् "यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यते" इत्यग्निज्ञानादेव सर्वपापाश्लेषान्मोक्षापत्तिरिति । अतोऽब्रवीत्—

आदित्य विष्णु है ऐसा कहा गया किन्तु "जो इस आदित्य में पुरुष है वह मैं हूं, वही मैं हूँ" इत्यादि में तो अग्नियों की ही आदित्य में स्थिति बतलाई गई है, आदित्य और नेत्र पुरुष की एकता कही ही गई है अतः "जो इस नेत्र में पुरुष दीखता है" इसमें भी अग्नि का ही उल्लेख निश्चित होता। "जैसे कमल के पत्ते में जल के श्लेष नहीं होता वैसे ही इस पुरुष को जानने वाले को पापकर्म का श्लेष नहीं होता" इस मोक्ष श्रुति में भी अग्निज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति मानना चाहिए इस मत पर सिद्धान्त बतलाते हैं—

ॐ अन्तर उपपत्तेः ॐ १।२।४।१३।।

चक्षुरन्तस्थो विष्णुरेव "त्रिपादस्यामृतं दिवि" इत्यादिना तस्यैवामृतत्वाद्युपपत्तेः । ब्रह्मशब्दाद्युपपत्तेश्च । 'सोऽहमस्मि' इत्यादि त्वन्तर्याम्यपेक्षया । "अन्तर्यामिणमीशेशमपेक्ष्याहं त्वमित्यपि । सर्वेशब्दाः प्रयुज्यन्ते सति भेदेऽपि वस्तुषु ।" इति महाकौर्मे ।

चक्षु में अन्तस्थ पुरुष विष्णु ही है "त्रिपादस्यामृतं दिवि" इत्यादि से उन्हीं के अमृतत्व का प्रतिपादन किया गया, ब्रह्मशब्द भी उन्ही का प्रतिपादक है। "सोऽहमस्मि" इत्यादि वाक्य तो अन्तर्यामित्व का प्रतिपादन कर रहा है। जैसा कि महाकौर्म पुराण का वचन भी है—"अन्तर्यामी ईश्वर के लिए अहं त्वम् पदों का प्रयोग किया जाता है, वस्तुओं में भेद होते हुए भी सारे शब्द उन्ही के लिए प्रयोग किये जाते हैं।"

ॐ स्थानादिव्यपदेशाच्च ॐ १।२।४।१४।।

"तद् यदस्मिन् सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति" इत्यादिस्थानशक्तिः। "वामनिर्भामनिः" इत्याद्यात्मशक्तिश्चोच्यते । तस्य ह्येतल्लिगम् । "स ईशः सोसपत्नः स हरिः सपरः परोवरीयान् यदिदं चक्षुषि सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति स वामनः स भामनः स आनन्दः सोऽच्युतः" इति चतुर्वेदशाखयाम् ।

'यत् स्थानत्वादिकं चक्षुरसङ्गं सर्ववस्तुभिः ।
स वामनः परोऽस्माकं गतिरित्येव चिन्तयेत् ।।'

इति वामने ।

"जो इसमें घृत या जल का सिञ्चन करता है वह उन्हीं दो मार्गों से जाता है" इत्यादि में स्थान शक्ति तथा "वामनिर्भामनिः" में आत्म शक्ति का वर्णन किया गया है। चतुर्वेदशाखा में भी इसका समर्थन करते हुए कहते हैं-"वह ईश, सपत्न, हरि, पर, परात्पर, है, जो इस नेत्र में घृत या जल का सेचन करता है, वह उन्हीं दो मार्गों से जाता है, वही वामन, भामन, आनन्द और अच्युत है। वामन पुराण में भी उक्त मत की पुष्टि की गई है—"जिनका आदि स्थान नेत्र है, जो समस्त वस्तुओं से असंग है वह पर ब्रह्म वामन हमारी गति हैं, ऐसा ही सोचना चाहिए।"

ॐ सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॐ १।२।४।१५।।

"प्राणो ब्रह्म, कं ब्रह्म, खं ब्रह्म" इति । "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" त्यादेस्तस्यैव हि तल्लक्षणम् ।

'लक्षणं परमानन्दो विष्णोरेव न संशयः ।
अव्यक्तादितृणान्तास्तु विप्लुडानन्दभागिनः ।।'

इति ब्रह्मवैवर्ते । न च मुख्ये सत्यमुख्यं युज्यते ।

"प्राण ब्रह्म है, क ब्रह्म है, ख ब्रह्म है," विज्ञान आनन्द ब्रह्म है "आनन्द ब्रह्म है ऐसा जानो" इत्यादि में विष्णु के स्वरूप का ही वर्णन किया गया है।" परमानंद लक्षण विष्णु का ही हैं, निःसंदेह अव्यक्त से लेकर तृण तक सभी उसके आनंदांश से आप्लुत हैं। ऐसा ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में स्पष्ट उल्लेख भी है। जब मुख्य ब्रह्म की प्रतीति हो रही है तो गौण की मान्यता उचित नहीं है।

ॐ श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॐ १।४।२।१६।।

"स एनान् ब्रह्म गमयति" इति न ह्यन्यविद्यया अन्यगतिर्युक्ता ।

"जो इससे ब्रह्म को प्राप्त करता है" श्रुति में ब्रह्म को श्रौत गम्य कहा गया है, इसलिए किसी अन्य ज्ञान से अन्य गति मानना ठीक नहीं है।

ॐ अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॐ १।४।२।१७।।

"जीवस्य जीवान्तरनियामकत्वे अनवस्थितेः । साम्यादसंभवाच्च न जीवः । नियमे प्रमाणाभावात् । अनीश्वरापेक्षत्वाच्च ।

एक जीव का नियामक किसी दूसरे जीव को मानने से अनवस्था होगी। जीव सभी समान हैं, इसलिए वे परस्पर नियामक हो भी नहीं सकते। जीव के नियामकत्व का कोई प्रमाण मिलता भी नहीं जीव अनीश्वर है इसलिए वह आपेक्ष भी है।

५ अधिकरण

"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरोयमयत्येषत आत्मान्तर्याम्यमृतः" इत्याद्यन्तर्याम्युच्यते। तत्र चैतदमृतम् इत्युक्तममृतत्वमुच्यते। स च "यस्य पृथिवी शरीरं" इत्यादिना सर्वात्मकत्वात् प्रकृतिस्तत्तज्जीवो वा युक्तः। न हि विष्णोः पृथिव्यादिशरीरत्वमङ्गीक्रियते, इत्यत आह।

"यः पृथिवी में स्थित, पृथिवी के अन्दर है जिसे पृथिवी नहीं जानती, पृथिवी ही जिसका शरीर है, जो पृथिवी का नियमन करता है, वह उसका आत्मान्तर्यामी अमृत है" इत्यादि में अन्तर्यामीतत्व का वर्णन किया गया है। उस अन्तर्यामी को "एतदमृतम्" कह कर अमर बतलाया गया है। "यस्य पृथिवी शरीरं" इत्यादि से अन्तर्यामी की सर्वात्मकता सिद्ध होती है, इसलिए प्रकृति या उन-उन पदार्थों में रहने वाला जीव ही उक्त प्रकरण का प्रतिपाद्य समझ में आता है विष्णु तो पृथिवी आदि शरीरों को स्वीकार करते नहीं। इस मत पर सिद्धान्त कहते हैं—

ॐ अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॐ १।५।२।१८॥

"यं पृथिवी न वेद, यः पृथिव्या अन्तरः" इत्यादिना अधिदैवादिषुतद्धर्मव्यपदेशाद् विष्णुरेवान्तर्यामी। "स हि न ते विष्णो जायमानो न जातः स योऽतोऽश्रुतोऽगतोऽमतोऽनतोऽदृष्टोऽविज्ञातोऽनादिष्टः सर्वेषां भूतानामन्तरपुरुषः" इत्यादिनाऽविदितोन्तरश्च।

'जिसे पृथिवी नहीं जानती जो पृथिवी में है' इत्यादि से अधिदेव और उसके धर्मों का उल्लेख किया गया है जिससे विष्णु ही अन्तर्यामी निश्चित होते हैं। 'जो सृष्टि के होने पर भी उत्पन्न नहीं होता, किन्तु अज होते हुए भी वह समस्त भूतों का अन्तर्यामी पुरुष है क्योंकि उसकी चेष्टायें अश्रुत, अगत, अमत, अदृष्ट,

अविज्ञात और अनादिष्ट हैं' इत्यादि में अन्तर्यामी को अज्ञात और अन्तर्यामी कहा गया है।

ॐ न च स्मार्त्तमतद्धर्माभिलापात् ॐ १।२।५।१९॥

त्रिगुणत्वादिप्रधानधर्मानुक्तेर्न स्मृत्युक्तं प्रधानमन्तर्यामि।

उक्त प्रसंग में त्रिगुणत्व आदि, प्रधान के धर्मों का उल्लेख नहीं है इसलिए सांख्य स्मृति सम्मत प्रधान प्रकृति अन्तर्यामी रूप से प्रतिपाद्य नहीं है।

ॐ शरीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॐ १।२।५।२०॥

"यः आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयत्येषत आत्मान्तर्याम्यमृतः। यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरोयं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरम्" इत्युभयेऽपि हि शाखिनो भेदेनैनं जीवमधीयते।

"शीर्यते नित्यमेवास्माद् विष्णोस्तु जगदीदृशम्।
रमते च परो ह्यस्मिन् शरीरं तस्य जज्जगत्"

इतिवचनान्न शरीरत्वविरोधः।

'जो आत्मा में स्थित आत्मा के अन्दर है, आत्मा जिसे नहीं जानता, आत्मा ही जिसका शरीर है जो कि आत्मा का संयमन करता है वह अन्तर्यामी अमृत है। जो विज्ञान में स्थित विज्ञान के अन्दर है, विज्ञान जिसे नहीं जानता, विज्ञान जिसका शरीर है।' इत्यादि दोनों शाखाओं में भेद से इस जीव का ही वर्णन किया गया है और उसका अन्तर्यामी परमात्मा बतलाया गया है इसलिये जीव के अन्तर्यामी होने का प्रश्न ही नहीं उठता।' इस विष्णु से यह सारा जगत नित्य क्षीण हो रहा है, इस जगत में वह परमात्मा ही रम रहा है, यह जगत उसका शरीर है' इस वचन से तो, परमात्मा के शरीरत्व का भी समर्थन होता है।

६ अधिकरण

अदृश्यत्वादिगुणा विष्णोरुक्ताः। तत्र "यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।" इत्युक्त्वा

"यथोर्णनाभिस्सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः संभवति ।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि ।
तथाक्षरात् संभवंतीह विश्वम् ।"

इत्युक्त्वा "तस्माच्चाक्षरात् परतः परः" इति परः प्रतीयत इत्यतो अब्रवीत् –

अदृश्यत्व आदि गुण, विष्णु के कहे गये। किन्तु वहाँ इन गुणों का वर्णन है कि--'जो वह अज्ञेय, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, नेत्र कर्ण आदि ज्ञानेन्द्रियों से रहित, हाथ पैर आदि कर्मेन्द्रियों से रहित है तथा जो नित्य सर्वव्यापी, चारों ओर फैला हुआ, अतिसूक्ष्म और अविनाशी है उस भूत योनि को धीर लोग सर्वत्र परिपूर्ण देखते हैं' ऐसा कह कर 'जिस प्रकार मकड़ी जाले को बनाती और निगल जाती है तथा जैसे पृथिवी में अनेक प्रकार की औषधियाँ उत्पन्न होती है एवं जैसे जीवित मनुष्य से केश और रोयें उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अक्षर पुरुष से यह विश्व उत्पन्न होता है।' ऐसा कह कर आगे कहा गया कि—'वह ब्रह्म अक्षर से भी पर है।' इस विचार से तो उक्त गुण, अक्षर नामवाची किसी अन्य के प्रतीत होते हैं ? इस संशय पर सूत्रकार कहते हैं—

ॐ अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॐ ।१।२।६।२१।।

पृथिव्यादिदृष्टान्तमुक्त्वा 'अक्षरात् संभवन्ति इह विश्वम्' इत्यतः परं तत्परतः पराभिधानात् "कूटस्थोक्षर उच्यते ।" इति स्मृतेश्च प्रकृतेः प्राप्तिः । ब्रह्मशब्दात्तत्परतः पराभिधानादेव न हिरण्यगर्भस्य । "तमेवं विद्वानमृत इह भवति ।" तत्कर्म हरितोषं यत्सा विद्या तन्मतिर्यया ।" "अथ द्वेवाव विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च । "तत्र ये वेदा यान्यङ्गानि यान्युपाङ्गानि यानि प्रत्यङ्गानि साऽपरा । "अथ परा यया स हरिर्वेदितव्यो योसावदृश्यो निर्गुणः परः परात्मा ।" इत्यादिना तद्धर्मत्वेनावगतपरविद्याविषयत्वोक्तेर्विष्णुरेवादृश्यत्वादिगुणकः ।

पृथिवी आदि का दृष्टान्त देकर 'अक्षर से यह विश्व होता है' ऐसा कह कर बाद में उससे भी परे ब्रह्मतत्त्व को बतलाया गया है, तथा 'कूटस्थ को अक्षर कहते हैं' इस स्मृति से अक्षर शब्द प्रकृतिवाची निश्चित होता है। अक्षर से परे जिस तत्त्व का विवेचन किया गया उसे ही ब्रह्मशब्द से संबोधन किया गया इसलिए हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के विषय में तो संशय किया नहीं जा सकता। 'उसे जानकर यहीं अमृत हो जाता है' 'जिस कर्म से भगवान प्रसन्न हों ऐसी जो मति है वही विद्या है' विद्या दो प्रकार की जाननी चाहिये, परा और अपरा; वेद, वेदाङ्ग और प्रत्यङ्ग इत्यादि सब अपरा विद्या है, परा विद्या वह है जिससे भगवान का ज्ञान होता है जो कि अदृश्य निर्गुण तथा पराविद्या से भी पर हैं।' इत्यादि वाक्यों से परमात्मा के धर्मों की अवगति होती है तथा ब्रह्म की परविद्या विषमता ज्ञात होती है, इससे निश्चित होता है कि अदृश्यता आदि गुण वाले परमात्मा ही हैं।

ॐ विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॐ ।१।२।६।२२।।

"यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः इति विशेषणान्न प्रकृतिः "तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते इति भेदव्यपदेशान्न विरिञ्चः ।

"अपरं त्वक्षरं या सा प्रकृतिर्जडरूपिका ।
श्रीः परा प्रकृतिः प्रोक्ता चेतना विष्णुसंश्रया ।।
तामक्षरं परं प्राहुः परतः परमक्षरम् ।
हरिमेवाखिलगुणमक्षरत्रयमीरितम् ।।

इति स्कान्दे । त्र्यक्षराभिधानादक्षरात्परतः पर इत्यपि विशेषणमेव । "जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः" इति भेदव्यपदेशात् ईशपदप्राप्तोऽपि न रुद्रः ।

'जो सर्वज्ञ है, सर्वज्ञ का ज्ञानमय ही तप है' इस विशेषण से प्रकृति तो उक्त गुणों वाली है नहीं। 'इस ब्रह्म से नामरूप और अन्न होते हैं।' ऐसा भेद का व्यपदेश किया गया इसलिये ब्रह्मा भी नहीं हो सकते 'जो अपर अक्षर प्रकृति है वह जड़रूपिका है, श्री परा प्रकृति है जो कि विष्णु को आश्रिता चेतना कही

गई है। उसे अक्षर से पर होने से परा कहते हैं उससे भी परे ब्रह्म परमक्षर हैं। हरि में समस्त गुण विद्यमान हैं इसलिए उन्हें अक्षरत्रय कहते हैं। ऐसा स्कन्द-पुराण का वचन है, इसमें ब्रह्म को अक्षर कहा गया तथा 'अक्षरात् परतः परः' इस विशेषण से भी अक्षर, अक्षरपर और परमक्षर आदि नाम विष्णु के निश्चित होते हैं। 'जब कभी अपने से भिन्न भक्तों द्वारा सेवित परमेश्वर और उनकी महिमा को प्रत्यक्ष कर लेता है तब सर्वथा शोकरहित हो जाता है।' इत्यादि श्रुति में जो उपास्य उपासक का भेद बतलाया गया है उससे ईश पदवी को प्राप्त शंकर भी नहीं हो सकते।

ॐ रूपोपन्यासाच्च ॐ ।१।२।६।२३।।

"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्" इति

"एको नारायण आसीन्न ब्रह्मा न च शंकरः।

स मुनिर्भूत्वा समचिन्तयत् तत एते व्यजायन्त।

विश्वो हिरण्यगर्भोग्निर्यमो वरुणरुद्रेन्द्राः" इति ।।

"तस्य हैतस्य परमस्य नारायणस्य चत्वारि रूपाणि शुक्लं रक्तं रौक्मं कृष्णम्" इति। "स एतान्येतेभ्योऽभ्यचीक्लृपत्" विमिश्राणि व्यमिश्रयत् "अत एतादृगेतद्रूपम्" इति तस्यैव हि रूपाण्यभिधीयन्ते।

'जब यह द्रष्टा, सबके शासक ब्रह्मा के भी आदि कारण, जगत के रच-यिता दिव्य प्रकाश स्वरूप परम पुरुष को प्रत्यक्ष कर लेता है' 'एक नारायण ही थे, न ब्रह्मा थे न शंकर।' उसने मौन होकर जब चिन्तन किया तो विश्व, हिरण्यगर्भ, अग्नि, यम, वरुण, इन्द्र आदि सब प्रकट हो गए।' इस परम नारा-यण के शुक्ल, रक्त, रौक्म और कृष्ण चार रूप हैं। "वह इन सबको परस्पर मिला देते हैं इसलिए जगत् में इतने रूप हैं, जो कि परमात्मा के ही हैं।' इत्यादि में परमात्मा के रूपों का ही वर्णन किया गया है।

७ अधिकरण

अदृश्यत्वादिगुणेषु सर्वगतत्वम्। "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रम-

भिविमानमात्मानं वैश्वारमुपास्ते" इति वैश्वानरस्योक्तम्। इत्यत आह –

अदृश्यता आदि गुणों में व्यापकता की प्रतीति होती है 'जो इस प्रादेशमात्र अभिमानी आत्मा वैश्वानर की उपासना करता है' इत्यादि में प्रादेश सीमित वैश्वानर की उपासना का उल्लेख मिलता है जिससे अग्नि की उपास्यता ज्ञात होती है। इस पर सूत्रकार कहते हैं—

ॐ वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॐ १।२।७।२४।।

अग्नाविष्णोः साधारणस्य वैश्वानरशब्दस्य विष्णावेव प्रसिद्धात्म-शब्देन विशेषणाद् वैश्वानरो विष्णुरेव।

वैश्वानर शब्द अग्नि और विष्णु सामान्यतः दोनों के लिए ही आता है पर वैश्वानर शब्द जहाँ आत्मवाची प्रादेशमात्र में उपास्य कहा गया है वहाँ विष्णु का ही बोधक है क्योंकि आत्म शब्द विष्णु के लिए ही प्रसिद्ध है, इसलिए उपास्य वैश्वानर विष्णु ही हैं।

ॐ स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॐ १।२।७।२५।।

"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः" इति स्मर्यमा-णमत्रापि स एवोच्यते, इत्यस्यानुमापकम्, समाख्यानात्। इति शब्दः समाख्याप्रदर्शकः।

'मैं वैश्वानर होकर प्राणियों के देह में आश्रित हूँ' इस स्मृति से निश्चित होता है कि उक्त श्रुति में भी वही बात कही गई है, यह अनुमापक वाक्य है। दोनों में समान बात कही गई है। सूत्र में इति शब्द, समान बात की ओर इंगन कर रहा है।

ॐ शब्दादिभ्योन्तःप्रतिष्ठानान्नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसंभ-वात् पुरुषविधमपि चैनमधीयते ॐ १।२।७।२६।।

"अयमग्निर्वैश्वानरः, वैश्वानरमृत आजातमग्निम्" इत्यादि-शब्दः। "वैश्वानरे तत्तद्हुतं भवति"। "हृदयं गार्हपत्यो मनोन्वा-हार्यपचन आस्यमाहवनीयः" इत्याद्यग्निलिङ्गमादिशब्दोक्तम्। "येनेद

मन्नं पच्यते तद् यद्भक्तं प्रथममागच्छेतद् होमीयम्'' इत्यादिना पाचकत्वेनान्तःप्रतिष्ठानं च प्रतीयते । तस्मान्न विष्णुरीति चेन्न । ''अथहेममात्मानमणोरणीयान्सम्परतः परं विश्वं हरिमुपासीत'' इति । ''सर्वनामा, सर्वकर्मा, सर्वलिङ्गः, सर्वगुणः सर्वकामः, सर्वधर्मः, सर्वरूपः'' इति । ''य एवमात्मानं विश्वं हरिमारादरमुपास्ते तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेषु देवेषु सर्वेषु वेदेषु कामचारो भवति'' इति तत्तनामलिङ्गादिना तस्यैव दृष्ट्युपदेशात् महोपनिषदि ।

''अनात्तत्वादनात्मान ऊनत्वाद्गुणराशितः ।
अब्रह्माणः परे सर्वे ब्रह्मात्मा विष्णुरेव हि ॥''

इत्यादिना ''को न आत्मा किं ब्रह्म'' इत्यारम्भाच्चान्येषामसम्भवाद् विष्णुरेव वैश्वानरः । चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत' इत्यादिना यः पुरुषाख्यो विष्णुरभिहितः तद् विधमेवात्र ''मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विस्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मा'' इत्यादिना एवं वैश्वानरमभिधीयते । चशब्देन सकलवेदतन्त्रपुराणादिषु विष्णुपरत्वं पुरुषसूक्तस्य दर्शयति । तथा च ब्राह्मे—

''यथैव पौरुषं सूक्तं नित्यं विष्णुपरायणम् ।
तथैव मे मनो नित्यं भूयाद् विष्णुपरायणम् ॥''

इति चतुर्वेदशिखायां च—''सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपादित्येष ह्येवाचिन्त्यः परः परमो हरिरादिनादिरनन्तोऽनन्तशीर्षोऽनन्ताक्षोऽनन्तबाहुरनन्तगुणोऽनन्तरूपः ।'' इति । बृहत्संहितायां च—

''यथा हि पौरुषं सूक्तं विष्णुरेवाभिधायकम् ।
न तथा सर्ववेदाश्च वेदाङ्गानि च नारद ॥'' इत्यादि
''यस्माद्यज्जयते चाङ्गाल्लोकवेदादिकं हरेः ।
तन्नामवाच्यमङ्गम् तद् यथा ब्रह्मादिकं मुखम् ॥''

इति नारदीयवचनान्न भेदोक्तिविरोधः ।

'यह अग्निवैश्वानर है' वैश्वानर अमृत आजात अग्नि है' इत्यादि ऋचाएँ हैं। 'वैश्वानर में वो-वो हुत होते हैं' हृदय गार्हपत्य है, मन अन्वाहार्य वचन है तथा मुख आहवनीय है इत्यादि अग्निवाचक शब्द भी हैं 'जिससे यह अन्न पचता है, इसलिए प्रथम ग्रास का होम करना चाहिए' इत्यादि से पाचक रूप से उस अग्नि अन्तःकरण में अधिष्ठान ज्ञात होता है। इसलिए वैश्वानर विष्णु नहीं हैं, ऐसा कथन असंगत है। 'इस अतिसूक्ष्म आत्मा पर विश्व हरि की उपासना करनी चाहिए' वह सब नामों वाला, सब कर्मों वाला, सर्वलिङ्ग, सर्वगुण सर्वकाम, सर्वधर्म और सर्वरूप है। 'जो इस विश्वरूप हरि की आदर से उपासना करता है, उसकी समस्त लोकों में, समस्त भूतों में, समस्त देवों में, समस्त वेदों में स्वेच्छिक गति होती है' इत्यादि महोपनिषद् के वचन में उन नाम लिंगों से उन परमात्मा के ही गुणों का गान किया गया है। 'गुणों में हीन और भोग करने में असमर्थ सारा विश्व अनात्म और अब्रह्म है, एकमात्र ब्रह्मात्मा विष्णु ही हैं। 'हमारा आत्मा कौन है, ब्रह्म क्या है?' इत्यादि में जिसके गुणों का उल्लेख किया गया है, वह ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य में सम्भव नहीं है, इससे निश्चित होता है कि विष्णु ही वैश्वानर हैं। 'मन से चन्द्रमा हुआ, नेत्र से सूर्य हुआ।' इत्यादि मंत्र में जिस प्रकार विराट पुरुष नामक विष्णु की विशेषतायें दिखलाई गई हैं। उसी प्रकार 'मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः' इत्यादि में वैश्वानर की विशेषतायें दिखलाई गई हैं। सभी वेदतंत्र पुराण आदि में पुरुष सूक्त की विष्णु परकता दिखलाई गई है, जैसे कि ब्रह्म पुराण में—'जैसे कि पुरुष सूक्त नित्य विष्णु परायण है वैसे ही मेरा मन नित्य विष्णु परायण होवे।' चतुर्वेद शिखा में भी—'हजार शिर वाला पुरुष, हजार नेत्र, हजार चरण वाला है, वही पुरुष सूक्तोक्त अचिन्त्य परात्पर हरि, आदि, अनादि, अनन्त, अनंत नेत्र, अनन्त बाहु, अनन्त गुण और अनन्त रूप है।' इसी प्रकार बृहत् संहिता में भी—'जैसे कि पुरुष सूक्त में एकमात्र विष्णु ही अभिधायक हैं उस प्रकार वेदों और वेदांगों में नहीं हैं।', इत्यादि 'जिस हरि से ये लोक वेदादिक सारे अंग उत्पन्न होते हैं, वे अंग उन्हीं के नामवाच्य हैं उनमें मुख्य ब्रह्मा आदि नाम हैं।' इत्यादि नारद पुराण के वचन से अभेदोक्ति का विरोध भी नहीं होता।

ॐ अत एव न देवताभूतं च ॐ ।१।२।७।२७॥

अग्निवैश्वानरादिशब्दस्तेजसि भूतेऽग्निदेवतायां च प्रसिद्धोऽप्यतः पूर्वोक्तहेतुत एवात्र न सा तच्चाभिधीयते ।

अग्नि वैश्वानर आदि शब्द, तेज रूप भूत तथा अग्नि देवता के अर्थ में प्रसिद्ध होता हुआ भी पूर्वोक्त हेतु से अग्नि आदि का वाचक नहीं है।

ॐ साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॐ ।१।२।७।२८॥

नाग्न्यादयः शब्दा अग्न्यादिवाचकाः। तथापि साक्षादेवानन्य-योगेन ब्रह्मवाचकैः शब्दैर्ब्रह्मार्थमनभिज्ञाश्चान्यत्र व्यवहरन्ति, इत्यभ्युपगमेऽविरोधं जैमिनिर्वक्ति।

'व्याससचित्तस्थिताकाशादवच्छिन्नानि कानि चित्।
अन्ये व्यवहरन्त्येतान्युरीकृत्य गृहादिवत्॥'
इतिस्कान्दवचनान्न मतानां परस्परविरोधः।

माना कि अग्नि आदि शब्द अग्नि आदि के वाचक नहीं हैं फिर भी, साक्षात् ही अनन्य योग से ब्रह्म वाचक शब्द, व्यवहार और अनभिज्ञता से अन्यत्र भी व्यवहार में आते हैं, इस प्रकार कोई विरोध भी नहीं है, ऐसा जैमिनी कहते हैं। 'व्यास के हृदयाकाश से निकले हुए कुछ विचारों को स्वीकार कर अन्य लोग व्यवहार करते हैं' इत्यादि स्कन्द पुराण के वचन से मतों के परस्पर विरोध का परिहार हो जाता है।

ॐ अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॐ ।१।२।७।२९॥

तत्र तत्र प्रसिद्धावप्यग्न्यादिषु ब्रह्मणोऽभिव्यक्तेरग्न्यादिसूक्त-नियम इत्याश्मरथ्यः।

अग्नि आदि नाम, भिन्न-भिन्न के लिये लोक में प्रसिद्ध हैं उनमें भगवान की अभिव्यक्ति है इसलिये वे उन नाम से पुकारे जाते हैं ऐसा अश्मरथ्य आचार्य मानते हैं।

ॐ अनुस्मृतेर्बादरिः ॐ ।१।२।७।३०॥

तत्र तत्रोक्तस्य विष्णोरग्न्यादिष्वनुस्मर्यमाणत्वान्नियम इति बादरिः।

अग्नि आदि वस्तुओं में उनके नाम से विष्णु का ही स्मरण किया जाता है ऐसा बादरि आचार्य का मत है।

ॐ सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॐ ।१।२।७।३१॥

साक्षादप्यविरोधं वदञ्जैमिनिः सूक्तादिनियममग्न्यादिसम्प्राप्त्या मन्यते। 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति इति दर्शयति।' न ह्यन्यो-पासकोऽन्यं प्राप्नुत इति युज्यते इत्यत आह—

साक्षात् से अविरोध बतलाने वाले जैमिनी, सूक्त आदि में बतलाये गये नियमों से अग्नि आदि की सम्प्राप्ति मानते हैं। अपने मत की पुष्टि के लिए 'उसको जो जैसे भजता है वैसा ही होता है' यह श्रुति प्रस्तुत करते हैं। अन्य का उपासक, अन्य को तो प्राप्त कर नहीं सकता? इस संशय पर सूत्रकार कहते हैं—

ॐ आमनन्ति चैनमस्मिन् ॐ ।१।२।७।३२॥

एनं विष्णुमस्मिन्नग्न्यादावामनन्ति 'योऽग्नौ तिष्ठन्य एष एत-स्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः'। इत्यादिना।

इन विष्णु को अग्नि आदि में स्थित माना जाता है इसलिए ये उपासनायें विष्णु की ही हैं अन्य की नहीं हैं, श्रुति भी है 'जो अग्नि में स्थित है, जो इस अग्नि में तेजोमय अमृतमय पुरुष है' इत्यादि।

प्रथम अध्याय द्वितीय पाद समाप्त

સમરીતિર્મહાતેજાઃ પરબ્રહ્મ સનાતનઃ।
જયતાજ્જ્ઞાનગોનાથો વેદવેદ્યો મહામતિઃ॥

प्रथम अध्याय—तृतीयपाद

१ अधिकरण

ॐ तत्र चान्यत्र च प्रसिद्धानां शब्दानां विष्णौ समन्वयं प्रायेणास्मिन् पादे दर्शयति। विष्णोः परविद्याविषयत्वमुक्तं—तत्र 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः, तमेवैकं जानथ आत्मानम् इत्यत्र प्राणानां ग्रन्थिरसि' रुद्रो मा विशान्तकः प्राणेश्वरः कृत्तिवासाः पिनाकी' इत्यादिना रुद्रस्य प्राणाधारत्वं प्रतीतेः। 'स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः' इति जीवलिङ्गाच्च तयोः प्राप्तिः। इत्यत उच्यते—

अन्यत्र प्रसिद्ध शब्दों का विष्णु में ही समन्वय है, प्रायः इस पाद में यही दिखलाते हैं। विष्णु की परविद्या विषमता बतलाते हैं। 'जिसमें आकाश पृथिवी अन्तरिक्ष, मन और प्राण के साथ पिरोये हुये हैं उसी एक आत्मा को जानो' इत्यादि में प्राणों की ग्रंथि आत्मा को बतलाया गया है। 'प्राणेश्वरः कृत्तिवासाः' इत्यादि से रुद्र का प्राणाधारत्व प्रतीत होता है तथा 'स एषोन्तश्चरते' इत्यादि से जीव की अन्तःस्थिति ज्ञात होती है, इन्हीं दोनों की प्राप्ति होती है, इस संशय पर सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

ॐ द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॐ।१।३।१।१॥

'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इत्यात्मशब्दात् द्युभ्वाद्याश्रयो विष्णुरेव।

'आत्मब्रह्मादयः शब्दास्तमृते विष्णुमव्ययम्।
न संभवन्ति यस्मात्तैर्नैवाप्ता गुणपूर्णता॥' इति ब्रह्मवैवर्त्ते।

'उसी एक आत्मा को जानो' में कहा गया आत्म शब्द द्युभू आदि के आश्रम विष्णु के लिए ही कहा गया है। जैसा कि ब्रह्मवैवर्त्त पुराण का वचन भी है—'आत्म, ब्रह्म आदि शब्द, अव्यय विष्णु को ही सम्बोधित करते हैं जिस

शब्द से विष्णु की स्मृति नहीं की जाती उस शब्द से पूर्ण शब्दार्थ व्यक्त नहीं होता।'

ॐ मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॐ।१।३।१।२॥

'अमृतस्यैष सेतुः' इति। 'ब्रह्मविदाप्नोति' नारायणं महाज्ञेयं विश्वात्मानं परायणम् मुक्तानां परमा गतिः 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' इत्यादिना तस्यैव मुक्तप्राप्यत्वव्यपदेशात्।

'बहुनात्र किमुक्तेन यावच्छ्वेतं न गच्छति।
योगी तावन्न मुक्तः स्यादेष शास्त्रस्य निर्णयः॥'

इत्यादित्यपुराणे।

'यह अमृत का सेतु है' ऐसा कहा गया। 'ब्रह्मवेत्ता परम को प्राप्त करता है', विश्व के आत्मा में परायण नारायण महाज्ञेय हैं 'मुक्तों की परम गति हैं' इस आनन्दमय आत्मा को प्राप्त करता है। इत्यादि श्रुतियों से उसी सेतु की प्राप्यता का समर्थन किया गया है। 'विशेष क्या कहा जाय, योगी जब तक बिल्कुल स्वच्छ नहीं हो जाता तब तक मुक्त नहीं होता ऐसा शास्त्र का निर्णय है' ऐसा आदित्य पुराण का वचन है।

ॐ नानुमानमतच्छब्दात् ॐ।१।२।१।३॥

नानुमानात्मकागमपरिकल्पितरुद्रोऽत्र वाच्यः। भस्मधरोग्रत्वादितच्छब्दाभावात्। 'सोऽन्तकः स रुद्रः स प्राणभृत्स प्राणनायकः स ईशो यो हरिर्योऽनन्तो यो विष्णुर्यः परः परोवरीयान् 'इत्यादिना प्राणग्रन्थिरुद्रत्वादेर्विष्णोरेवोक्तत्वात्। ब्रह्माण्डे च—

'रुजं द्रावयते यस्माद् रुद्रस्तस्माज्जनार्दनः।
ईशनादेव चेशानो महादेवो महत्त्वतः॥
पिबन्ति ये नरा नाकं मुक्ताः संसारसागरात्।
तदाधारो यतो विष्णुः पिनाकीति ततः स्मृतः॥
शिवः सुखात्मकत्वेन शर्वः शंरोधनाद्धरिः।
कृत्यात्मकमिदं देहं यतो वस्ते प्रवर्त्तयन्॥

कृत्तिवासास्ततो देवो विरिञ्चश्च विरेचनात् ।
बृंहणाद् ब्रह्मनामासावैश्वर्यादिन्द्र उच्यते ॥
एवं नानाविधैश्शब्दैरेक एव त्रिविक्रमः ।
वेदेषु च पुराणेषु गीयते पुरुषोत्तमः ॥' इति, वामने
'न तु नारायणादीनां नाम्नामन्यत्र संभवः ।
अन्यनाम्नां गतिर्विष्णुरेक एव प्रकीर्तितः ॥' इति स्कांदे
'ऋते नारायणादीनि नामानि पुरुषोत्तमः ।
प्रादादन्यत्र भगवान् राजेवर्ते स्वकं पुरम् ॥' इति,
'चतुर्मुखः शतानन्दो ब्रह्मणो पद्भूरिति ।
उग्रो भस्मधरो नग्नः कपालीति शिवस्य च ॥
विशेषनामानि ददौ स्वकीयान्यपि केशवः ।' इति च ब्राह्मे ।

आगम परिकल्पित रुद्र उक्त प्रकरण में प्राण कहे हों ऐसा अनुमान नहीं करना चाहिये क्योंकि उक्त प्रकरण में जहाँ रुद्र को प्राण कहा गया है, वहाँ उनके विशेष नाम भस्मधर उग्र आदि का उल्लेख नहीं है। बाकी सब नाम जो कि प्राणग्रन्थि रुद्र के लिये प्रयोग किये गये हैं, वे तो विष्णु के ही वाचक हैं जैसी कि श्रुति भी है— 'वह अन्तक, रुद्र, प्राणभृत्, प्राणनायक, ईश, हरि, अनन्त विष्णु, परात्पर ब्रह्म हैं' इत्यादि। ब्रह्माण्ड पुराण में इन नामों की व्याख्या विष्णु परक ही की गई है 'जिनसे रुद्र द्रवित हैं, इसलिये वे रुद्र हैं उसी से जनार्दन हैं। सबका स्वामित्व करने से ईशान, महान होने से महादेव हैं। संसार सागर से मुक्त जीव नाक (स्वर्गीय सुख) का पान करते हैं, उसके आधार विष्णु हैं, इसी से उन्हें पिनाकी कहते हैं। सुखात्मक होने शिव तथा संसार चक्र को रोकने वाले होने से शर्व कहलाते हैं। क्रियात्मक इस शरीर में वास करके तो समस्त कृत्यों का संचालन करते हैं, इसलिए उन्हें कृत्तिवास कहते हैं। अन्तःकरण को विरेचन अर्थात् शुद्ध करते हैं इसलिए उन्हें विरिञ्च कहते हैं। बृंहण (विस्तार करने) से ब्रह्म, ऐश्वर्यवान होने से इन्द्र कहलाते हैं। इस प्रकार एक त्रिविक्रम ही अनेक नामों से वाच्य हैं, वेद और पुराणों में इसीलिये उन्हें पुरुषोत्तम कहते हैं।' वामनपुराण में भी जैसे—'नारायण आदि

नामों से किसी अन्य को सम्बोधित करना सम्भव नहीं है, किन्तु अन्य सभी नामों की एकमात्र गति विष्णु हैं।' स्कन्द पुराण में भी 'भगवान पुरुषोत्तम नारायण आदि नामों को छोड़कर बाकी सब नामों को बाँटकर राजा की तरह अपने लोक में विराजते हैं। ब्रह्म पुराण में भी ऐसा ही वचन है 'भगवान केशव ने अपने नामों में से छाँटकर कुछ विशेष चतुर्मुख, शतानन्द, पद्मभू आदि नाम ब्रह्मा को तथा भस्म धर, नग्न, कपाली आदि नाम शिव को दे दिये।'

ॐ प्राणभृच्च ॐ ।१।३।१।४॥

एतैरेव हेतुभिर्न जीवो वायुश्च । 'अजायमानो बहुधा विजायत' इति तस्यैव बहुधा जन्मोक्तेः ।

इन्हीं कारणों से जीव या वायु को प्राणभृत् नहीं कह सकते 'एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः' श्रुति में अनेक रूपों में उत्पन्न होने के उल्लेख से जो जीव सम्बन्धी संशय किया गया वह भी भ्रम है, 'अजायमान होते हुए भी वह अनेक रूपों में जन्म लेते हैं' इत्यादि में विष्णु के ही अनेक जन्मों का उल्लेख किया गया है।

ॐ भेदव्यपदेशात् ॐ ।१।३।१।५॥

न चैक्यं वाच्यम् 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः' इति भेदव्यपदेशात् ।

जीव और ब्रह्म को एक भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि—'जिस समय भक्तिपूर्वक ईश की महिमा को देखता है तो शोक रहित हो जाता है' इत्यादि श्रुति में स्पष्ट रूप से भेद दिखलाया गया है।

ॐ प्रकरणात् ॐ ।१।३।१।६॥

'द्वे विद्ये वेदितव्ये' इति तस्य ह्येतत् प्रकरणम् ।

'दो विद्यायें ज्ञेय हैं' इत्यादि भी इस प्रकरण के ही वाक्य हैं, इनसे भी भिन्नता निश्चित होती है।

ॐ स्थित्यदनाभ्यां च ॐ ।१।३।१।७॥

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते, तयोरन्यः

पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इति ईशजीवयोः स्थित्यदनोक्तेः ।

'दो मित्र पक्षी एक ही वृक्ष पर एकत्र बैठे हैं, उनमें से एक फल को खाता है दूसरा केवल देखता भर है खाता नहीं' इत्यादि श्रुति में शरीर रूपी वृक्ष पर ईश और जीव की स्थिति तथा भोग और देखने की चर्चा करके स्पष्टतः भेद दिखलाया गया है।

२ अधिकरण

'प्राणो वा आशाया भूयान्' इत्युक्त्वा 'यो वै भूमा तत्सुखम्' इत्युक्ते तस्यैव भूमत्वप्राप्तिः । 'उत्क्रान्तप्राणान्' इत्यादि तल्लिंगात् प्राणशब्दश्च वायुवाची, इत्यतो वक्ति—

'प्राणो वा' आदि कहकर कहा गया कि 'जो भूया है सुख है' इस वचन से ब्रह्म का ही भूमत्व निश्चित होता है। क 'उत्कान्तप्राणान्' आदि लिंगों से तथा प्राण शब्द के प्रयोग भूमा तत्त्व वायुवाची प्रतीत होता है। इस पर सूत्रकार कहते हैं कि—

ॐ भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॐ ।१।३।२।८।।

सम्प्रसादात् पूर्णसुखरूपत्वात्, अध्युपदेशात् सर्वेषामुपर्युपदेशाच्च विष्णुरेव भूमा । सहस्रशीर्षं देवं विश्वाक्षं विश्वशम्भुवम् विश्वं नारायणं देवमक्षरं परमं पदम्, विश्वतः परमान्नित्यम् इति हि श्रुतिः । तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति इत्यादिना नोत्क्रमणादिलिंगविरोधोऽपि [illegible]

[illegible]

सम्प्रसाद अर्थात् पूर्णसुखरूप होने से तथा अध्युपदेश अर्थात् सबसे ऊँचे उसे कहा गया है, इसलिए भूमा, विष्णु ही निश्चित होता है। 'हजारशीरवाले, विश्वरूप नेत्रों वाले, विश्वरूप, नारायण, अक्षर, परमपद विश्व से पर, नित्य देव को' इत्यादि श्रुति भी है। 'उसके उत्क्रमण करने पर प्राण उत्क्रमण करता है' इत्यादि से, उत्क्रमण सम्बन्ध से जो प्राण वायु का संशय किया गया था उसका भी निराकरण हो जाता है उक्त वाक्य, उक्त संशयात्मक धारणा से विपरीत बात बतला रहा है।

ॐ धर्मोपपत्तेश्च ॐ ।१।३।२।९।।

सर्वगतत्वादिधर्मोपपत्तेश्च ।

सर्वगतत्व आदि विशेषताएँ भी भूमा की बतलाई गई हैं उससे भी भूमा विष्णु ही निश्चित होता है।

३ अधिकरण

अदृश्यत्वादिगुणा विष्णोरुक्ताः 'अदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रित्यादिना अहं सोममाहनसं बिभर्मि इत्यादेस्तस्यापि सम्भवान्मध्यमाक्षरस्योक्ता इत्यतोऽब्रूते—

अदृश्यता आदि गुण विष्णु के बतलाये गये 'अदृष्ट द्रष्ट श्रुतं श्रोत्र' इत्यादि से तथा 'अहं सोममाहन संविभर्मि' इत्यादि से अक्षर प्रकृति की प्रतीति होती है। इस पर सूत्रकार कहते हैं कि—

ॐ अक्षारमम्बरान्तधृतेः ॐ ।१।३।३।१०।।

'एतस्मिन्खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेत्यम्बरान्तस्य सर्वस्य धृतेर्ब्रह्मैवाक्षरम् । य उ त्रिधातु पृथिवीमुत धामेको दाधार भुवनानि विश्वा । भर्त्ता संभ्रियमाणो बिभर्ति एको देवो बहुधा निविष्टः । यदा भारतंद्रयसे सभर्त्तु परास्य भारं पुनरस्तमेति यस्मिन्निदं सञ्चविचैधि सर्वं यस्मिन्देवा अधिश्वि निषेदुः' इत्यादिश्रुतेः

"पृथिव्यादि प्रकृत्यन्तं भूतं भव्यं भवच्च यत् ।
विष्णुरेको बिभर्तीदं नान्यस्तस्मात्क्षमो धृतौ ।।"

इति स्कान्दे ।

'हे गार्गि इस अक्षर में आकाश ओत प्रोत है' इत्यादि श्रुति अम्बरान्त समस्त विश्व की धृति अक्षर में दिखलाई गई जिससे अक्षर ब्रह्म ही निश्चित होता है। 'वह पृथिवी आकाश आदि को तथा भुवनों को अकेला ही धारण करता है, वह एक ही समस्त लोकों को धारण करता हुआ अनेक रूपों में बैठा हुआ पोषण करता है। जिस समय वह भर्त्ता विश्व के भार को वहन करने में शिथिल हो जाता है उस समय उस परमात्मा का भारस्वरूप यह विश्व नष्ट हो

जाता है। जिसमें यह सारा विश्व स्थिर होकर सचेष्ट है, जिसमें देवता स्थिर हैं।' इत्यादि श्रुति से उक्त अक्षर की महिमा बतलाई गई है। 'पृथिवी आदि प्रकृत्यन्त जो कुछ भी था, है और होगा वह सब कुछ अकेले विष्णु ही धारण करते हैं, किसी अन्य में इसको धारण करने की क्षमता नहीं है।' ऐसा स्कन्द पुराण का भी वचन है।

ॐ सा च प्रशासनात् ॐ ।१।३।३।११।।

सा च धृतिः प्रशासनाद् उच्यते 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' इत्यादिना। तच्च प्रशासनं विष्णुरेव 'सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि, चतुर्भिस्साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तं व्यतीं रवीविपद्' इत्यादि श्रुतेश्च। 'एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता यो हृच्छयस्तमहमिह ब्रवीमि न केवलं मे भवतश्च राजन् स वै बलं बलिनां चापरेषाम्' इत्यादेश्च।

ऊपर जो धृति की चर्चा की गई वह अक्षर के प्रशासन से बतलाई गई है – 'हे गार्गि ! इस अक्षर के प्रशासन में सूर्य और चन्द्र टिके हुए हैं।' ऐसा प्रशासन तो विष्णु का ही हो सकता है। 'सप्तार्धगर्भाभुवनस्य रेतो विष्णोः' इत्यादि श्रुति में विष्णु के प्रशासन में धृति का स्पष्ट उल्लेख है। एक ही शास्ता है, कोई दूसरा शास्ता नहीं है, जो कि हृदय में शयन कर रहा है, उसी की कृपा से मैं ऐसा कह पा रहा हूँ, राजन ! वह केवल मुझमें या आप में ही नहीं है, बड़े से बड़े बलवानों में विराजमान है।' इत्यादि भी उक्त कथन की पुष्टि करता है।

ॐ अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॐ ।१।३।३।१२।।

'अस्थूलोऽनणुरमध्यमो मध्यमोऽव्यापको व्यापको योऽसौ हरिरादिरनादिरविश्वो विश्वः सगुणो निर्गुणः।' इत्यादेर्विष्णोरेव हि ते धर्माः

'अस्थूलोऽनणुरूपोऽसावविश्वोऽविश्व एव च।
विरुद्धधर्मरूपोऽसावैश्वर्यात् पुरुषोत्तमः।।'

इत्यादि ब्राह्मे।

'सूक्ष्म, स्थूल, अमध्यम मध्यम, अव्यापक, व्यापक जो हरिः है वह आदि अनादि अविश्व विश्व सगुण और निर्गुण हैं' इत्यादि विलक्षण धर्म विष्णु में ही संभव है। जैसा कि ब्रह्म पुराण में भी आता है– "यह सूक्ष्म स्थूल रूप विश्व और अविश्व है, विरुद्ध धर्मरूप होने से इसका ऐश्वर्य प्रतिभासित होता है और यह पुरुषोत्तम है।'

४ अधिकरण

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादिका सतः स्रष्टृत्वमुच्यते। तच्च सत्–'बहुस्यां प्रजायेयेति' परिणामप्रतीतेर्न विष्णुः। 'स ह्यविकारः सदा शुद्धो नित्य आत्मा सदा हरिः' इत्यादिना अविकारः प्रसिद्धः, इत्यतोऽब्रवीत्।

'हे सौम्य ! सृष्टि के पूर्व सत् ही था' इत्यादि से सत् का स्रष्टृत्व बतलाया गया है। उस सत् में 'बहुस्यां प्रजायेय' इत्यादि परिणाम की चर्चा है, जो कि विष्णु में संभव नहीं है। वह हरि सदा अविकार सदा शुद्ध नित्य आत्मा है।' इत्यादि में विष्णु अविकार रूप से प्रसिद्ध है। इसका उत्तर देते हैं––

ॐ ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः ॐ ।१।३।४।०।४३।।

'तदैक्षत्' इति ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् स एव विष्णुरत्रोच्यते। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृत्यादिना तस्यैव हि तल्लक्षणम्। बहुत्वं चाविकारेणैवोक्तम् 'अजायमानो बहुधा विजायते' इति।

'तदैक्षत्' पद में सत् के ईक्षण कर्म का उल्लेख किया गया है इसलिए विष्णु ही उक्त प्रकरण में सत् नाम से उल्लिखित हैं। इसके अतिरिक्त द्रष्टा और द्रष्टृ कोई और नहीं है।' इत्यादि लक्षण विष्णु के ही सभव हैं। 'अजायमानो बहुधा विजायते' में विष्णु का बहुत्व भी अविकृत रूप से वर्णन किया गया है।

५ अधिकरण

चन्द्रादित्याद्याधारत्वं विष्णोरुक्तम्। तच्च 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोस्मिन्नंतराकाशः किं तदत्र विद्यते 'उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते, उभावग्निश्च वायुश्च

सूर्याचन्द्रमसावुभौ । विद्युन्नक्षत्राणि' इत्यादिना आकाशस्य प्रतीयते । स चाकाशो न विष्णुः 'तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मं तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ।' इति श्रुतेः । इत्यत आह—

चन्द्र सूर्य आदि का आधारत्व विष्णु का बतलाया गया । 'जो इस ब्रह्मपुर-दहरपुण्डरीक के अन्दर दहर आकाश है उसमें क्या हैं? इसमें आकाश और पृथिवी भीतर हो समाहित है, अग्नि और वायु, सूर्य और चन्द्र विद्युत नक्षत्र आदि हैं' इत्यादि वर्णन तो भूताकाश का प्रतीक होता है वह आकाश तो विष्णु है नहीं 'उसमें तो अत्यन्त सूक्ष्म सब कुछ प्रतिष्ठित है' ऐसा श्रुति का प्रमाण है। इसका उत्तर देते हैं—

ॐ दहर उत्तरेभ्यः ॐ ।१।३।५।१४।।

'य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघित्सोपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य' इत्यादिभ्य उत्तरेभ्यो गुणेभ्यो दहरे विष्णुरेव । 'योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युं अत्येति, स एव सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित 'इत्यादिना विष्णोरेव हि ते गुणाः ।

"नित्यतीर्णाशिनायादिरेक एव हरिः स्वतः ।,
अशनायादिकानन्ये तत्प्रसादात्तरन्ति हि ।"

इति पाद्मे । सापेक्षनिरपेक्षयोश्च निरपेक्षं स्वीकर्त्तव्यम् ।

"सत्यकामः परो नास्ति तमृते विष्णुमव्ययम् ।
सत्यकामत्वमन्येषां भवेत्तत्काम्यकामिता ।"

इति स्कान्दे ।

'जो आत्मा निष्पाप, जरा, मृत्यु, शोक, भूख, प्यास रहित सत्यकाम और सत्य संकल्प है, उसे ही अन्वेषण करना चाहिये उसे ही जानने की चेष्टा करनी चाहिये' इत्यादि जो दहर के बाद में कहे गये गुण हैं वह विष्णु में ही घटित होते हैं। 'जो बिना खाये पिये शोक, मोह, जरा मृत्यु का अतिक्रमण करता है' वही सभी पापात्माओं में व्याप्त हैं' इत्यादि में वे सारे गुण विष्णु के ही बतलाए गए हैं।

'एक मात्र हरि ही भूख, प्यास को नित्य जीते हुए हैं, बाकी सब तो उन्हीं की कृपा से भूख-प्यास को जीतते हैं।' ऐसा पद्मपुराण का वचन है। सापेक्ष, निरपेक्ष में निरपेक्ष को ही स्वीकारना चाहिये जैसा कि स्कन्दपुराण में किया गया है— 'उस अव्यय विष्णु के अतिरिक्त कोई दूसरा सत्यकाम नहीं है, अन्यों में जो सत्यकाम शब्द का प्रयोग होता है वह उनकी प्राप्ति की इच्छा के अर्थ में होता है।' इत्यादि

ॐ गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च ॐ ।१।३।५।१५।।

'अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' इति सुप्तस्य तद्-गतिर्ब्रह्मशब्दश्चोच्यते । 'सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति' इति श्रुतेः तं हि सुप्तो गच्छति । 'अरश्च ह वैण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोक' इति लिङ्गं च तथाहि दृष्टम् । अरश्च वैण्यश्च सुधासमुद्रौ तत्रैव सर्वाभिमतप्रदौ द्वौ इत्यादिना तस्यैव तल्लक्षणत्वेन उच्यते ।

'प्रतिदिन जाते हैं' इत्यादि में सुप्त व्यक्ति की भगवत्प्राप्ति और ब्रह्म शब्द से दहर आकाश, ब्रह्म ही निश्चित होता है। 'सता सौम्य तदा सम्पन्नो' इत्यादि श्रुति, उस ब्रह्म को ही सुप्त जीव प्राप्त करता है, ऐसा निर्णय करती है। 'अरश्च ह वैण्यश्च' इत्यादि लिङ्ग भी उसी का समर्थन करते हैं। 'अरश्च वैण्यश्च सुधासमुद्रौ' इत्यादि से उसके लक्षणत्व के रूप को प्रस्तुत किया गया है।

ॐ धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॐ ।१।३।५।१६।।

'एष सेतुर्विधृतिः' इति धृतेः । 'एष भूताधिपतिरेष भूतपालः इत्याद्यस्य महिम्नोऽस्मिन्नुपलब्धेः ।' एतस्मिन्खलु अक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च, 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि' स हि सर्वाधिपतिः स हि सर्वपालस्य ईशः स विष्णुः, 'पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम्' इत्यादिश्रुतिभ्यः तस्य ह्येष महिमा । 'सर्वेशो विष्णुरेवैको नान्योऽस्ति जगतः पतिः' इति स्कान्दे ।

'एष सेतुर्विधृतिः' श्रुति में धृति का उल्लेख किया गया है 'यही भूतातिपति है यही भूतपाल है' इत्यादि से उसी की महिमा ज्ञात होती है। 'हे गार्गी ! इसी

अक्षर में आकाश ओत-प्रोत है' 'हे गार्गी ! इसी अक्षर के प्रशासन में' वही सर्वाधिपति सर्वपाल ईश और विष्णु है 'यह विश्व का पति आत्मा ईश्वर है' इत्यादि से भी उसी की महिमा बतलाई गई है। स्कन्दपुराण में भी उसकी महिमा का उल्लेख है— 'एक मात्र विष्णु ही सर्वेश और जगत के स्वामी हैं कोई और नहीं है'

ॐ प्रसिद्धेश्च ॐ ।१।३।५।१७।।

तथापि दहरं अस्मिन् 'विशोकस्तस्मिन्यदन्तस्तदुपासितव्यम्' इति प्रसिद्धेश्च । तदन्तस्थस्यापेक्षितत्वान्न शुषिरश्रुतिविरोधः ।

'उस (सोऽन्वेष्टव्यः) की उपासना करनी चाहिये जो कि दहराकाश के अन्तस में छिपा हुआ है' ऐसा प्रसिद्ध दहर शब्द भी है । उसमें अन्तस्थ अपेक्षित है इसलिए सुषिर श्रुति से कोई विरोध नहीं होता ।

ॐ इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासम्भवात् ॐ ।१।३।५।१८।।

'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते एष आत्मेति होवाच' इति जीवपरामर्शात् स इति चेन्न, तस्य स्वतोऽपहतपाप्मत्वाद्यसंभवात् ।

'परं ज्योति को प्राप्त कर अपने वास्तविक रूप से निष्पन्न होता है इसे आत्मा कहते हैं' इत्यादि में जीव के विषय में विचार किया गया है, इसलिये वही हो सो बात नहीं है, उसमें स्वतः निष्पापता आदि गुणों को उत्पन्न करना संभव नहीं है ।

ॐ उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॐ ।१।३।५।१९।।

'स तत्र पर्येति जक्षन्क्रीडन् रममाणः' इत्याद्युत्तरवचनात् जीव एवेति चेन्न । तत्र हि परमेश्वरप्रसादादाविर्भूतस्वरूपो मुक्त उच्यते । यत्प्रसादात् स मुक्तो भवति स भगवान् पूर्वोक्तः ।

'स तत्र पर्येति' इत्यादि उत्तरवचन से तो जीव की ही प्रतीति हो रही है, यह भी भ्रम है, उक्त प्रकरण में परमेश्वर की कृपा से जीव की आविर्भूत स्वरूप मुक्ति का उल्लेख है । जिसकी कृपा से वह जीव मुक्त होता है, उन भगवान का पहिले वर्णन किया गया है ।

ॐ अन्यार्थश्च परामर्शः ॐ ।१।३।५।२०।।

यं प्राप्य स्वेन रूपेण जीवोऽभिनिष्पद्यते 'स एषां आत्मा' इति परमात्मार्थश्च परामर्शः ।

जिनको प्राप्त कर जीवात्मा अपने वास्तविक रूप से निष्पन्न होता है, उनका 'स एष आत्मा' कहकर परामर्श किया गया है, जो कि परमात्मवाची है ।

ॐ अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॐ ।१।३।५।२१।।

'दहरः' इत्यल्पश्रुतेरिति चेन्न, निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्चेत्युक्तत्वात् 'एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्' इति श्रुत्युक्तत्वाच्च ।

यह कथन भी असंगत है कि दहर श्रुति अल्प है, उसे तो 'निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च' में आकाश की तरह विशाल कहा गया है 'मेरे आत्मान्तर्हृदयाकाश में वह विशाल है' इत्यादि श्रुति भी उक्त कथन का समर्थन कर रही है ।

६ अधिकरण

अदृश्यत्वादयः परमेश्वरगुणा उक्ताः तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषां 'तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखं' इत्यादिना ज्ञानसुखस्याप्यनिर्देश्यत्वमज्ञेयत्वं चोच्यत इत्यतो वक्ति—

अदृश्यता आदि गुण परमेश्वर के ही बतलाये गये हैं, उनका सुख भी शाश्वत कहा गया है जैसा किसी को भी प्राप्त नहीं है 'वह ऐसा मानते हैं कि अनिर्देश्य का सुख ही श्रेष्ठतम है' इत्यादि से ज्ञानी के सुख की भी अनिर्देश्यता अज्ञेयता निश्चित हो जाती है । इस पर सूत्रकार कहते हैं कि—

ॐ अनुकृतेस्तस्य च ॐ ।१।३।६।२२।।

'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इत्यनुकृतेः 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति वचनाच्च परमात्मैवानिर्देश्यसुखरूपः । न हि ज्ञानिसुखमनुभाति सर्वम्, न च तद्भासा । अहं तत्तेजोरश्मीदिति नारायणभासा हि सर्वं भाति' ।

'उसकी शोभा से ही सब कुछ सुशोभित होता है' ऐसे अनुकृति के वर्णन से तथा 'उसके प्रकाश से यह सब कुछ प्रकाशित है' इस वचन से परमात्मा ही

अनिर्देश्य सुख रूप निश्चित होता है 'ज्ञानी के सुख का कोई अनुभव नहीं करता न उसके प्रकाश से प्रकाशित ही होता है।' मैं उसके तेज की रश्मि हूँ इस वचन से निश्चित हो जाता हैं कि नारायण के प्रकाश से ही सब कुछ प्रकाशित होता है।

ॐ अपि स्मर्यते ॐ ।१।३।६।२३।।

'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ।।' इति
'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।' इति च

'जो सूर्यगत तेज है जिससे कि सारा जगत प्रकाशित होता है तथा जो चन्द्रमा में प्रकाश है और अग्नि में प्रकाश है, उस तेज को मेरा ही जानो' 'वहाँ न सूर्य का प्रकाश होता है, न चन्द्र का न अग्नि का, जहाँ जाकर जीव को लौटना नहीं पड़ता वह मेरा परम धाम है।' इत्यादि स्मृति वाक्य भी उक्त मत की पुष्टि करते हैं।

७ अधिकरण

विष्णुरेव जिज्ञास्य इत्युक्तम्, तत्र

'ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासेते ।।'

इति सर्वदेवोपास्यः कश्चित् प्रतीयते। 'स च एवमेवैष प्राण' इतरान् प्राणान् पृथक् पृथगेव सन्निधत्ते 'योऽयं मध्यमः प्राणः।' कुविदङ्ग' इत्यादिना प्राणव्यवस्थापकत्वान्मध्यमत्वात् सर्वदेवोपास्यत्वाच्च वायुरेवेति प्रतीयते। अतोऽब्रवीत्—

विष्णु को ही जिज्ञास्य कहा गया किन्तु 'ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्' इत्यादि वचन से तो सर्वदेवोपास्यता ज्ञात होती है। 'स च एवमैष प्राणः' 'इतरान् प्राणान्' योऽयं मध्यमः प्राणः 'कुविदङ्ग' इत्यादि वचनों से तो प्राण व्यवस्थापक, मध्यम और सर्वदेवोपास्य होने से वायु की ही प्रतीति होती है। इसका उत्तर देते हैं—

ॐ शब्दादेव प्रमितः ॐ ।१।३।७।२४।।

'वामनशब्दादेव विष्णुरिति प्रमितः न हि श्रुतेर्लिङ्गं बलवत्
श्रुतिर्लिङ्गं समाख्या च वाक्यं प्रकरणं तथा ।
पूर्वं पूर्वं बलीयः स्यादेवमागमनिर्णयः ।।'

इति स्कान्दे। तच्च लिंगं विष्णोरेव 'तस्यैव प्राणत्वोक्तेस्तद् वै त्वं प्राणो अभवः' इति।

'ऊर्ध्वं प्राणं' इत्यादि श्रुति में 'मध्ये वामनमासीनं' ऐसा कहकर वामन का स्पष्ट उल्लेख किया गयाहै, जिससे विष्णु की प्रतीति होती है। श्रुति से लिंग बलवान नहीं होता जैसा कि स्कन्द पुराण में उल्लेख है—'श्रुति, लिंग, समाख्या, वाक्य, प्रकरण में पूर्व-पूर्व बलीय होते हैं, ऐसा ही आगम के सम्बन्ध में निर्णय किया जाता हैं। उक्त श्रुति में वामन शब्द विष्णु का ही बोधक है 'तस्यैव प्राणत्व' इत्यादि श्रुति में तो स्पष्ट रूप से विष्णु के ही प्राणत्व का उल्लेख है—

ॐ हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॐ ।१,३।७।२५।।

सर्वगतस्यापि तस्याङ्गुष्ठमात्रत्वं हृद्यवकाशापेक्षया युज्यते इतरप्राणिनामंगुष्ठाभावेऽपि मनुष्याधिकारत्वान्न विरोधः।

सर्वव्यापक होते हुए भी उस परमात्मा को अंगुष्ठ परिमाण का बतलाया गया है, यह रूप मनुष्य से अंगुष्ठ परिणाम हृदय के आधार पर आधारित है, क्योंकि मनुष्य उस हृदय में परमात्मा के स्वरूप का ध्यान करता है। मनुष्येतर प्राणियों का हृदय अंगुष्ठ परिमाण का नहीं होता किन्तु ध्यान मनुष्य ही कर सकता है, इसलिए उक्त बात सुसंगत है।

८ अधिकरण

मनुष्याणामेव वेदविद्याधिकार इत्युक्तम्। तिर्यगाद्यपेक्षयैव मनुष्यत्वविशेषणंमुक्तं नः तु देवाद्यपेक्षयेत्याह—

मनुष्यों का ही वेद विद्या में अधिकार कहा गया है। तिर्यग् आदि योनियों की दृष्टि से मनुष्य ऐसा विशेषण दिया गया है, देव आदि योनियों का निराकरण तो है नहीं। इस पर सूत्रकार का मत है कि —

ॐ तदुपर्यपि बादरायाणः सम्भवात् ॐ ।।१।३।८।२६।।

तदुपरि मनुष्याणां सतां देवादित्वप्राप्त्युपरि संभवति हि तेषां विशिष्टबुद्ध्यादिभावात् । तिर्यगादीनां तदभावादभावः । नेषामपि प्रत्र विशिष्टबुद्ध्यादिभावस्तत्राबिरोधः, निषेधाभावात् । दृश्यन्ते हि नरितार्यादयः ।

मनुष्य ही देव आदि योनियों को प्राप्त करते हैं, क्योंकि उनमें विशिष्ट द्धि रहती है। तिर्यग् आदि योनियों में उस प्रकार की बुद्धि का अभाव हता है इसलिए उनके लिए वेदाधिकार का निषेध है। उनमें भी जहां शिष्ट बुद्धि होती, उनके लिए निषेध नहीं है। जारितारि आदि में उक्त कार की बुद्धि के अनुसार वेदाधिकार का प्रमाण भी है।

ॐ विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॐ ।।१।३।८।२७।।

मनुष्या एव देवायो भवन्ति इति तदुपरीत्युक्तम् । तत्र यदि नुष्याः सन्तो देवादयो भवन्ति तत्पूर्वं देवताभावाद् देवतोपदिष्टकर्मणि रोध इति चेन्न । अनेकेषां देवतापदप्राप्तेर्दर्शनात् । तेहनाकं हेमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः' इति ।

मनुष्य ही देव आदि योनियों को प्राप्त करते हैं, ऐसा तदुपरि पद में कार प्रदर्शित करते हैं। यदि मनुष्य योनि में ही देव आदि योनियाँ होती उसके पूर्व उनमें देवत्व भाव होने से देवोप्रदिष्ट कम में विरोध दिखलाया या ? सो बात भी नहीं है अनेकों मनुष्यों ने देवता पद प्राप्त किया 'तेह- क महिमानः' इत्यादि में ऐसा उल्लेख है।

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॐ।।१।३।८।२८।।

'वाचा विरूप नित्यया, इत्यादिश्रुतेः, आप्त्यनिश्चययान्नित्यत्वा- त्वाच्च मूलप्रमाणस्य स्वतः प्रामाण्यसिद्धेश्च नित्यत्वाद्वेदस्य दितानां देवानामनित्यत्वात् पुनरन्यभावनियमाभावाच्च शब्दे ोध इति चेन्न । 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' ।

'यथैव नियमः काले सुरादिनियमस्तथा ।
तस्मान्नानीदृशं क्वापि विश्वमेतद् भविष्यति ।।'

'इत्यादेः अत एव शब्दात्तेषां प्रभवनियमात्, महतां प्रत्यक्षात् यथेदानीं तथोपर्यपि देवा भविष्यन्ति इतोतरेषामनुमानाच्च ।

यदि कहें कि--'वाचा विरुप नित्यया' इत्यादि श्रुति में देवताओं को प्राप्ति अनिश्चित बतलाई गई है, देवताओं का नित्य होना भी आवश्यक कहा गया है, मूल प्रमाण वेद में जब उपर्युक्त श्रुति के अनुसार स्वतः ही संशय है तथा वेद नित्य है और उनमें बतलाये गये देवता अनित्य हैं, और फिर देवता किसी अन्य भाव को प्राप्त होते नहीं, इस प्रकार शब्द प्रमाण में ही परस्पर विरोध है। अतः देवताओं का अस्तित्व संशयित है। ऐसा संशय भी नासमझी है।' ब्रह्मा ने पूर्व सृष्टि के अनुसार सूर्य और चन्द्रमा को 'जैसा कि काल का नियम है वैसा ही देवताओं का भी नियम है यदि ऐसा न होता तो इस प्रकार की सृष्टि संभव नहीं थी। इत्यादि से वेद में देवताओं के जन्म का नियम बतलाया गया है, महान् लोगों का देवताओं का प्रत्यक्ष भी होता है, आज भी हमसे ऊपर देवता हैं ऐसो सामान्य लोगों को अनुमति होती हैं, अतः देवताओं का अस्तित्व असशयित है।

ॐ अत एव च नित्यत्वम् ॐ ।।१।३।८।२९।।

अत एव शब्दस्य नित्यत्वादेव च देवप्रवाहनित्यत्वं युक्तम् ।

शब्द नित्य है इसलिए देवताओं की प्रवाहनित्यता माननी चाहिए।

ॐ समाननामरुपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ॐ ।।१।३।८।३०।।

अतीतानागतानां देवानां समाननामरूपत्वात् प्राप्तपदानां मक्त्यावृत्ताप्यविरोधः । यथापूर्वमिति दर्शनात् ।

'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा ।
ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः ।।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः ।।' इति स्मृतेश्च ।

बीते हुए और होने वाले देवताओं का नाम रूप समान ही बतलाया गया है इसलिए मुक्ति और आवृत्ति में कोई विरूद्धता नहीं हैं। 'यथापूर्वमकल्पयत' में नामरूप की समानता का स्पष्ट उल्लेख है 'स्वयंभु ब्रह्मा ने वेदों में जो ऋषियों के नाम देखे, उन्हीं अनादि नित्यनामों के अनुसार सृष्टि की 'महेश्वर ने वेद शब्दों से ही सृष्टि की' इत्यादि स्मृति से भी प्रवाहनित्यता प्रमाणित होती है।

ॐ मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः ॐ ।१।३।८।३१।।

'वसूनामेवैको भूत्वा' इत्यादिना प्राप्यफलत्वात्प्राप्तपदानां देवानां मध्वादिविद्यास्वनाधिकारं जैमिनिर्मन्यते ।

'वसूनामेवैको भूत्वा' इत्यादि श्रुति से देवताओं को फलस्वरूप से प्राप्य बतलाया गया गया हैं, अतः जब देवता उस पदको प्राप्त कर चुके जिसके लिए उपासना की जाती है, तो उन्हें उपासना करने की अपेक्षा ही क्या है, इस दृष्टि से जैमिनि मधु आदि विद्याओं में देवताओं का अनधिकार मानते हैं।

ॐ ज्योतिषि भावाच्च ॐ ।१।३।८।३२।।

ज्योतिषि भर्वज्ञत्वे भावाच्च आदित्यप्रकाशेऽन्तर्भाववत्तज्ज्ञाने सर्ववस्तूनामन्तर्भावान्नित्यसिद्धत्वाच्च विद्यानाम् ।

देवताओं को ज्योति स्वरूप कहा गया है, जिससे सर्वज्ञता का भाव निश्चित होता है, जैसे कि सूर्य के प्रकाश में सारे प्रकाश समा जाते हैं वैसे ही प्रकाशस्वरूप देवताओं के ज्ञान में समस्तवस्तुओं का ज्ञान समा जाते है, इस दृष्टि से देवताओं को तो विद्याओं की नित्य सिद्धि है ही।

ॐ भाव तु बादरायणोऽस्ति हि ॐ ।१।३।८।३३।।

फले विशेषभावात् प्राप्तपदानामपि देवानां मध्वादिष्वधिकारं बादरायणो मन्यते । अस्ति हि प्रकाशविशेषः ।

'यावत्सेवापरे तत्त्वे तावत्सुखविशेषता ।
सम्भवाच्च प्रकाशस्य परमेकमृते हरिम् ।।
'तेषां सामर्थ्ययोगाच्च देवानामप्युपासनम् ।
सर्वं विधीयते नित्यं सर्वयज्ञादि कर्म च ।।' इति स्कान्दे ।

उक्तफलानधिकारमात्रं जैमिनिमतम् । अतो न मतविरोधः ।

'सर्वज्ञस्यैव कृष्णस्य त्वेकदेशविचिन्तितम् ।
स्वीकृत्य मुनयो ब्रूयुस्तन्मतं न विरुध्यते' ।। इति ब्राह्मे ।

फलविशेष (भागवत्प्राप्ति के लिए) देव पद को प्राप्त जीव भी मधु आदि विद्याओं की साधना करते हैं, ऐसा बादारायणचार्य का मत है। उन प्रकाश स्वरूप देवताओं से अधिक भी एक विशेष प्रकाश है। 'जिस समय पर तत्व की सेवा की जाती है उस समय सुखविशेष की प्राप्ति होती है और अलौकिक प्रकाश मिलता है जो कि हरि के अतिरिक्त किसी और का प्रकाश नहीं हो सकता। उस प्रकाश की सिद्धि कर लेने से ही देवताओं को भी उपासना की जाती है, समस्त यज्ञ आदि कर्म और समस्त विधियाँ उस परम ज्योति की प्राप्ति का विधान करते हैं' ऐसा स्कन्द पुराण का भी वचन है। उक्त फल के अनाधिकारमात्र का जैमिनी उल्लेख करते हैं, इसलिए सूत्रकार ने उनका कोई मत विरोध नहीं है। 'सर्वज्ञ कृष्ण का एक विशेष रूप में चिन्तन किया जाता है, इस बात को मान कर मुनि लोग जैमिनी के मत को विरुद्ध नहीं मानते।' ऐसा ब्रह्म पुराण में उल्लेख है।

९ अधिकरण

मनुष्याधिकारत्वादित्युक्तेऽविशेषाच्छूद्रस्याप्य 'हहारेत्वा शूद्रेति' पौत्रायणोक्तेरधिकारः । इत्यत आह—

वेद में मनुष्य का अधिकार बतलाया गया किसी जाति विशेष को तो चर्चा की नहीं गई इसलिए शूद्र की भी उसमें गणना हो जाती है तथा अहहारेत्वाद शूद्र' इस पौत्रायण उक्ति से शूद्र का भी वेदाधिकार निश्चित होता है। इस पर सूत्रकार अपना मत देते हैं—

ॐशुगस्य तदनादरश्रवणात् तदावणात् सूच्यते हि ॐ ।१।३।९।३४।।

नासौ पौत्रायणः शूद्रः शुचा द्रवणमेव शूद्रत्वम् । 'कम्वर एनमेतत्सन्तमि' त्यनादरश्रवणात् । 'सह संजिहान एव क्षतारमुवाचेति' सूच्यते हि ।

पौत्रायण शूद्र नहीं था वह तो शोक से मलिन हो गया था इसलिए उसमें शूद्रत्व आ गया था 'कम्बर एनमेतत्सन्तम्' इस अनादर सूचक वाक्य से उक्त मत की पुष्टि होती है।' सहसंजिहान एवक्षत्तारमुवाच श्रुति में उसका क्षत्रिय होना सूचित होता है।

ॐ क्षत्रियत्वावगतेश्च चैत्ररथेन लिङ्गात् ॐ।१।३।६।३५।

'अयमश्वतरीरथः' इति चित्ररथसम्मन्धित्वेन लिंगेन पौत्रायणस्य क्षत्रियत्वावगतेश्च।

'रथस्त्वश्वतरीयुक्तश्चित्र इत्यभिधीयते' इति ब्राह्मे।

'यत्र वेदो रथस्तत्र न वेदो यत्र नो रथः।' इति ब्रह्मवैवर्त्ते।

'अयमश्वतरीरथः इत्यादि में पौत्रायण का छोटी सी घोड़ी से जुते हुए विचित्र रथ का संबन्ध दिखलाया गया है, रथ साथ रखना क्षत्रियों का ही स्वभाव होता है, इससे भी पौत्रायण का क्षत्रियत्व ज्ञात होता है। 'रथस्तत्र न वेदो यत्र' तथा 'रथास्त्वश्वनरीयुक्ता' इत्यादि ब्रह्मवैवर्त और ब्रह्म पुराण के वचनों से उक्त कथन की पुष्टि होती है।

ॐ संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॐ।१।३।६।३६।।

'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयोत' इत्यध्ययनार्थ संस्कार-परामर्शात्। 'नाग्निर्न यज्ञो र क्रिया न संस्कारो न व्रतानि शूद्रस्य' इति पैंगिश्रुतौ संस्काराभावाभिलापाच्च।

'आठ वर्ष के ब्राह्मण बालक का यज्ञोपवित करके उसे पढ़ाओ' इत्यादि में अध्ययन के लिए संस्कार कराने का परामर्श दिया गया है 'शूद्र को अग्नि-यज्ञ, क्रिया संस्कार और व्रत मैं अधिकार नहीं हैं' इत्यादि पङ्गि श्रुति मे शूद्र के लिए संस्कार का निषेध किया गया है, इससे भी वेदाध्ययन में शूद्र का अनाधिकार सिद्ध होता है।

उत्तमस्त्रीणां तु न शूद्रवत्। 'सपत्नीं मे पराधम' इत्यादिष्व-धिकारदर्शनात्। संस्कारभावेनाभावस्तु सामान्येन। अस्ति च तासां संस्कारः।

'स्त्रीणां प्रदानकर्मैव यथोपनयनं तथा' इति स्मृतेः।

उत्तम स्त्रियों का शूद्र की तरह अनाधिकार नहीं है 'सपत्नीमेपराधम्' इत्यादि श्रुति में अनेक अधिकार की चर्चा को गई है। संस्कार से ही उन्हें भी अधिकार मिलता है, सामान्यतः उनका पृथक् संस्कार नहीं होता वैसे तो उनका संस्कार होता ही है जैसा कि स्मृति का प्रमाण भी है' वर को कन्या-दान देने मात्र से स्त्रियों का उपनयन संस्कार हो जाता है।'

ॐ तदभावनिर्धारणे च पवृत्तेः ॐ। १।२।६।३७।।

'नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्रोहमस्मि' इति सत्यवचनेन सत्य-कामस्य शूद्रत्वाभावनिर्धारणे हारिद्रुमतस्य नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हतीति तत्संस्कारे प्रवृत्तेश्च।

'भगवान्! मैं यह नहीं जानता कि मैं किस गोत्र का हूँ' इस सत्य वचन से सत्यकाम का शूद्रत्व अभाव निश्चित करके ऋषि हारिद्रुम ने सोचा कि ब्राह्मण के अतिरिक्त ऐसा कोई नहीं कह सकता। उन्होंने उसका उपनयन संस्कार भी कराया। इस बात से भी शूद्र के अनधिकार को बात निश्चित होती है।

ॐ श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च ॐ।१।३।६।३८।।

श्रपणे त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणम्, अध्ययने जिह्वाच्छेदः अर्थावधारणे हृदयविरणमिति प्रतिषेधात्।

'नाग्निर्न यज्ञः शूद्रस्य तथैवाध्ययनं कुतः।
केवलैव तु शुश्रूशा त्रिवर्णानां विधीयते।।

इगि स्मृतेश्च। विदुरादीनां तूत्पन्नज्ञानत्वात् न कश्चिद्द विशेषः।

वेद श्रवण करने पर जस्ता और लाह से कानों को बन्द करके अध्ययन करने पर जिह्वा काटने, अर्थ का चिन्तन करने पर हृदय विदीर्ण करने का उल्लेख वेद में किया गया है उससे अनाधिकार निश्चित होता है तथा 'शूद्र के लिए अग्नि रहित यज्ञ की आज्ञा है, अध्ययन की तो चर्चा ही कैसे हो सकती है, उसके लिए तो केवल तीन वर्णो की सेवा का ही विधान है, इस स्मृति

से भी अनाधिकार निश्चित होता है। विदुर आदि कुछ विशिष्ट ज्ञानी इसके अपवाद हैं।

१० अधिकरण

'यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्, महद्भयं वज्र-मुद्यतं य एवं विदुरमृतास्ते भवन्ति' इति उद्यतवज्रज्ञानान्मोक्षः श्रूयते। इत्यतो ब्रवीत्—

'यदिदं किं च' इत्यादि मंत्र में वज्र उठाए हुये इन्द्र की जानकारी से मोक्ष बतलाया गया प्रतीत होता है। इस संशय का उत्तर देते हैं—

ॐ कम्पनात् ॐ ।१।३।१०।३९॥

'एजति' इति कम्पनवचनात् उद्यत्वज्रो भगवानेव। 'को ह्येवान्यत्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनदो न स्यात्' इति श्रुतिः। 'प्राणस्य प्राणमुतचक्षुषश्चक्षुः' इति च!

'नभस्वतोऽपि सर्वाः स्युश्चेष्टा भगवतो हरेः।
किमुतान्यस्य जगतो यस्य चेष्टा नभस्वतः॥'

इति स्कान्दे।

'चक्रं चंक्रमणादेव वर्जनात् वज्रमुच्यते।
खण्डनाद् खड्ग एवैष हेतिनामा स्वयं हरिः॥'

इनि ब्रह्मवैवर्त्ते।

कम्पन के पर्यावाची 'एजति' पद से उद्यत वज्र भगवान ही निश्चित होते हैं। 'यदि यह आकाश का आनन्द न होता तो कौन जीवित रह सकता ऐसी श्रुति भी है 'वह प्राणों का प्राण नेत्रों का नेत्र है' ऐसी भी श्रुति है। 'सारा जगत वायु की चेष्टा से संचालित है, किन्तु वह वायु भी हरि की चेष्टा से चलता है' ऐसा स्कन्द पुराण का वचन है 'चंक्रमण करने चक्र, वर्जन करने से वज्र, खंडन करने से खड्ग इत्यादि नाम स्वयं हरि के ही हैं।' ब्रह्मवैवर्त पुराण भी ऐसा ही कहता है।

११ अधिकरण

'हृदय अहितं ज्योतिः परमात्मा' इत्युक्तम्। तत्र 'योऽयं विज्ञान-नमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' इत्यत्र 'उभौ लोकावनुसंचति' इति वचनात् जीव इति प्रतीयते इत्यत उच्यते—

'हृदय में विद्यमान ज्योति परमात्मा है, ऐसा उल्लेख है। उसी प्रकरण के 'जो यह विज्ञानमय प्राणों में हृद्यन्तर्ज्योतिपुरुष है' इस वाक्य में 'दोनों लोकों में भ्रमण करती है' ऐसा विशेषण दिया गया है जिससे जीव की प्रतीति होती है। इस भ्रम का समाधान करते हैं —

ॐ ज्योतिर्दर्शनात् ॐ ।१।३।११।४०॥

'विष्णुरेव ज्योतिः विष्णुरेवात्मा विष्णुरेव ब्रह्म विष्णुरेव बलं विणुरेव यशो विष्णुरेवानन्दः' इति दर्शनाच्चतुर्वेदशिखायाम् ज्योति-विष्णुरेव। प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ़ उत्सर्जद्याति' इति वचनात् तस्यापि लोकसंचरणमस्त्येव।

'विष्णु ही ज्योति हैं, विष्णु ही आत्मा हैं, विष्णु ही ब्रह्म हैं, विष्णु ही बल हैं', विष्णु ही यश हैं, विष्णु ही आनन्द हैं 'इस चतुर्वेद शिखा के वर्णन से विष्णु ही ज्योति रूप निश्चित होते हैं। 'प्राज्ञेनात्मन्वारूढ़ः' इत्यादि वचन से लोक-संचरण भी विष्णु का ही ज्ञात होता है।

१२ अधिकरण

सर्वाधारत्वं विष्णोरुक्तम्। 'तच्चाकाशो वै नाम तामरूपयो-र्निर्वहिता, इत्यत्राकाशस्य प्रतीयते। 'वैनाम' इति प्रसिद्धोपदेशात् प्रसिद्धाकाशश्चांगीकर्त्तव्यः। इत्यत उच्यते—

विष्णु की सर्वाधारकता कही गई है किन्तु 'आकाश नाम वाला नाम रूप का निर्वाहक है' इत्यादि से तो आकाश की प्रतीत हो रही है 'वैनाम' ऐसे प्रसिद्धि वाचक पद से प्रसिद्धाकाश को ही उक्त श्रुति का प्रतिपाद्य मानना चाहिये। इस पर कहते हैं—

ॐ आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॐ ।१।३।१२।४१।।

'ते यदन्तरा तद् ब्रह्म' इत्यर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् आकाशो हरिरेव । अवर्णं 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिश्रुतेस्तस्यैव हि तल्लक्षणम् 'अनामासोऽप्रसिद्धत्वादरूपो भूतवर्जनात्' पाद्मे ।

'जो अन्तर में है वह ब्रह्म है' ऐसे अर्थान्तर व्यपदेश से आकाश, हरि ही निश्चित होते हैं ।' जिसे न पाकर वाणी लौट आती है' इत्यादि श्रुति में अवर्ण भी ब्रह्म का ही लक्षण निश्चित होता है । 'अप्रसिद्ध होने से अनाम तथा भूत रहित होने से वह अरूप है' ऐसा पद्मपुराण का वचन है ।

१३ अधिकरण

असंगत्वं परमात्मन उक्तम्, तच्च 'स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवित असंगो ह्ययं पुरुषः' इति स्वप्नादिद्रष्टुः प्रतीयते. स च जीवः प्रसिद्धेः । इत्यतो वक्ति—

परमात्मा की असंगता बतलाई गई है किन्तु 'स यत्तत्र किंचित्' इत्यादि में वही असंगता स्वप्नद्रष्टा के लिए बतलाई गई है, स्वप्नद्रष्टा जीव ही होता है । इस पर कहते हैं—

ॐ सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॐ ।१।३।१३।४२।।

'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न वाह्यं किंचन वेदनान्तरम्' 'प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जद्याति' इति भेदव्यपदेशान्न जीवः पर एवासंगः । स्वप्नादिद्रष्टृत्वं च सर्वज्ञत्वात्तस्यैव हि युज्यते ।

प्राज्ञ आत्मा से आलिंगित होकर न बाहर की बात जानता है न अन्तर की 'प्राज्ञेनात्मना' इत्यादि श्रुति से किये गये भेद व्यपदेश से जीव असंग नहीं सिद्ध होता अपितु परमात्मा ही होता है । परमात्मा सर्वज्ञ है इसलिए स्वप्नद्रष्टृत्व भी उसी का निश्चित होता है ।

१४ अधिकरण

'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य' इति ब्राह्मणस्यापि नित्यमहिमा प्रतीयते । 'स च ब्राह्मणः 'स वा एष महानज आत्मा' इत्यजशब्दात्

विरिञ्च इति प्राप्तम् । देवानां च विद्याकर्मणोः पदप्राप्तिः सूचिता तदुपर्यपि इति । अतोऽब्रवीत्—

यह ब्राह्मण की नित्य महिमा है इस वाक्य में ब्राह्मण की भी नित्य महिमाप्रतीत होती है "स वा एष महानज आत्मा" इस वाक्य में उस ब्राह्मण का स्वरूप वर्णन किया गया है अज शब्द से तो विरिंच का प्राप्ति होती है । "देवानां च विद्याकर्मणोः पद प्राप्तिः" ऐसी सूचना भी उक्त मत की पुष्टि करती है । इसका उत्तर देते हैं—

ॐ पत्यादिशब्देभ्यः ॐ ।१।३।१४।४३।।

'सर्वस्याधिपतिः सर्वस्येशानः' स वा एष नेति नेति इत्यादि शब्देभ्यो नित्यमहिमा विष्णुरेव । 'उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहित' सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि स योऽतोऽश्रुतः इत्यादिश्रुतिभ्यस्तस्यैव हि ते शब्दाः ।

"सर्वस्याधिपतिः" स वा एष नेति इत्यादि शब्दों से विष्णु की ही नित्य महिमा सिद्ध होती है । "उतामृतत्वस्येशानो" इत्यादि पुरुषसूक्त के वचन और "सप्तार्धगर्भा" इत्यादि श्रुतियों में भी उन शब्दों से उन्हीं को सम्बोधित किया गया है ।

प्रथम अध्याय-तृतीयपाद समाप्त ।

સમરીતિર્મંદહોજા: પરબ્રહ્મ સનાતન:।
જયતાજ્જાનકીનાથો વેદવેદ્યો મહામતિ:।।

प्रथम अध्याय—चतुर्थपाद

१ अधिकरण

श्रुतिलिङ्गादिभिरन्यत्रैव प्रसिद्धानामपि शब्दानां सामस्त्येन विशेषहेतुभिर्विष्णावेव प्रवृत्तिं दर्शयत्यस्मिन् पादे ।

श्रुतिलिङ्ग आदि से अन्यत्र प्रसिद्ध शब्दों की प्रवृत्ति विशेष कारणों से पूर्ण रूप से विष्णु में ही है, ऐसा इस पाद में दिखलाते हैं ।

ॐ आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेदर्शयति च ॐ ।१।४।१।१।।

तत्तु समन्वयादिति सर्वशब्दानां परमेश्वरे समन्वय उक्तः । तन्न युज्यते, यतो—'अव्यक्तात् पुरुषः परः' इति सांख्यानुमानपरिकल्पितं प्रधानमप्येकेषां शाखिनामुच्यत इति चेन्न । तस्यैव पारतंत्र्यात् शरीररूपकेऽव्यक्ते विन्यस्तस्य परमात्मन एवाव्यक्तशब्देन गृहीतेः । कः प्रत्ययः कुत्सने । परमात्मन एवाव्यक्तशब्दः तत्तंत्रत्वेन तच्छरीररूपत्वादितरस्याप्यव्यक्तशब्दः । 'तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्' इति दर्शयति च ।

'अव्यक्तं अचलं शान्तं निष्कलं निष्क्रियं परम् ।
यो वेद हरिमात्मानं स भयादनुमुच्यते ।।'

इति पिप्पलादशाखायाम् ।

'अक्षरं ब्रह्म परम्' इत्युक्त्वा 'अव्यक्तोऽक्षर उच्यते इति वचनाच्च ।

'तत्तु समन्वयात्' सूत्र से समस्त शब्दों का समन्वय परमेश्वर में ही कहा गया है सो ठीक नहीं है क्योंकि 'अव्यक्तात् पुरुषः परः' इत्यादि एक श्रुति में, सांख्य परिकल्पित प्रधान प्रकृति का भी उल्लेख मिलता है । इत्यादि संशय

असंगत है, प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है, जीवरूपी अव्यक्त शब्द से उल्लेख किया गया है । प्रत्यय कुत्सन अर्थ में होता है । परमात्मा ही अव्यक्त शब्द वाच्य है, उनका वशंगत परमात्मा का शरीर रूप जीवात्मा भी अव्यक्त शब्द से पुकारा जाता है । 'तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्' में ऐसा दिखलाते भी हैं । 'अव्यक्त अचल, शान्त, अखण्ड, निष्क्रिय, परमात्मा हरि को जो जानता है वह भय से छूट जाता है' ऐसा पिप्पलाद शाखा में भी कहा गया है । 'अक्षरं ब्रह्म परं' ऐसा कहकर 'अव्यक्तोऽक्षर उच्यते' कहा गया इससे भी हमारे कथन की पुष्टि होती है ।

ॐ सूक्ष्मन्तु तदर्हत्वात् ॐ ।१।४।१।२।।

सूक्ष्ममेवाव्यक्तशब्देनोच्यते । तद्व्यव्यक्ततामर्हति । सूक्ष्मत्वं च मुख्यं तस्यैव ।

यत्तत् सूक्ष्मं परमं वेदितव्यं नित्यं पदं वैष्णवं ह्यामनन्ति ।
यत्तल्लीका न विदुर्लोकसारं विन्दन्त्येतत् कवयो योगनिष्ठाः ।

इति पिप्पलादशाखायाम् । मुख्ये च विद्यमाने नामख्यं युक्तम् ।

सूक्ष्म वस्तु ही अव्यक्त शब्द से पुकारी जाती है, वही अव्यक्त हो भी सकती है, सूक्ष्मता ही उसकी विशेषता है । 'जो सूक्ष्म है उसे परम जानना चाहिए उसे ही नित्य वैष्णव पद कहते हैं ।' योगनिष्ठ महात्मा उस पद को प्राप्त करते हैं जिसे कि प्रायः लोक नहीं जानते ऐसा पिप्पलाद शाखा में स्पष्ट उल्लेख है । जब मुख्य की प्राप्ति सम्भव हो तो अमुख्य को उपस्थित करना ठीक नहीं है ।

ॐ तदधीनत्वादर्थवत् ॐ ।१।४।१।३।।

तदधीनत्वाच्चाव्यक्तत्वादीनां तस्यैवाव्यक्तत्वपरावरत्वादिकमर्थवत् ।

'यदधीनो गुणो यस्य तद्गुणीभोऽभिधीयते ।
यथा जीवः परात्मेति यथा राजा जयीत्यपि ।।' इति स्कान्दे ।

जीव परमात्मा के अधीन है अतः उसके अव्यक्त आदि विशेषण, परमात्मा के लिये ही प्रयुक्त होते हैं जैसा कि स्कन्द पुराण में कहा भी है—'अधीन व्यक्ति

के गुण स्वामी के ही गुण कहलाते हैं जैसे कि जीव के गुण परमात्मा के कहलाते हैं, सेना जीतती है किन्तु राजा जयी कहा जाता है।'

ॐ ज्ञेयत्वावचनाच्च ॐ १।४।१४॥

अन्यस्य न वाच्यत्वं युज्यते।

परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य का ज्ञेय नहीं युक्त होना है इसलिये उक्त गुणों से अन्य को सम्बोधित करना असंगत है।

ॐ वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि ॐ १।४।१।५॥

'महतः परं ध्रुव निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते' इति ज्ञेयत्वं वदतीदि चेन्न। प्राज्ञः परमात्मा हि तत्रोच्यते–'अणोरणीयान्महतो महीयान' इति तस्यैव हि महतो महत्त्वं, सर्वस्मात् परस्य महतोऽपि परत्वं युज्यते।

यदि कहें कि-'महतः परं ध्रुव' इत्यादि में अन्य का ज्ञेयत्व बतलाया गया है, तो यह भी आपका भ्रम है, प्राज्ञ परमात्मा को ही वहाँ महान् कहा गया है, "अणोरणीयान् महतो महीयान्" इत्यादि श्रुति में उसे ही महान् से महान् कहा गया हैं। सबसे पर महात् से भी महान् वही हो सकते हैं।

ॐ प्रकरणात् ॐ १।४।१।६॥

'सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्वविष्णोः परमं पदम्' इति तस्य ह्येतत् प्रकरणम्।

'वह परम मार्ग को प्राप्त करता है, वह विष्णु का परम पद हैं' इस श्रुति से निश्चित होता है कि यह प्रकरण परमात्मा परक ही है।

ॐ त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॐ १।४।१।७॥

त्रयाणामेव पितृसौमनस्यस्वर्ग्याग्निपरमात्मनां प्रश्न उपन्यासश्च। 'अविज्ञातप्रार्थनं च प्रश्न इत्यभिधीयते' इति वचनान्न निरोधः।

उक्त यम नाचिकेतोपाख्यान में किए गये, पितृ प्रेम, स्वर्ग्याग्नि और परमात्मा सम्बन्धी प्रश्न और उपन्यास से भी ब्रह्म परकता सिद्ध होती है। 'अविज्ञात सम्बन्धी प्रार्थना को प्रश्न कहते हैं' इस वचन से भी ब्रह्मपरक मानने में कोई विरोध नहीं होता।

ॐ महद्वच्च ॐ १।४।१।८॥

यथा महच्छब्दो महत्तत्वे प्रसिद्धोऽपि परममहत्वात्परमात्मन एव मुख्यः एवमितरेऽपि।

जैसे कि महत् शब्द महत्तत्व वाची होते हुए भी परममहान् परमात्मा के लिए मुख्य रूप प्रयोग किया जाता है, वैसे ही दूसरे शब्द भी परमात्मा के मुख्य वाचक हैं।

ॐ चमसवदविशेषात् ॐ।१।४।१।९॥

यथा चमसशब्दोऽन्यत्र प्रद्धिोऽपि 'तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्व बुघ्नः' इति श्रुतेः शिरोवाचकः एवमव्यक्तादिशब्दाः सर्वेऽन्यत्र प्रसिद्धा अपि 'नामानि सर्वाणि यमाविशन्ति तं वै विष्णु परममुदाहरन्ति' इत्यादि श्रुतेः परमात्मविधायका एव, अविशेषाच्छ्रुतेः।

जैसे कि चमस शब्द अन्यत्र अर्थ में प्रसिद्ध होते हुए भी 'तच्छिरएष' इत्यादि श्रुति में शिर वाचक है वैसे ही अव्यक्त आदि सारे शब्द अन्यार्थों में प्रसिद्ध होते हुये भी परमात्मा विधायक ही हैं जैसा कि श्रुति में स्पष्ट उल्लेख भी है—'सारे नाम जिसमें समा जाते हैं उन्हें विष्णु कहते हैं।' इत्यादि, श्रुति से अन्यों की विशेषता सिद्ध होती है।

२ अधिकरण

'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' इत्यादि कर्माभिधायकस्य कर्मक्रमादिविरोधान्न युज्यत इत्यत आह—

'प्रत्येक वसन्त में ज्योति से यज्ञ करना चाहिये' इत्यादि कर्माभिदायक वचनों से कर्म क्रम ज्ञात होता है, जो कि परमात्मोपासना से भिन्न है इसलिए हर शब्द परमात्मवाची हैं, यह कथन ठीक नहीं है। इसका उत्तर देते हैं—

ॐ ज्योतिरुपक्रमात्तु तथा ह्यधीयत एके ॐ १।४।२।१०।।

ज्योतिरादिकर्मवाचकत्वेन प्रसिद्धाभिधेयोऽपि स एव 'एष इमं लोकमभ्यार्चद्' इत्युपक्रम्य 'ता वा एताः सर्वा ऋचः सर्वे वेदाः सर्वे घोषा एकैव व्याहृतिः प्राण एव प्राण ऋच इत्येव विद्यात्' इति ह्यधीयत एके।

ज्योति आदि शब्द कर्मवाचक रूप से प्रसिद्धार्थक होते हुए भी परमात्मवाची हो हैं। 'एष इम लोकम्' इत्यादि उपक्रम करते हुये 'ये सारी ऋचायें, सारे वेद सारे शब्द एक ही व्याहृति में संलग्न है, वह प्राण ही प्राण ऋचा है, ऐसा ही जानो।' इत्यादि एक शाखा में स्पष्ट उल्लेख है।

ज्योतिष्टोमादि शब्द वाच्य विष्णु कैसा हो सकता है। क्योंकि वे कर्मादिवाचक है। अन्यथा कर्मक्रम का विरोध होता है ऐसा शंका आने पर कहते हैं–

ॐ कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोध ॐ १।४।२।११।।

मधुविद्यादिवत्सर्वशब्दार्थत्वेन परस्य कल्पनोपदेशाच्च। न कर्मक्रमादिविरोधः।

मधुविद्यादि रूढ़ि से इतर वाचक होने पर भी सहयोग वृत्ति से नारायण वाचक है उसी तरह ज्योतिष्टोमादि शब्द भी महायोगवत्ति से नारायण वाचक हैं।

३ अधिकरण

ॐ न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॐ १।४।३।१२।।

'यस्मिन् पंच पंचजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः' इत्यादिषु बहुसंख्योपसंग्रहेऽपि न विरोधः। तस्यैवाकाशादिषु नानाभावात्तदतिरिक्तस्वरूपाच्च।

'जिसमें पाँच पाँच जन और आकाश प्रतिष्ठित है' इत्यादि में बहुसंख्यों का उल्लेख हैं फिर भी उक्त मान्यता से कोई विरुद्धता नहीं होती। पृथिव्यादि पाँच महाभूतों में आकाश का उल्लेख होते हुए भी जो उसका अलग से उल्लेख किया गया उसी से ब्रह्मत्व का समर्थन हो जाता है, क्योंकि आकाश को विशेष रूप ब्रह्म कहा गया है।

पंचजनानाह––

पाँच जन कौन हैं सो बतलाते हैं––

ॐ प्राणादयो वाक्यशेषात् ॐ।१।४।३।१३।।

'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो मनः' इति वाक्यशेषात्।

'जो प्राणों का प्राण, नेत्र का नेत्र, श्रोत्र का श्रोत्र, अन्न का अन्न, मन का मन है' इस अन्तिम वाक्य से पंचजनों का आश्रम परमात्मा है यह बात निश्चित हो जाती है (प्राणादि शब्दवाक्य ब्रह्म ही है)।

ॐ ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॐ।१।४।३।१४।।

'तद् देवा ज्योतिषां ज्योतिः' इत्यनेन काण्वानां पञ्चकम्।

'वह ज्योतियों की ज्योति है' इत्यादि काण्वशाखीय वचन से दूसरे पंचक का वाच्य भी ब्रह्म ही है ऐसा निश्चित हो जाता है

४ अधिकरण

अवान्तरकारणत्वेनापि स एवोच्यत इति वक्ति—

और भी अवान्तर कारण से ब्रह्म ही वाच्य है ऐसा बतलाते हैं—

ॐ कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॐ।१।४।४।१५।।

आकाशादिषु अवान्तरकारणत्वेन स एवं स्थितः। यथाव्यपदिष्टस्यैव परस्य 'य आकाशे तिष्ठन्' इत्यादिना आकाशदिषूक्तेः।

आकाशादि में अवान्तर कारण से भी उसी की स्थिति बतलाई गई है 'जो आकाश में स्थित होकर आकाश का सयमन करता है' इत्यादि में आकाशादि में उस परमात्मा को ही अन्तर्यामी होने का व्यवदेश किया गया है।

५ अधिकरण

सर्वशब्दानां परमात्मवाचकत्वे कथमन्यव्यवहारः। इत्यतोऽब्रवीत्—

जन सारे ही शब्द परमात्मवाची हैं तो उनका दूसरे अर्थो में व्यवहार कैसे किया जाता है? इस पर कहते हैं––

ॐ समाकर्षात् ॐ ।१।४।५।१६।।

परमात्मवाचिनः शब्दा अन्यत्र समाकृष्य व्यवह्रियन्ते ।

'परमात्मवाचकाः शब्दाः समाकृष्येतरेष्वपि ।

व्यवह्रियन्ते सततं लोकवेदानुसारतः ।।' इति पाद्मे ।

परमात्मवाची शब्दों को दूसरी जगह खींच कर व्यवहार किया जाता है जैसा कि पद्मपुराण में स्पष्ट उल्लेख है--"परमात्म वाचक समस्त शब्दों को दूसरों में खींच कर लोक वेदानुसार व्यवहार किया जाता है ।

तर्हि कथं तेषां शब्दानां जगति प्रसिद्धिः ?

यदि ऐसी बात है तो उस शब्दों की जागतिक अर्थों में कैसे प्रसिद्धि हो गई ? इसका उत्तर देते हैं--

ॐ जगद्वाचित्वात् ॐ ।१।४।५।१७।।

जगति व्यवहारो लोकस्य । न तु परमात्मनि तथा । यतो जगति प्रसिद्धिः शब्दानाम् ।

जैसा जगत में, लोक का व्यवहार होता है, वैसा परमात्मा में तो होता नही इसलिये सारे शब्द जागतिक अर्थों में प्रसिद्ध हो गये ।

ॐ जीवमुख्यप्राणलिङ्गादिति चेत्तद्व्यातम् ॐ ।१।४।५।१८।।

तदधीनत्वात्तच्छब्दवाच्यत्वमित्युक्तम् । तज्जीवमुख्यप्राणयोर्लिङ्गम् । अस्य यदेकां शाखां जीवो 'जहात्यथ सा शुष्यति वायुना हि सर्वे लोका नेनीयन्ते' इत्यादिश्रुतिभ्यः । इति चेन्न । उपासात्रैविध्यात्' इति व्याख्यातत्वात् ।

उस परमात्मा के अधीन होने से तत् शब्द जीव और प्राण दोनों के लिये मुख्य रूप से व्यवहार में आने लगा ऐसा 'जहात्यथ सा' इत्यादि एक वैदिक शाखा में किये गये जीव के वर्णन से प्रतीत होता है । यह कथन भी असंगत है । त्रैविध्य उपासना के व्याख्यान से हम इस असंगति का निराकरण कर चुके हैं ।

ॐ अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॐ ।१।४।५।१९।।

परमात्मज्ञानार्थं कर्मादिकमपि वदति इति जैमिनिः 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति ?' इति । 'तस्मै स होवाच द्वे विद्ये वेदितव्ये' कथं नु भगवः स आदेशो भवति ? इति । 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन" इत्यादिप्रश्नव्याख्यानाभ्याम् । एवमपि चैके पठन्ति 'यस्तन्न वेद किं ऋचा करिष्यति' इति ।

परमात्म ज्ञान के लिए ही कर्म आदि का भी उपदेश दिया गया है ऐसा जैमिनि मानते हैं । 'हे भगवन् किसको जान लेने से इस सारे जगत का ज्ञान हो जाता है ? इत्यादि प्रश्न करने पर उन्होंने कहा--दो विद्याओं का ज्ञान करना चाहिए ।' पुनः भगवन् ! वह आदेश क्या है ! ऐसा प्रश्न करने पर उन्होंने उत्तर दिया कि--हे सौम्य ! एव मृतपिण्ड से सारे मृन्मय जगत् का ज्ञान होता है वैसे ही उस एक को जान लेने से सबका ज्ञान हो जाता है ।' इत्यादि प्रश्नोत्तरों और 'यस्तन्न वेद कि ऋचा करिष्यति' इस श्रुति से जैमिनि की बात पुष्ट होती है ।

ॐ वाक्यान्वयात् ॐ ।१।४।५।२०।।

वाक्यस्याप्येवमन्वयो युज्यते पृथक् पृथक् स्थितस्यापि परमात्मना ।

पृथक्-पृथक् स्थित होते हुए भी परमात्मा सेवाक्य का ऐसा अन्वय करना उचित है ।

ॐ प्रतिज्ञासिद्धेर्लिंगमाश्मरथ्यः ॐ ।१।४।५।२१।।

'नान्यः पन्था अयनाय विद्यते' इति प्रतिज्ञासिद्धेर्लिंगत्वेन कर्मादिकमुच्यते, इत्याश्मरथ्यः । यस्मादेवं अनित्यफलमन्यत्तस्मान्नान्यः पन्था इति ।

मोक्ष के लिए दूसरा कोई अन्य मार्ग नहीं है' इस प्रतिज्ञासिद्ध वाक्य से कर्मादि की महत्ता बतलाई गई है, ऐसा आश्मरथ्य मुनि का मत है । जिससे

ऐसा अनित्य फल मिलता है अतः ज्ञान ही मोक्ष का कारण होता है, इसीलिए 'नान्यः पन्थाः ऐसा विशेषण दिया है।

ॐ उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः ॐ।१।४।५।२२॥

उत्क्रमिष्यतो मुमुक्षोः कर्मादिना भाव्यं साधनसाधनत्वेन अतस्तद्वक्ति इत्यौडुलोमिर्मन्यते।

मुमुक्षु जीव के लिए कर्म ही साधन हैं, 'नान्यः पन्थाः' में साधन का साधन रूप से कर्म का उपदेश दिया गया हैं ऐसा औडुलोमि मानते हैं।

ॐ अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॐ।१।४।५।२३॥

सर्वं परमात्मन्नवस्थितमिति वक्तुं तद्वचनमिति काशकृत्स्नः।

'कृष्णद्वैपायनमतादेकदेशविदः परेः।
वदन्ति ते यथा प्रज्ञं न विरोधः कथंचन॥' इति पाद्ये।

सब कुछ परमात्मा में ही स्थित हैं, यही बात ब्रह्मवाची 'अयनाथ' पद से बतलाई गई है ऐसा काशकृत्स्न मानते हैं। उपर्युक्त सारे ही मत व्यास सम्मत हैं जैसा कि पद्म पुराण स्पष्ट कहा गया है--'कृष्णद्वैपाईन मत के किसी एक अंश को अपना बुद्धि के अनुसार लोग व्याख्या करते हैं, इसलिये कोई विरुद्धता नहीं है।

६ अधिकरण

स्त्री शब्दा अपि तस्मिन्नेवेत्याह--

स्त्री वाचक शब्द भी परमात्मवाची हैं ऐसा बतालाते हैं--

ॐ प्रकृतिश्च यतिज्ञाहृष्टान्तानुपरोधात् ॐ।१।४।६।२४॥

'हन्तैतमेव पुरुषं सर्वाणि नामान्यभिवदन्ति, यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रमभिसंविशन्ति, इत्यवमेवैतानि नामानि सर्वाणि पुरुषमभिविशन्ति।' इति प्रतिज्ञाहृष्टान्तानुपरोधात् प्रकृतिशब्दवाच्योऽपि स एव।

'इस पुरुषको ही सारे नामों से मुख्य वाच्य कहा जाता है, जैसे कि समुद्र की ओर उन्मुख बहती हुई नदियाँ समुद्र में, ही प्रविष्ट होती हैं। 'इसी प्रकार ये

सारे नाम पुरुष का मुख्य वाचक होते हैं इस प्रतिज्ञागर्भित दृष्टान्त से निश्चित होता है प्रकृति शब्दवाच्य, परमात्मा ही है।

ॐ अभिध्योपदेशाच्च ॐ।१।४।६।२५॥

'मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्।
महामायेत्यविद्येति नियतिर्मोहिनीति च॥
प्रकृतिर्वासनेत्येवं तवेच्छानन्त कथ्यते॥' इति।

वचनात्तदभिध्यैव च प्रकृतिशब्देनोच्यते। 'सोऽभिध्या स जूतिः स प्रज्ञा स आनन्दः' इति श्रुतेरभिध्या च स्वरूपमेव।

'ध्यायति ध्यानरूपोऽसौ सुखी सुखमतीव च।
परमैश्वर्ययोगेन विरुद्धार्थतयेष्यते॥' इति ब्रह्माण्डे।

'प्रकृति को माया जानो, महेश्वर को मायी, अविद्या को महामाया जानो वही मोहिनी नियति है। हे अनन्त! तुम्हारी इच्छा को ही प्रकृति वासना आदि नामों से जाना जाता है। इत्यादि वचन से, उसकी इच्छा को ही प्रकृति शब्द से निरूपण किया गया है।

'वही प्रबलतम इच्छा है, वही प्रज्ञा है, वही आनन्द है' इत्यादि श्रुति में ब्रह्म को अभिध्या (इच्छा) स्वरूप ही कहा गया है 'ध्यानरूप यह परमात्मा ही ध्यान करता है, यह अतीव सुख भी है और सुखी भी है, परमेश्वर्य योग से इसमें विरुद्धार्थता संभव है।' ऐसा ब्रह्माण्ड पुराण का वचन भी है।

ॐ साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॐ।१।४।६।२६॥

'एषस्त्र्येष पुरुष एष प्रकृतिरेष आत्मैष ब्रह्मैष लोक एष अलोको योऽसौ हरिरादिरनादिरनन्तोऽन्तः परमः पराद् विश्वरूपः' इति पैङ्गिश्रुतौ साक्षादेव प्रकृतिपुरुषस्त्वाम्नानात्।

'यही स्त्री, यही पुरुष, यही प्रकृति, यही आत्मा, यही ब्रह्म, यही लोक, यही अलोक, यही आदि, अनादि, अनन्त, परात्पर विश्वरूप ही है।' इस पैङ्गि श्रुति में स्पष्ट रूप से परमात्माकी प्रकृति और पुरुष दोनों कहा गया है।

ॐ आत्मकृतेः परिणामात् ॐ ।१।४।६।२७।।

'प्रकर्षेण करोति इति प्रकृतिः' इति योगाच्च । प्रकृतावनुप्रविश्य तां परिणाम्य तत्परिणामनियामकत्वेन तत्र स्थितया आत्मनो बहुधा करणात् । 'अथ हैष आत्मा प्रकृतिमनुप्रविश्यात्मानं बहुधा चकार, तस्मात्प्रकृतिस्तस्मात्प्रकृतिरित्याचक्षते ।' इति भाल्लवेय-श्रुतिः ।

'अविकारोऽपि परमः प्रकृतिं तु विकारिणीम् ।
अनुप्रविश्य गोविन्दः प्रकृतिश्चाभिधीयते ।।'

इति नारदीये । न चान्यत् कल्प्यम्, अप्रामाणिकत्वात् ।

प्रकर्ष रूप से करती है वही प्रकृति है' इस व्याख्या के अनुसार तथा प्रकृति में अनुप्रविष्ट होकर उसको परिणमित करके उस परिणाम में तियामक रूप से स्थित होकर अपने को अनेक करने के उल्लेख से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है । 'इसी आत्माने प्रकृति में अनुप्रविष्ट होकर अपने को अनेक रूपवाला किया इसीलिये इसे प्रकृति कहते हैं' ऐसी भाल्लवेय श्रुति भी है । 'अविकृत परमात्मा विकृति प्रकृति में अनुप्रविष्ट होता है, इसीलिये गोविन्द को प्रकृति कहा जाता है ।' ऐसा नारद पुराण का भी वचन है । इस मान्यता के विपरीत 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' इत्यादि कल्पना नहीं करनी चाहिये, उस कथन का कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं मिलता ।

ॐ योनिश्च हि गीयते ॐ ।१।४।६।२८।।

अव्यवधानेनोत्पत्तिद्वारत्वं तत्प्रकृतित्वम् । तच्चास्यैव हि गीयते 'यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः इति ।'

'व्यवधानेन सूतिस्तु पुंस्त्वं विद्वद्भिरुच्यते ।
सूतिरव्यवधानेन प्रकृतित्वमिति स्थितिः ।।
उभयात्मकसूतित्वाद् वासुदेवः परः पुमान् ।
प्रकृतिः पुरुषश्चेति शब्दैरेकोऽभिधीयते ।।

इति ब्रह्माण्डे ।

निरन्तर प्रसवशीला शक्ति को प्रकृति कहते हैं, यही बात 'यद्भूतयोनि परिपश्यन्ति धीराः' इत्यादि में कही गई है । 'व्यवधानिक प्रसव पुंसत्व है, तथा निरन्तर प्रसव प्रकृतित्व है, ऐसा विद्वानों का मत है । वासुदेव उभयात्मक प्रसव करते हैं इसीलिये वह परम पुरुष हैं, वासदेव इस एक ही शब्द से प्रकृति और पुरुष दोनों का बोध होता है ।' ऐसा ब्रह्माण्ड पुराण का वचन है ।

७ अधिकरण

ॐ एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॐ ।१।४।७।२९।।

एतेन सर्वे शून्यादि शब्दा अपि व्याख्याताः । 'एष ह्येव शून्य एष ह्येव तुच्छ एष ह्येवाभाव एष ह्येयाव्यक्तोऽदृश्योऽचिन्त्यो निर्गुणश्च' इति हि महोपनिषदि ।

शमूनं कुरुते विष्णुरदृश्यः सन् परः स्वयम् ।
तस्माच्छून्य इति प्रोक्तस्तोदनात्तुच्छ उच्यते ।।
नैष भावयितुं योग्यः केनचित् पुरुषोत्तमः ।
अतोऽभाव वदन्त्येनं नाश्यत्वान्नाश इत्यपि ।।
सर्वस्य तदधीनत्वात् तत्तच्छब्दाभिधेयता ।
अन्येषां व्यवहारार्थमिष्यते व्यवहर्तृभिः ।।'
इति कौर्मे । एतेन तदधीनत्वाद् युक्तयुक्तिसमुदायेन ।
अवधारणार्थं सर्वस्याप्युक्तस्याध्यायमूलतः ।
द्विरुक्तिकुर्वते प्राज्ञा अध्यायान्ते विनिर्णयः ।।'

इति वाराहसंहितायाम् ।

उक्त विवेचन से शून्य आदि शब्दों की भी व्याख्या हो जाती है । 'यही शून्य है, यही तुच्छ है, यही अभाव है, यही अव्यक्त अदृश्य अचिंत्य और निर्गुण है । 'ऐसा महोपनिषद् में स्पष्ट उल्लेख है ।' वह विष्णु स्वयं अदृश्य होकर दूसरे का सुख को कम करते हैं इसलिये उन्हें शून्य कहते हैं, विश्व को यातना देते हैं इसलिये उन्हें तुच्छ कहते हैं । इस पुरुषोत्तम का किसी भी प्रकार से उत्पत्ति या पूर्णरूप से चिन्तन करना शक्य नहीं है इसलिये इन्हें

अभाव कहते हैं तथा यह संहार करते हैं इसलिये इन्हें नाश कहते हैं। सभी कुछ इनके वश की बात है इसलिये सभी शब्दों से इनको पुकारा जाता है। व्यवहार करने वाले लोग केवल व्यवहार के लिये शब्दो का औरों के लिये प्रयोग करते हैं। 'ऐसा कूर्म पुराण का वचन है। परमात्मा की इस सर्वाधीनता गुण ने आधार पर जो भी युक्तियाँ दी जाती है वह सब ठीक है। 'अध्याय के आदि से अन्त तक सब कुछ जानने का भाव द्विरुक्ति द्वारा अध्याय के अन्त में प्राज्ञ लोग प्रकट करते हैं।' ऐसा वाराह संहिता में कहा गया है।

प्रथम अध्याय चतुर्थपाद समाप्त

द्वितीय अध्याय-प्रथम पाद

१ अधिकरण

उक्ते ऽर्थेऽविरोधं दर्शयत्यनेनाध्यायेन। प्रथमपादे युक्त्यविरोधं प्रथमतः स्मृत्यविरोधम्।

इस अध्याय में शास्त्र वाक्यों की अविरुद्धता दिखलाई गई है, प्रथमपाद में युक्तियों को अविरुद्धता दिखलाई गई है, सर्वप्रथम स्मृतियों की अविरुद्धता दिखलाते हैं।

ॐ स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगात् ॐ।२।१।१।१॥

सर्वज्ञा हि रुद्रादयः, अतस्तेषां वचनविरोधेऽप्रामाण्यमेव स्यादिति चेन्न, अन्यस्मृतीनां विष्ण्वादिभिर्नितरां सर्वज्ञैरेव कृतत्वाच्छ्रुतेराधिक्यं च सिद्धयति।

रुद्र आदि सर्वज्ञ है अतः उनके जो वचन शास्त्र से विरुद्ध हैं वे अप्रमाणिक हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, विष्णु आदि अन्य स्मृतियों के द्वारा, उन स्मृतियों को श्रुति से अधिक सिद्ध किया गया है--क्योंकि उन (रुद्र आदि स्मृतियों) को सर्वज्ञ ने ही बनाया है।

ॐ इतरेषां चानुपलब्धेः ॐ।२।१।१।२॥

इतरेषां तासु स्मृतिषूक्तानां फलादीनां प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धेरप्रामाण्यं तासां युक्तम्। चशब्देन भागोपलब्धिरङ्गीकृता।

उन स्मृतियों में जो फल आदि का शास्त्र विरुद्ध विवेचन किया गया है, वह शास्त्रों में प्रत्यक्ष रूप से तो अनुपलब्ध है ही, इसलिए यदि उन्हें अप्रामाणिक माना गया सो भी ठीक ही। सूत्र में च शब्द से, कुछ अंश मिलता भी है, ऐसा स्वीकारा गया है।

ॐ एतेन योगः प्रयुक्तः ॐ।२।१।१।३॥

योगफलं प्रत्यक्षत उपलभ्यत, इति न मन्तव्यम्, उक्ताभ्यासे तत्काल एव फलादृष्टेः।

योग साधना का फल प्रत्यक्ष मिलता हो ऐसा नहीं मानना अभ्यास की प्रक्रिया योग दर्शन में बतलाई गई है उसके अभ्यास से तत्काल फलावाप्ति होते किसी को नहीं देखा गया।

२ अधिकरण

ॐ न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं शब्दात् ॐ।२।१।१।४॥

नैवं श्रुतेस्तदनुसारिस्मृतेश्च तदुक्तानुपलब्धेरप्रामाण्यम्, विलक्षणत्वात्, नित्यत्वात्तदनुसारित्वाच्च। न हि नित्ये दोषाः कल्प्याः स्वतश्च प्रामाण्यम्, अन्यथानवस्थितेः। 'न चक्षुर्न श्रोत्रं न तर्को न स्मृतिर्वेदा ह्येवेनं वेदयंति' इति भाल्लवेयश्रुतिः। नित्यत्वं चशब्दादेव प्रतीयते। 'वाचा विरूप नित्यया' इत्यादेः 'अनादिनिधना नित्या' इति च स्मृतिः।

श्रुति का अनुसरण करने वाली स्मृति में यदि श्रुति में कहे गए तत्त्व की उपलब्धि नहीं होती तो उसे आप्रामाणिक नहीं कहना चाहिए। विलक्षण नित्य और श्रुति की अनुसरण करने से वह प्रामाणिक है। नित्य में दोष नहीं देखना चाहिए नित्य वस्तु स्वतः प्रमाण होती है (अर्थात् नित्यता ही उसकी प्रामाणिकता है) उसका प्रामाण्य न मानने से अनवस्था होगी। 'नेत्र, कान तर्क और स्मृति, किसी से इसे नहीं जाना जा सकता वेद ही इसको बतलाते हैं।' ऐसी भाल्लवेय श्रुति है। 'वाचा विरुप नित्यया' स्वरूप ज्ञात होता है।

ॐ दृश्यते तु ॐ।२।१।२।५॥

अधिकारिणां फलम्, भविष्यत्पुराणे च—

'ऋग्यजुःसामथर्वाश्च मूलरामायणं तथा।
भारतं पंचरात्रं च वेदा इत्येव शब्दिताः॥
पुराणानि च यानीह वैष्णवानि विदो विदुः।
स्वतःप्रामाण्यमेतेषां नात्र किंचिद् विचार्यते॥

यद्यप्युक्तं न दृश्येत् पूर्वकर्मात्र कारणम्।
नाप्रामाण्यं भवेदेषां दृश्यते ह्यधिकारतः॥
इतः प्रामाण्यमन्येषां न स्वतस्तु कथंचन।
अदृश्योक्तौ ततस्तेषामप्रामाण्यं न संशयः॥' इति।

अधिकारियों के फल को शास्त्रों में दिखलाया गया है। भविष्यत् पुराण का वचन है कि--'ऋग् यजु साम अथर्व, मूल रामायण, महाभारत पंचरात्र ये सब वेद नाम से पुकारे जाते हैं। तथा जो वैष्णव पुराण हैं वे भी इन्हीं के तुल्य माने जाते हैं, इन सबका स्वतः प्रामाण्य है इसके सम्बन्ध में थोड़ा भी संदेह नहीं करना चाहिये। यदि इनमें वैदिक तत्त्व का कहीं सामंजस्य नहीं बैठता तो यह इनकी विलक्षण विचार शैली मात्र है, वे अधिकारी के भेद से तत्त्व का विवेचन करते हैं, यही समझना चाहिये यह अप्रमाणिक है ऐसा कहना ठीक नहीं। इनके अतिरिक्त जो ग्रन्थ हैं वे दूसरों से प्रमाणित होते हैं, उनमें स्वतः प्रामाण्य नहीं है वे अदृश्यत्व का व्याख्यान करते हैं इसलिए निश्चत है अप्रमाणिक हैं।'

३ अधिकरण

'मृदब्रवीदापोऽब्रुवन्' इत्यादिवचनाद्युक्तिविरुद्धो वेद इत्यतोऽब्रवीत्।

'मिट्टी बोलती है, जल बोलते हैं' इत्यादि युक्तिविरुद्ध असंगत बातों को कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है? इस तर्क का उत्तर देते हैं--

ॐ अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॐ।२।१।३।६॥

मृदाद्यभिमानिदेवतैव तत्र व्यपदिश्यते, तासां चेतरेभ्यो विशिष्टं सामर्थ्यमनुगतिश्च सर्वत्र। अंतस्तासां सर्वमुक्तं युज्यते।

उक्त कथन में मिट्टी आदि के अभिमानी देवता का उल्लेख है, जिससे ज्ञात होता है कि इनकी औरों से विशेष सामर्थ्य है। इसलिए उक्त कथन सुसंगत है।

ॐ दृश्यते च ॐ।२।१।३।७॥

तासां सामर्थ्यं महद्भिः, भविष्यत्पुराणे च—

'पृथिव्याद्यभिमानिन्यो देवताः प्रथितौजसः॥

अचिन्त्याः शक्तयस्तासां दृश्यन्ते मुनिभिश्च ताः ।
ताश्च सर्वगता नित्यं वासुदेवैकसंश्रयाः ।।' इति ।

बन अभिमानी देवताओं में बहुत बड़ा सामर्थ्य है, जैसा कि भविष्यत पुराण से ज्ञात होता है--"पृथिवी आदि के अभिमानी देवता बड़े प्रतापी हैं, उनकी अचिन्त्य शक्ति है, जिसे कि मुनि ही देख सकते हैं, वे स्वंगत नित्य एकमात्र वासुदेव के आश्रय में रहते हैं।'

४ अधिकरण

'असदेवेदमग्र आसीत्, असतः सदजायत' इत्यादिना असतः कारणत्वोक्तेर्विरोधः। इत्यतो वक्ति—

'सृष्टि के पूर्व यह सब कुछ असत् ही था, असत् से सत् हुआ इत्यादि में असत् को कारण बतलाया गया है, जो कि विरुद्ध प्रतीत होता है इसका समाधान करते हैं—

ॐ असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॐ ।२।१।४।८।।

प्रतिषेधमात्रत्वान्नासतः कारणत्वं युक्तम् । असतः कारणत्वाद्युक्तिविरुद्धं वेदवाक्यम् इत्येतदत्र निषिद्धयते । सर्वशब्दानां ब्रह्मणि समन्वयेऽपि तदधीनत्वादर्थवदित्यादिनाऽमुख्यत्वेनान्यस्यापि वाच्यत्वेनाङ्गीकारादसतः प्राप्तिः। तथा श्रुतिप्राप्तमेवासन्मतमत्र निषिध्यते। समयस्योपरिनिषेधात् । अर्थाद्युक्तिविरोधोऽपि निराक्रियते ।

प्रतिषेध मात्र थे असत् की कारणता मानना ठीक नहीं है, असत् की कारणता युक्ति विरुद्ध है, इसी का निषेध कर रहे हो किन्तु सारे शब्द ब्रह्म में ही जब समन्वित होते हैं उस पर भी, 'तदधीनत्वादर्थवत्' सूत्र से अन्य शब्दों की, मुख्यरूप से वाच्यता स्वीकारी गई है, इसलिए असत् शब्द भी ब्रह्मवाचक निश्चित होता है। श्रुति प्राप्त असत् शब्द का अब निषेध करना ठीक नहीं है, समय पर ही निषेध समीचीन होता है। युक्ति से विरुद्ध वस्तु का अर्थात् निराकरण किया जाता है।

ॐ अपीतौ तद्वत्प्रसंगादसमंजसम् ॐ ।२।१।४।६।।

असन उत्पत्तौ प्रलये सर्वासत्त्वमेव स्यात् ।

असत् से उत्पत्ति है तो प्रलय में सब असत् ही होना चाहिये।

ॐ न तु दृष्टान्तभावात् ॐ ।२।१।४।१०।।

प्रलये सर्वासत्त्वंभावे दृष्टान्तभावादेव न युज्यते। सत उत्पत्तिः सशेषविनाशश्च हि लोके दृष्टः।

प्रलय में सब असत् हो जाता है, यह दृष्टान्त नहीं मिलता है। लोक में तो उत्पत्ति सत् की होती है जो कि सशेष और विनाशकारी देखी जाती है।

ॐ स्वपक्षदोषाच्च ॐ ।२।१।४।११।।

दृष्टान्ताभावादेव ।

दृष्टान्त के अभाव से ही तुम्हारे अपने मत में ही दोष घटित होता है।

ॐ तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः ॐ ।२।१।४।१२।।

एतावानेव तर्क इति प्रतिष्ठापकप्रमाणाभावात् उक्तादन्यथाप्यनुमेयमिति चेन्न। एवं सति प्रमाणसिद्धेऽपि मोक्षेऽन्यथानुमेयत्वादनिर्मोक्षप्रसङ्गः। अतो यावत् प्रमाणसिद्धं तावदेवाङ्गीकर्त्तव्यम्। नातोऽन्यच्चर्चनीयम्।

'यावदेव प्रमाणेन सिद्धं तावदहापयन् ।
स्वीकुर्यान्नैव चान्यत्र शंक्यमानमृते क्वचित् ।।'

इति वामने ।

तर्क केवल विवाद मात्र है, उसमें किसी स्थिर प्रामाणिक वस्तु की स्थापना करने का सामर्थ्य नहीं होता, अतः कुछ दूसरा अनुमान किया जाय यह भी ठीक नहीं, ऐसा करने से प्रमाणसिद्ध मोक्ष सिद्धान्त भी गलत हो जायगा। इसलिए जितना प्रमाणसिद्ध उतना ही स्वीकार करना चाहिये। कुछ अन्य विचार करने की आवश्यकता नहीं है जैसा कि वामन पुराण में भी कहा गया है--'जितना कुछ प्रमाण से सिद्ध हो उतना ही स्वीकार लेना चाहिये, इधर-उधर के तर्क करके संशयित नहीं होना चाहिये।'

ॐ एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ।२।१।४।१३।।

एतेन दृष्टान्तभावेनाभावेन चावशिष्टा अप्यपरिग्रहा विरुद्ध-सिद्धान्ता अकर्तृत्वाचेतनकर्तृत्वजीवकर्तृकत्वादयोऽपि 'अकस्माद् हि इदमाविरासीदकस्मात्तिष्ठति अकस्माल्लयमभ्युपैति ।'

प्रधानादिदमुत्पन्नं प्रधानमधितिष्ठति ।
प्रधाने लयमभ्येति न ह्यन्यत्कारणं मतम् ।।
जीवात् भवन्ति भूतानि जीवे तिष्ठन्त्यचंचलाः ।
जीवे तु लयमृच्छन्ति न जीवात् कारणं परम् ।।

इत्यादिश्रुतिप्राप्ता निराकृता : । यथा दुःखादिषु जीवस्यास्वा-तंत्र्यमेवमन्येष्वपीति दृष्टान्तः । श्रुतिगतिस्तु ब्रह्मवाचकत्वेन प्रद-र्शिता । यत्रान्यवाचकत्वेऽप्यविरोधस्तत्रान्यदप्यमुख्यतयोच्यते, यत्र विरोधस्तत्र ब्रह्मैवोच्यत इति नियमः ।

उक्त दृष्टान्त की प्राप्ति और अप्राप्ति के नियम से अकर्तृत्व, अचेतन, प्रधान और जीव का कर्तृत्व बतलाने वाले श्रुति वाक्य, जो कि अकर्तृत्व, प्रधान और जीव के कर्तृत्व बतलाने वाले श्रुति वाक्य ये हैं, यह सारा जगत् अकस्मात् ही प्रकट हो गया, अकस्मात् ही स्थित है, अकस्मात ही लीन हो जाता है।' यह प्रधान से उत्पन्न है, प्रधान में ही स्थित है, प्रधान में ही लीन हो जाता है, इस जगत् का कोई और दूसरा कारण नहीं है। 'सारे भूत जीव से होते हैं, जीव में ही स्थिर भाव से ठहरे हुये हैं, जी में ही लीन हो जाते हैं, जीव के अतिरिक्त कोई और कारण नहीं है।' इत्यादि

जैसे कि दुःख आदि भोगने में जीव परतंत्र है वैसे ही अन्य बातों में भी है, यह प्रत्यक्ष दृष्टान्त है। श्रुति का सुझाव तो सब कुछ ब्रह्मपरक सिद्ध करने का है। जहाँ कहीं ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व की व्याख्या की भी गई है, यदि वह सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है तो उस अन्य तत्त्व को गौण रूप से स्वीकार लिया गया है, जहाँ वह सिद्धान्त विरुद्ध हुआ वहाँ ब्रह्म को मान्यता रहती है। श्रौत नियम है।

ॐ भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ॐ ।२।१।४।१४।।

'कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवंति' इति

मुक्तजीवस्य परापत्तिरुच्यते । अतस्तयोरविभागः । अतः पूर्वमपि स एव न ह्यन्यस्यान्यत्वं युज्यते, इति चेन्न, स्याल्लोकवत् । यथा लोक उदक उदकान्तरस्यैकीभावव्यवहारेऽप्यन्तर्भेदोऽस्त्येव एवं स्यादत्रापि, तथा च श्रुतिः 'यथोदकं शुद्धेऽशुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति' इति । स्कान्दे च--

उदकं तूदके सिक्तं मिश्रमेव यथा भवेत् ।
न चैतदेव भवति यतो वृद्धिः प्रदृश्यते ।।
एवमेव हि जीवोऽपि तादात्म्यं परमात्मना ।
प्राप्तोऽपि नासौ भवति स्वातंत्र्यादिविशेषणात् ।। इति ।
'ब्रह्मेशानादिभिर्देवैर्यत् प्राप्तुं नैव शक्यते ।
तद् यत् स्वभावः कैवल्यं स भवान् केवलो हरिः ।।'

इति च 'न ते महित्वमन्वश्नुवन्ति' न ते विष्णो जायमानो न जातः इत्यादि च फलत्वेऽपि युक्तिविरोधेऽन्तर्भावादलोक्तम् ।

'विज्ञानमय जीवात्मा अपने कर्मो सहित अव्यय परमात्मा में लीन हो जाते हैं" इत्यादि श्रुति में जीव और परमात्मा का ऐक्य बतलाया गया है, इसलिए वे दोनों एक ही हैं, पूर्व, में भी जहां उन्हें भिन्न बतलाने की चेष्टा की गई है वह भी असंगत है वहाँ भी ऐक्य ही समझना चाहिए अन्य जीव को अन्य नहीं मानना चाहिए। इत्यादि तर्क भी असंगत हैं, यह ऐक्य की बात लौकिक ऐक्य की तरह है--जैसे कि लोक में एक जल दूसरे जल में मिल जाने पर एक कहा जाता है फिर भी उसमें भीतरी भेद रहता है, वैसे ही उक्त अभेद की बात भी है। श्रुति भी इसकी पुष्टि कराती हैं--"जैसे कि शुद्ध जल में अशुद्ध जल मिल जाता है वैसे ही जीवात्मा का ऐक्य है।' स्कन्दपुराण में और भी स्पष्ट किया गया है--'जल में जल डालने से जैसे एक मिश्रण हो जाता है, किन्तु वास्तव में वो मिलता नहीं केवल बाढ़ सी दीखती है, वैसे ही जीवात्मा भी परमात्मा से एक होता है किन्तु उसमें स्वतंत्रता आदि विशेषतायें नहीं आती।' ब्रह्मा शंकर आदि देवता भी जिसकी बराबरी नहीं कर सकते, जिसका कि अकेले रहना ही स्वभाव है ऐसा केवल प्रभु हरि ही है।, इत्यादि भी आपके महत्व को कोई नहीं पा

सकता' न ते विष्णो जायमानो इत्यादि श्रुतियों में भी वही बात कही गई है। 'विज्ञानमय' इत्यादि में जीव के ऐक्य की बात युक्ति विरुद्ध है अतः उसे ऐक्य नहीं कहना चाहिए वह जो अन्तर्भाव मात्र है।

६ अधिकरण

ॐ तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॐ ।२।१।६।१५।।

स्वतंत्रबहुसाधनासृष्टिर्लोके दृष्टा। नैवं ब्रह्मणः, किन्तु स्वरूप-सामर्थ्यादेव तस्य सृष्टिः। 'किंस्विदासीदधिष्ठानरम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत्' इति ह्याक्षेपः। अधिष्ठानाद्यनुक्तेः। आद्रिशब्दाद् युक्तिभिश्च।

'परतंत्रो ह्यपेक्षेत स्वतंत्रः किमपेक्षते।
साधनानां साधनत्वं यतः किं तस्य साधनैः।।' इत्यादिभिः।

लोक में, बहुसाधना सृष्टि स्वतन्त्र दीखती है। उसमें ब्रह्म की कारणता समझ में नहीं आती, किन्तु स्वरूप सामर्थ्य से ही सृष्टि देखी जाती है।' क्या इस जगत् का कोई प्रारम्भ करने वाला है? क्या सचमुच ऐसा कोई था? ऐसा आक्षेप भी किया जाता है। अधिष्ठान का कोई प्रमाण भी नहीं मिलता और न युक्ति से ही कुछ समझ में आता है। 'सृष्टि का संचालन परतन्त्रता से अपेक्षित है उसमें स्वतन्त्रकर्त्ता की कल्पना की ही क्यों की जाए, सृष्टि में साधनों का साधनत्व प्रत्यक्ष दीख रहा है तो फिर उसके लिए किसी अन्य साधनों की कल्पना करने से क्या लाभ?' इत्यादि शंकाएं और तक अनीश्वरवादी प्रस्तुत करते हैं। स्वतन्त्र को साधन की अपेक्षा नहीं है।

ॐ भावे चोपलब्धेः ॐ ।२।१।६।१६।।

स्वतंत्रसाधनभावे प्रमाणैरुपलभ्येत।
अनुक्तं पंचभिर्वेदैर्न वस्त्वस्ति कुतश्चन।
अतो वेदत्वमेतेषां यतस्ते सर्ववेदकाः।।' इति स्कान्दे।

स्वतन्त्र साधन का अस्तित्व, प्रमाणों से सिद्ध है-जैसा कि स्कन्दपुराण में आता है—'वेद में कोई वस्तु का प्रमाण नहीं मिलता ऐसा कहना असंगत है। जागतिक उन सभी साधनों का प्रमाण वेदों में मिलता है, जिन्हें स्वतन्त्र साधन

मान रक्खा है, सब वेद सम्मत है। वेद में कहीं भी ब्रह्म के अतिरिक्त किसी को स्वतन्त्रत साधन नहीं कहा गया है।'

'अद्भ्यः सम्भूतः पृथिव्यै रसाच्च' इत्यादिना साधनान्तरप्रतीतेः कथमनुपलब्धिः, इत्यत आह—

'अद्भ्यः सम्भूतः पृथिव्यै रसाच्च' इत्यादि श्रुति से तो ईश्वर के अतिरिक्त साधनों की भी प्रतीति हो रही है, फिर कैसे कहते हैं कि ईश्वर के अतिरिक्त कोई दूसरा साधन नहीं कहा गया है? इस अर्थ का उत्तर सूत्रकार देते हैं—

ॐ सत्वाच्चावरस्य ॐ ।२।१।६।१७।।

अवरस्य तदधीनस्य साधनस्य सत्वात्। 'काल आसीत् पुरुष आसीत् परम आसीत्त्यदासीत्तदावृतमासीत् अथ ह्येक एक परम आसीद्यस्यैतदासीन्न ह्येतदासीत्' इति काषायणश्रुतिः।

'अद्भ्यः सम्भूतः' इत्यादि में जो साधनत्व है वह परमात्मा के अधीन होने से है जैसा कि काषायण श्रुति का कथन है—'काल था, पुरुष था, परम था, और जो कुछ भी था वह सब उस पुरुष से आवृत था, एकमात्र परम ही था, जिससे यह भूत हुए न था, न यह सारा प्रापंचिक जगत् ही था।'

ॐ असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॐ ।२।१।६।१८।।

'नासदासीन्नोसदासीत्' इति सर्वस्यासत्त्वव्यपदेशात् नेति चेन्न। अव्यक्तत्वपारतंत्र्यादिधर्मान्तरेण हि तदुच्यते। 'तम आसीत्' इति वाक्यशेषात्। न चान्यत्र प्रमाणमस्ति।

'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।
अनाद्यनन्तं जगदेतदीदृक् प्रवर्त्तते नात्र विचार्यमस्ति।।
न चान्यथा क्वापि च कस्य चेदमभूत् पुरा नापि तथाऽभविष्यत्।
असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम् ।।
असत्यमाहुर्जगदेतदज्ञाः शक्तिं हरेर्ये न विदुः परां हि।
यः सत्यरूपं जगदेतदीदृक् सृष्ट्वा त्वभूत् सत्यकर्मा महात्मा।।'

'अथैनमाहुः सत्यकर्मेति सत्यं ह्येवेदं विश्वमसौ सृजते । अथैनमाहुर्नित्यकर्मेति नित्यं ह्येवासौ कुरुते । यच्चिकेतसत्यमित्तन्नमोघमि'त्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः ।

नास्तिक तर्क में 'न असत् का न सत् का' इत्यादि श्रुति को प्रस्तुत करते हुए अपनी बात को पुष्ट कहते हैं, सो उनका कथन अविचारपूर्ण है, उक्त प्रसंग में अव्यक्त स्वतंत्र आदि विशेषताओं का उल्लेख है तथा अन्त में 'तम आसीत्' ऐसा अस्तित्व का स्पष्ट उल्लेख भी है। इसी से नास्तिकों के तर्क का खोखलापन सिद्ध हो जाता है। उनके मत का कहीं और किसी श्रुति में प्रमाण भी नहीं मिलता। जब कि अस्तित्व के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं जैसे कि—'एक अज जीव इस प्रकृति को आसक्त होकर भोक्ता है जब कि दूसरा अज परमात्मा इस भुक्तभोगा प्रकृति का त्याग कर देता है।' 'यह सारा जगत् इस प्रकार अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्तकाल तक रहेगा, इसमें किसी प्रकार का विचार कर सकना सम्भव नहीं है।' 'यह किससे हुआ कब हुआ इत्यादि अन्यथा विचार भी कर सकना कठिन है।' 'कुछ लोग इसे असत्य और अप्रतिष्ठित मान कर अनीश्वर कहते हैं।' वस्तुतः जगत् को असत्य मानने वाले वे लोग अज्ञ हैं जो कि हरि की पराशक्ति से अपरिचित हैं। 'जो सत्य स्वरूप हैं, इस जगत की सृष्टि करके वे सत्यकर्मा महात्मा इसी में अनुस्यूत हो गये।' इसीलिए उन्हें सत्यकर्मा कहते हैं उन्होंने इस विश्व को सत्य ही रचा है, असत्य नहीं, इन्हें नित्यकर्मा कहते हैं क्योंकि उन्होंने इस नित्य विश्व की रचना की है। इत्यादि श्रुति स्मृति अस्तित्व समर्थक हैं।

'परस्परविरोधे तु वाक्यानां यत्र युक्तता ।
तथैवार्थः परिज्ञेयो नावाक्या युक्तिरिष्यते ॥'

इति बृहत्संहितायाम् ।

'विरुद्धवत् प्रतीयंत आगमा यत्र वै मिथः ।
तत्र दृष्टानुसारेण तेषामर्थोऽन्ववेक्ष्यते ॥' इति च ।

'ईशोऽनीशो जगन्मिथ्या न पूज्यो गुरुरित्यपि ।
इत्यादिवद् विरुद्धानि वचनान्यथ युक्तयः ॥
प्रमाणैर्बहुभिर्ज्ञेया आभासा इति वैदिकैः ।

वेदवेदानुसारेषु विरोधेऽन्यार्थकल्पना ।
अन्येषां तु विरुद्धानां विप्रलम्भोऽथ वा भ्रमः ॥

इति भागवततंत्रे ।

'शास्त्रार्थयुक्तोनुभवः प्रमाणं तूत्तमं मतम् ।
मध्यमं त्वागमो ज्ञेयः प्रत्यक्षमधमं स्मृतम् ॥

प्रत्यक्षयोरागमयोर्विरोधे निश्चयाय तु ।
अनुमाद्या न स्वतंत्राः प्रमाणपदवीं ययुः ॥'

इति पुरुषोत्तमतंत्रे ।

'जब वाक्यों में परस्पर विरोध हो, वहाँ जो सही शास्त्र सम्मत सर्वसम्मत अर्थ हो उसे ही सही मानना चाहिये, मनमानी युक्ति से वहाँ अर्थ नहीं करना चाहिए।' ऐसा बृहतसंहिता में कहा गया है और भी वहीं आगे कहते हैं—'जहाँ आगम वाक्य परस्पर विरुद्ध प्रतीत हों, वहाँ दृष्ट के अनुसार अर्थ का अन्वेषण करना चाहिये।' ईश अनीश, जगन्मिथ्या गुरु अपूज्य आदि की तरह विरुद्ध वचनों को अनेक युक्तियों और प्रमाणों से निर्णय करना चाहिये ऐसा वैदिकों का मत है। वेद और वेदानुवर्ती शास्त्रों में जहाँ विरुद्धता हो वहाँ अन्यार्थ कल्पना करना ठीक नहीं है, वेदानुसार करना ही सही होगा; अन्य शास्त्र विरुद्ध मतों से उस विषय का अर्थ साम्य करना विपरीतता और भ्रम है। 'ऐसा भागवत तन्त्र का मत है।' 'शास्त्रार्थयुक्त अनुभव उत्तम प्रमाण है, आगम से ज्ञेय अनुभव मध्यम है, प्रत्यक्ष अनुभव अधम कहा गया है।' 'जहाँ प्रत्यक्ष और आगम में विरुद्धता हो तो उसका निर्णय करने के लिये अनुमान इत्यादि स्वतंत्र प्रमाण किसी मतलब के नहीं होते।' ऐसा पुरुषोत्तम तंत्र का वचन है।

ॐ युक्तेः शब्दान्तराच्च ॐ ।२।१।६।१९॥

'साधनानां साधनत्वं यदात्माधीनमिष्यते ।
तदा साधनसंपत्तिरैश्वर्यद्योतिका भवेत् ॥'

इत्यादेः साधनान्तरेण सृष्टिर्युक्ता । 'अद्भ्यः संभूतो हिरण्यगर्भ इत्यष्टा' वित्यादिशब्दान्तराच्च ।

"जहाँ साधनों की साधनता आत्माधीन कही गई है वहाँ साधन सम्पत्ति ऐश्वर्य द्योतिका है।" इत्यादि में साधनान्तर सृष्टि का उल्लेख है तथा "अद्भ्यः सम्भूतो हिरण्यगर्भः" इत्यादि शब्दों से भी उसी का समर्थन किया गया है।

ॐ पटवच्च ॐ ।२।१।६।२०।।

साधनान्तरेण हि पटादिसृष्टिर्दृष्टा ।

वस्त्र आदिका निर्माण अन्य साधनों से ही होता है।

ॐ यथा प्राणादिः ॐ ।२।१।६।२१।।

तच्च साधनजातं तेनानुप्रविष्टमेव । यथा शरीरेन्द्रियादिः ।

'प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्य पुरुषोत्तमः ।

क्षोभयामास भगवान् सृष्ट्यर्थं जगतो विभुः ॥' इति कौर्मे ।

अन्यान्य सारे साधन परमात्मा के अनुप्रवेश होने से ही साधन हैं जैसे कि शरीर इन्द्रिय आदि सब आत्मा के अनुप्रवेश से सचेष्ट होते हैं। कूर्म पुराण में आया भी है—"भगवान पुरुषोत्तम ने प्रकृति और पुरुष में प्रविष्ट होकर सृष्टि के लिए जगत को क्षुब्ध किया।"

७ अधिकरण

जीवकर्त्तृत्वपक्षः श्रुतिप्राप्तो विस्तरान्निराक्रियते ।

श्रुति में प्राप्त जीव कर्त्तृत्व पक्ष का विस्तार से निराकरण करते हैं—

ॐ इतरव्यपदेशाद् हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॐ ।२।१।६।२२।।

जीवकर्त्तृत्वपक्षे हिताकरणमहितकरणं च न स्यात् ।

जीव का कर्त्तृत्व स्वीकारने से हित न करना, अहित करना नहीं होना चाहिए था।

ॐ अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॐ ।२।१।७।२३।।

न च ब्रह्मणः श्रमचिन्तादिदोषप्रसक्तिः, अधिकशक्तित्वात् । 'श्रोता मन्ता द्रष्टाऽऽदेष्टा घोष्टा विज्ञाता प्रज्ञाता सर्वेषां भूतानामन्तरपुरुषः एष त आत्मा सर्वान्तरो योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति' इत्यादिविशेषनिर्देशात् ।

ब्रह्म के श्रम चिन्ता आदि दोष प्रसक्ति नहीं होती क्योंकि उसमें अधिक शक्ति है। "श्रोता, मन्ता, द्रष्टा, आदेष्टा, घोष्टा विज्ञाता, प्रज्ञाता, सबका अन्तर्यामी पुरुष है" यह जो तेरा सर्वान्तर्यामी आत्मा है, जो कि भूख प्यास शोक मोह जरा मृत्यु आदि का अतिक्रमण कर चुका है। इत्यादि विशेषताएँ परमात्मा की बतलाई गई हैं।

ॐ अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॐ ।२।१।७।२४।।

चेतनत्वेऽप्यश्मादिवदस्वतंत्रत्वात् स्वतः कर्त्तृत्वानुपपत्तिर्जीवस्य ।

'यथा दारुमयीं योषां नरः स्थिरसमाहितः ।

इङ्गयत्यङ्गमङ्गानि तथा राजन्निमाः प्रजाः ॥'

इति भारते ।

जीव में चेतनता है फिर भी वह पत्थर आदि की तरह परतन्त्र है अतः उसमें स्वतः कर्त्तृत्व सम्भव नहीं है। जैसा कि महाभारत में वचन भी है—"जैसा की लकड़ी की बनी सुन्दर स्त्री की मूर्त्ति को प्रायः मनुष्य अंगों से इशारा करता है, वैसे ही यह प्रजा भी है।" इत्यादि

ॐ उपसंहारदर्शनान्नेति चेत्क्षीरवद् हि ॐ ।२।१।७।२५।।

जीवेन कार्योपसंहारदर्शनात्तस्य कर्त्तृत्वमिति चेन्न यथा गोषु क्षीरं दृश्यमानमपि प्राणादेव जायते ।

'अन्नं रसादिरूपेण प्राणः परिणयत्यसौ ।'

इति वचनात् । एवं जीवे दृश्यमानोऽपि कार्योपसंहारोऽस्वातंत्र्यात् परकृत एव । 'य आत्मानमन्तरो यमयति' 'नाहं कर्त्ता न कर्त्ता त्वं कर्त्ता यस्तु सदा प्रभुः' इत्यादेः ।

सारे कार्य तो जीव द्वारा ही होते देखे जाते हैं अतः वही कर्त्ता है, ऐसा कथन भी असंगत है। जैसे गाय से दूध होता देखा जाता है पर वस्तुतः दूध प्राणशक्ति से होता है, "प्राण ही अन्न को रस आदि रूपों में परिणत करता है" ऐसा वचन भी है। उसी प्रकार जीव के द्वारा जो कार्य होते देखे जाते हैं वह उसके स्वतः सामर्थ्य से नहीं होते वह तो परवश होकर कार्य करता है, वे सारे कार्य परमात्मा ही कराते हैं जैसा कि "जो आत्मा का अन्तर्यामी रूप से संयमन

करता है" "न मैं कर्त्ता हूँ न तुम कर्त्ता हो, एकमात्र कर्त्ता तो नित्य प्रभु ही है" इत्यादि श्रुतियों में कहा गया है।

ॐ देवादिवदपि लोके ॐ ।२।१।७।२६।।

न च कर्त्तुरीश्वरस्यादृष्टिविरोधः। देवादिवददृश्यत्वशक्तियोगात्। लोकेऽपि पिशाचादीनां तादृशी शक्तिर्दृष्टा, किम्वीश्वरस्य।

'न युक्तियोगाद् वाक्यानि निराकार्याण्यपि क्वचित्।
विरोध एव वाक्यानां युक्तयो न तु युक्तयः ।।'

इति बृहत्संहितायां।

ईश्वर का कर्त्तृत्व दृष्टिगत नहीं होता इसलिए वह कर्त्ता नहीं है ऐसा भी नहीं कह सकते, देवताओं की अदृश्य शक्ति होती है लोक में पिशाच आदि का भी अदृश्य शक्ति देखी जाती है, फिर ईश्वर के विषय में संशय की गुंजायश ही नहीं है। "युक्ति से वाक्यों का निराकरण कभी नहीं करना चाहिये, वाक्यों का विरोध होने से वहां सद्युक्ति निर्णायक मानना चाहिये, किन्तु केवल युक्तियाँ ठीक नहीं हैं।" ऐसा बृहत्संहिता का वचन है।

ॐ कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॐ ।२।१।७।२७।।

अयं च दोषो जीवकर्तृत्वपक्षे। एकेनाङ्गुलिमात्रेण प्रवर्त्तमानोऽपि पूर्णप्रवृत्तिः स्यात्। न च तद् युज्यते। सामर्थ्यैकदेशदर्शनात्। न चैकदेशेन, निरवयवत्वात्। 'अयं यः स जीवः स नित्यो निरवयवो ज्ञाताऽज्ञाता सुखी दुःखी शरीरेन्दियस्थः' इति भाल्लवेयश्रुतिः। न चोपाधिकृतांशः स एव। अंश उपहित इति द्वित्वापेक्षत्वात्। न चान्यत्कल्प्यम्। 'यद् हि युक्त्या विरुध्येत तदीशकृतमेव हि' इति गत्यन्तरोक्तेः।

जीव का कर्त्तृत्व स्वीकारने से, वह पूर्णरूप से जगत के रूप में परिणत हो गया, ऐसा मानने का दोष उपस्थित होगा तथा उसको निरवयव बतलाने वाले श्रुति शब्दों से विरुद्धता होगी। केवल एक अंगुलि का इंगन पाकर यदि लगा जाय तो भी पूर्ण प्रवृत्ति होती है, अतः जीव कर्त्तृत्व मानना ठीक नहीं है। सामर्थ्य किसी एक स्थान में ही देखी जाती है, ऐसा कोई स्थान से ही देखी

जाती है, ऐसा कोई स्थान जीव है वह निरवयव है। "जो यह जीव है वह नित्य निरवयव, ज्ञाता, अज्ञाता सुखी दुःखी शरीरेन्द्रिय में स्थित है "ऐसी जीव के सम्बन्ध में भाल्लवेय श्रुति भी है। जीव, परमात्मा का अंश है जो कि औपाधिक नहीं है, अपितु निश्चित अंश है, जो कि द्वित्व की अपेक्षा रखता है, अर्थात् भिन्न अंश है। इसलिए सृष्टि को किसी अन्य मानना उचित नहीं है। "यदि युक्ति से कर्त्तृत्व में विरुद्धता हों तो सृष्टि ईश्वर कृत मानना ही उचित है' ऐसा गत्यन्तर उक्ति से ज्ञात होता है।

८ अधिकरण

ॐ श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॐ ।२।१।८।२८।।

न चेश्वरपक्षेऽयं विरोधः। 'योऽसौ विरुद्धोऽविरोद्धो मनुरमनुरवाग् वागिन्द्रोऽनिन्द्रः प्रवृत्तिरप्रवृत्तिः स परः परमात्मा' इति पैङ्ग्यादिश्रुतेरेव। शब्दमूलत्वाच्च न युक्तिविरोधः।

'यद् वाक्योक्तं न तद् युक्तिर्विरोद्धुं शक्नुयात् क्वचित्।
विरोधे वाक्ययोः क्वापि किंचित्साहाय्यकारणम्' ।।

इति पुरुषोत्तमतन्त्रे।

श्रुति से जीव का कर्तृत्व संदिग्ध है किन्तु ईश्वर का कर्तृत्व असंदिग्ध है उसके कर्तृत्व का तो वैदिक शब्दों से ही निर्णय होता है। 'जो यह विरुद्ध अविरुद्ध, मनु अमनु, अवाग् वाग् इन्द्र अनिन्द्र, प्रवृत्ति अप्रवृत्ति जो कुछ भी है, सब परमात्मा का रूप है' इत्यादि पैङ्गि श्रुति से ही निश्चित हो रहा है। शब्द मूलक होते हुए भी, युक्ति विरुद्ध भी नहीं है। जैसा कि पुरुषोत्तम तंत्र में कहा गया है—'जो वेद वाक्य में कहा गया है उससे युक्ति से कभी विरुद्ध नहीं कर सकते, जब कहीं वाक्य में परस्पर विरोध होता है तो युक्ति का कुछ साहाय्य अपेक्षित होता है।'

ॐ आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॐ ।२।१।८।२९।।

परमात्मनो विचित्राश्च शक्तयः सन्ति नान्येषाम्। 'विचित्रशक्तिः पुरुषः पुराणो न चान्येषां शक्तयस्तादृशाः स्युः, एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा सर्वान् देवानेक एवानुविष्टः' इति श्वेताश्वतरश्रुतिः।

परमात्मा की विचित्र शक्तियाँ हैं किसी अन्य में वह नहीं हैं। 'पुराण पुरुष की विचित्र शक्ति है, किसी अन्य में वैसी शक्तियाँ नहीं हैं, वह वशी अकेला ही सर्वान्तर्यामि भी होकर सबके स्वामी के रूप में प्रवृष्टि है।' ऐसी श्वेताश्वतर श्रुति है।

ॐ स्वपक्षदोषाच्च ॐ ।२।१।८।३०।।

'ये दोषा इतरत्रापि ते गुणाः परमे मताः। न दोषः परमे कश्चिद् गुणा एव निरन्तराः।' इति वचनात् जीवपक्ष एव दोषो न परपक्षे। 'अथ यः स दोषः साञ्जनः सजनिः स जीवोथ यः स निर्दोषो निष्कलः सगुणः परः परमात्मा' इति काषायणश्रुतिः।

'जो और जगह दोष है वे परमात्मा के लिए गुण हैं परमात्मा में दोष तो हैं नहीं उनमें तो गुण ही हैं' इस वचन से जीव पक्ष में ही दोष संभव हैं, परमात्मा में संभव नहीं हैं। जैसा कि—काषायण श्रुति में स्पष्ट उल्लेख है—'जिसमें जन्म से ही दोष चिपके हुए हैं, वह जीव है तथा जो निर्दोष, अखण्ड, सगुण है वह परात्पर ब्रह्म है।'

ॐ सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॐ ।२।१।८।३१।।

'सर्वैर्युक्ता शक्तिभिर्देवता सा परेति यां प्राहुरजस्रशक्तिम् नित्यानन्दा नित्यरूपाऽजरा च या शाश्वतात्मा इति च यां वदन्ति' इति च चतुर्वेदशिखायाम्। अतो न केवलं विचित्रशक्तिः, किन्तु सर्वशक्तिरेव।

'जो समस्त शक्तियों से युक्त देवता है उस अपरिमित शाक्तिशाली को परमात्मा कहते हैं, उसे नित्यानन्द, नित्यरूप, अजर शाश्वत आत्मा आदि नामों से स्मरण किया जाता है' ऐसा चतुर्वेद शिखा का वचन है इससे निश्चित होता है कि वह केवल विचित्र शक्ति ही नहीं, अपितु सर्वशक्तिमान है।

ॐ विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॐ ।२।१।८।३२।।

न च करणाभावादनुपपत्तिरिति युक्तम्।

'अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महांतम्।।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।।'

इत्यादि श्रुतिभ्यः। सर्वोपिता चेति सामान्यपरिहारेऽपि विशेषयुत्त्यर्थं पुनराशङ्का।

परमात्मा की इन्द्रियाँ नहीं हैं, इसलिए वह जगत् स्रष्टा हो सका ऐसी शंका भी ना समझी है। परमात्मा की विशेषताएँ—"वह बिना हाथ पैर के ही दौड़ कर पकड़ते हैं। बिना नेत्र और कान के देखते सुनते हैं, वह ज्ञात और ज्ञेय हैं, किन्तु उन्हें कोई नहीं जानता उन्हें सृष्टिकर्त्ता महान् पुरुष कहते हैं।' उनमें कार्य और कारण नहीं हैं, उनेक समान कोई नहीं है न उनसे अधिक ही कोई है, उनकी स्वाभाविकी शक्ति ज्ञान बल किया आदि नामों से प्रसिद्ध हैं।' इत्यादि श्रुति में बतलाई गई हैं। सामान्यतः सभी शंकाओं का निराकरण किया जा चुका था, पुनः आशंका विशेष युक्ति के लिए की गई है।

९. अधिकरण

यत्प्रयोजनार्थं सृष्ट्यादिस्तद्नत्वादपूर्णतेत्यत आह—

जिस प्रयोजन के लिए सृष्टि की गई, उससे तो परमात्मा में न्यूनता और अपूर्णता घटित होती है, इस संशय की निवृत्ति करते हैं—

ॐ न प्रयोजनवत्वात् ॐ ।२।१।९।३३।।

'अथैष एव परम आनन्दः' इत्यादिना कृतकृत्यत्वान्न प्रयोजनाय सृष्टिः। किन्तु—

'यही परम आनन्द है' इत्यादि से निश्चित होता है कि परमात्मा कृतकृत्य हैं, उन्होंने किसी प्रयोजन से सृष्टि नहीं की। किन्तु—

ॐ लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॐ ।२।१।९।३४।।

यथा लोके मत्तस्य सुखोद्रेकादेव नृत्तगानादिलीला, न तु प्रयोजनापेक्षया एवमेवेश्वरस्य। नारायणसंहितायां च—

'सृष्ट्यादिकं हरिर्नैव प्रयोजनमपेक्ष्य तु।
कुरुते केवलानन्दाद्यथा मत्तस्य नर्त्तनम्।।

पूर्णानन्दस्य तस्येह प्रयोजनमतिः कुतः ।
मुक्ता अप्याप्तकामाः स्युः किमु तस्याखिलात्मनः ॥' इति ।

'देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा' इति च श्रुतिः ।

जैसे कि संसार में आनन्दमग्न व्यक्ति को नृत्य गान आदि खेल और अधिक आनंदित करते हैं वैसे ही ईश्वर को सृष्टि से अत्यधिक आनन्द आता है, इसमें कोई खास प्रयोजन नहीं है। जैसा कि नारायण संहिता में स्पष्ट उल्लेख है— " हरि ने सृष्टि किसी खास प्रयोजन से नहीं की है, वह तो उन्होंने केवल आनंद प्राप्ति की सृष्टि से ही की है जैसे कि आनन्दित व्यक्ति को नृत्य अत्यधिक आनंदित करता है। उस पूर्णानन्द परमात्मा को किसी प्रयोजन की अपेक्षा हो सकती है, वह तो मुक्त आप्तकाम सारे जगत का आत्मा है 'यह तो परमात्मा की स्वभाव है, इस आप्तकाम को किस वस्तु की स्पृहा हो सकती है' ऐसी श्रुति भी है।

१० अधिकरण

सर्वकर्तृत्वे वैषम्यनैर्घृण्ये तस्येत्यतो वक्ति——

जब वह सुखी दुःखी शुभ अशुभ सभी का कर्त्ता है तब उसमें, विषमता और निर्दयता, दोष घटित होते हैं, इसका उत्तर देते हैं।

ॐ वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ॐ ।२।१।१०।३५॥

कर्मापेक्षया फलदातृत्वान्न तस्य वैषम्यनैर्घृण्ये । 'पुण्येन पुण्यं नयति पापेन पापम्' इति हि श्रुतिः ।

कर्म के अनुसार वह जीव को फल देते हैं, इसलिए उनमें विषमता और निर्दयता का दोषरोपण नहीं हो सकता। 'पुण्य से पुण्य, और पाप से पाप लोक देते हैं ऐसी श्रुति भी है।

ॐ न कर्माविभागादिति चेन्नादित्वात् ॐ ।२।१।१०।३६॥

यदपेक्षयासौ फलं ददाति न तत्कर्म । 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषत' इति श्रुतेः । कर्मणोऽपि तन्निमित्तत्वादिति चेन्न । तस्यापि पूर्वकर्मकारणमित्यनादित्वात् कर्मणः । भविष्यत्पुराणे च——

'पुण्यपापादिकं विष्णुः कारयेत् पूर्वकर्मणा ।
अनादित्वात्कर्मणश्च न विरोधः कथञ्चन' ॥ इति ।

जिसके आधार पर परमात्मा फल देते हैं उसमें कर्म, कारण नहीं होता अपितु 'यह जिससे अच्छा कर्म कराते हैं उसे नीचे के यमलोकों से ऊपर उठाते हैं, तथा जिससे खराब कर्म करते हैं उसे नीचे यम के लोकों में पहुँचाते हैं' इत्यादि में तो परमात्मा को ही पापपुण्य कर्मों का कारण कहा गया है, इत्यादि धारण भी भ्रम है, उस कर्म करवाने में भी जीव का पूर्व कर्म ही होता है, कर्म की श्रृंखला भी अनादि है। भविष्यत पुराण में इसका स्पष्ट उल्लेख है— 'भगवान विष्णु पूर्व कर्मानुसार ही पुण्यपाप आदिक में कराते हैं, कर्म की श्रृंखला भी अनादि है, इसलिए विष्णु से विपरीत कुछ भी धारण नहीं बना सकते।'

ॐ उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॐ ।२।१।१०।३७॥

न च कर्मापेक्षत्वेनेश्वरस्यास्वातंत्र्यम् ।

'द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च ।
यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया' ॥

इत्यादिना कर्मादीनां सत्वस्यापि तदधीनत्वात् । न च पुनर्वैषम्याद्यापातेन दोषः । तादृशवैषम्यादेरुपलभ्यमानत्वात् ।

'न कारयेत् पुण्यमथापि पापं न तावता दोषवानीशितापि ।
ईशो यतो गुणदोषादिसत्त्वे स्वयं परोऽनादिरादिः प्रजानाम् ॥'
इति चतुर्वेदशिखायाम् ।

कर्म ईश्वर कराते हैं इसलिए वे परतंत्र हैं, ऐसा विचार भी असंगत है 'द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव और जीव जिनकी कृपा से होते हैं, परमात्मा को इन सबकी अपेक्षा नहीं है अतः ये उनमें नहीं हैं।' इत्यादि में दिखलाया गया है कि कर्म आदि उनसे ही होते हैं किन्तु वे उनके अधीन नहीं हैं। यदि वह स्वयं अधीन नहीं हैं तो सृष्टि में इन सबको अधीनता करना तो विषमता और निर्दयता है, यह दोषारोपण भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे स्वयं तो ऐसा कोई कर्म नहीं करते जिसमें वे इन सब में बंध सकें इसलिए उन्हें दोष देना व्यर्थ है जैसे कि चतुर्वेद शिखा में वचन भी है—'वस्तुतः परमात्मा किसी से

'पाप पुण्य नहीं करवाते वह तो कर्मानुसार प्रवृत्ति करते हैं इसलिए वे दोषवान नहीं हैं। क्योंकि वे संयत हैं, गुण दोष की स्थिति में भी स्वयं उससे अलग रहते हैं, वह प्रजा से पहले थे और प्रजा के नष्ट होने पर भी रहेंगे।'

११ अधिकरण

अवशिष्टैरुपसंहरति––

अब अवशिष्ट गुणों को बतलाते हुए प्रसंग को पूर्ण करते हैं –

ॐ सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॐ ।२।१।११।३८।।

गुणाः श्रुताः सुविरुद्धाश्च देवे सन्त्यश्रुता अपि नैवात्र शङ्काः ।
चिंत्या अचिन्त्याश्च तथैव दोषाः श्रुताश्च नाज्ञैर्हि तथा प्रतीताः ।।
'इति सर्वगुणोपपत्तिश्रुतेश्च ।

'उस परमात्मा में अनेक गुणों की बात सुनी जाती है उनमें विरुद्धताएँ भी हैं, जो नहीं भी सुनी जातीं उनकी शंका करना भी व्यर्थ है, उनमें तो चिन्त्य अचिन्त्य सभी कुछ है, यही बात दोषों के संबंध में भी कही जा सकती है।' इत्यादि श्रुति में सारी बातें उनमें शक्य बतलाई गई है अतः उनके कर्तृत्व पर संशय करना अज्ञ लोगों का काम है।

द्वितीय अध्याय प्रथम पाद समाप्त

સમરીતિર્મદાતેજાઃ પરકૃતા સનાતનઃ।
ગયતાજ્જાનળોનાથો વેદવેદ્યો મહામતિઃ॥

द्वितीय अध्याय—द्वितीयपाद

१ अधिकरण

इतरेषां चानुपलब्धेरिति सामान्यतो निराकरणं समयानां कृतम् । विशेषतो निराकरोत्यस्मिन् पादे । अचेतनप्रवृत्तिमतं प्रथमतो निराकरोति ।

योग और सांख्य की मान्यता का सामान्यतः 'इतरेषां चानुलब्धेः' इससे निराकरण कर दिया गया। अब विशेषरूप से इस वाद में निराकरण करते हैं। सर्वप्रथम अचेतन प्रवृत्ति मत का निराकरण करते हैं।

ॐ रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॐ ।२।२।१।१।

अचेतनस्य स्वतः प्रवृत्यनुपपत्तेर्नानुमानपरिकल्पितं प्रधानं जगत्-कर्तृ । चशब्देन प्रमाणाभावं दर्शयति ।

अचेतन में स्वतः कुछ भी करने की प्रवृत्ति संभव नहीं है, इसलिए सांख्य परिकल्पित प्रधान जगत कारण नहीं। ऐसा कोई प्रमाण भी नहीं मिलता।

ॐ प्रवृत्तेश्च ॐ ।२।२।१।२।।

चेतनस्य स्वतः प्रवृत्तिदर्शनाच्च ।

जब कि चेतन में स्वतः प्रवृत्ति देखी जाती है।

ॐ पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि ॐ २।२।१।३।।

पयोम्बुवदचेतनस्यापि प्रवृत्तिर्युज्यत इति न युक्तम् । 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते याश्च श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योन्या यां च दिशमनु एतेन हवाव पयो मण्डं भवति'' इत्यादि तत्रापि ईश्वरनिमित्तप्रवृत्तिश्रुतेः ।

जैसे दूध का दही हो जाता है तथा जल का बर्फ हो जाता है, वैसे ही अचेतन में भी प्रवृत्ति हो जाती है यह कथन भी भ्रामक है। 'हे गार्गि। इसी अक्षर के प्रशासन में पूर्व में अन्य नदियाँ बहती हैं, तथा पश्चिम में अन्य बहती

हैं, इसी दुग्ध जम जाता है' इत्यादि श्रुति में ईश्वर निमित्त प्रवृत्ति का स्पष्ट उल्लेख है।

ॐ व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॐ ।२।२।१।४।।

'न ऋतेत्वत् क्रियते किंच नारे' इति व्यतिरेकेण कस्यापि कर्मणोऽनवस्थितेरनपेक्षितमेवाचेतनवादिमतम् ।

'आपके बिना कुछ भी करने में समर्थ नहीं है' इत्यादि व्यतिरेक के उपदेश से अचेतन कारणतावाद अनपेक्ष सिद्ध होता है।

२ अधिकरण

सेश्वरसांख्यमतं निराकरोति । यथा पृथिव्या एव पर्जन्यानुग्रहीतं तृणादिकमुत्पद्यते एवं प्रधानादीश्वरानुग्रहीतं जगत् इत्यतो ब्रवीति—

अब सेश्वर सांख्य मत का निराकरण करते हैं उन लोगों का मत है कि जैसे मेघ की वर्षा से पृथिवी से तृण आदि होते हैं वैसे ही ईश्वर के अनुग्रह से प्राधान द्वारा जगत की सृष्टि होती। इस पर सूत्रकार कहते हैं—

ॐ अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॐ ।२।२।२।५।।

'यच्च किंचिज्जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः । ब्रह्मण्येवेदमाविरासीद् ब्रह्मणि स्थितं ब्रह्मन् लयमभ्युपैति, 'ब्रह्मैवाधस्ताद् ब्रह्मैवोपरिष्टाद् ब्रह्म मध्यतो ब्रह्म सर्वतो ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इत्यादिश्रुतिभ्योऽन्यत्र जगतोऽभावात् तृणादीनां पर्जन्यवन्नानुग्राहकत्वमात्रमीश्वरस्य ।

'स एव भूयो निजवीर्यचोदितां स्वजीवमायां प्रकृतिं सिसृक्षतीम्, ।
अनामरूपात्मनि रूपनामनी विधित्समानोनुसार शास्तिकृत् ।।'

इति भागवते । 'द्रव्यं कर्म च कालश्च' इत्यादि च । चशब्देन प्रकृतिसत्तादिप्रदत्वं चाङ्गीकृतम् ।

'इस जगत में जो कुछ भी दीखता और सुना जाता है, बाहर भीतर सब में व्यापकरूप से नारायण स्थित हैं।' ब्रह्म में ही यह जगत प्रकट हुआ है उसी में

स्थित है और उसी में लीन हो जाता है। ब्रह्म ही नीचे है, ब्रह्म ही ऊपर है, ब्रह्म ही मध्य में है, सब तरफ ब्रह्म है, 'यह सब कुछ ब्रह्म से व्याप्त है' इत्यादि श्रुतियों से निश्चित होता है कि—जगत में ईश्वर ही सर्वत्र व्याप्त है, यह जगत, मेघवृष्टि से होने वाले तृणादि की तरह प्रभु के अनुग्रह मात्र से होने वाला मात्र नहीं है। श्रीमद्भागवत में भी स्पष्ट उल्लेख है—'उन्हीं परमात्मा ने नाम रूप रहित अपने स्वरूप में नामरूप को जब प्रकट करने की इच्छा की तो अपनी काल शक्ति से प्रेरित, जीव को मोहित करने वाली, सृष्टि करने वाली प्रकृति का अनुसरण किया और शास्त्रों की रचना की। 'द्रव्यं कर्मश्च कालश्च' इत्यादि में भी उक्त बात का ही समर्थन किया गया है। सूत्र में चशब्द से प्रकृति सत्ता प्रदत्व भी स्वीकारा गया है।

३ अधिकरण

लोकायतिकपक्षं निराकरोति ।

लोकायतिक (चार्वाक) मत का निराकरण करते हैं—

ॐ अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॐ ।२।२।३।६।।

यस्य धर्माधर्मौ न स्तः तत्सिद्धान्ते किं प्रयोजनम् । अतः स्वव्याहतेरेवोपेक्ष्यः ।

जिसको धर्म अधर्म से कोई मतलब ही नहीं है उसके सिद्धांत का क्या प्रयोजन है, वह तो अपने मत में स्वयं ही पूर्ण रूपसे व्यवस्था नहीं रखते, अतः उपेक्ष्य हैं।

४ अधिकरण

पुरुषोपसर्जनप्रकृतिकर्तृत्ववादमपाकरोति—

अब पुरुषोपसर्जन (पुरुषाधीन) प्रकृति कर्तृत्ववाद का निराकरण करते हैं—

ॐ पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॐ ।२।२।४।७।।

यथा चेतनसम्बन्धादचेतनमेव शरीरमश्मादिकमाकाय गच्छति । एवमेवाचेतनापि प्रकृतिः पुरुषसम्बन्धात्प्रवर्तत इति चेन्न । 'न ऋते त्वत्क्रियते' इति तत्रापि तथात्वे दृष्टान्ताभावात् ।

जैसे पुरुष सम्बन्ध से जड़ शरीर ही (स्वतन्त्र रूप से) पत्थर ले जाता है, उसी तरह अचेतन प्रकृति ही केवल पुरुसम्बन्ध से महत्तत्वादि सृष्टि करने में प्रवृत्त होती है। अतः जगत्कारण प्रकृति है भगवान् नहीं ऐसा कह नहीं सकते है। क्योंकि प्रकृति जड़ होने कारण ईश्वर के प्रेरणा प्रवृत्ति के बिना उस में

प्रवृत्ति हो ही न सकती अतः ब्रह्म ही स्वतन्त्र कारण 'न' ऋते त्वत् क्रियते' इस प्रमाण से सिद्ध होता है। दृष्टान्त न रहने के कारण प्रकृति जगत्कका कारण न है। जीव का केवल शरीर से सम्बन्ध मात्र से शरीर में प्रवृत्ति नही होती जीकका प्रयत्न से ही शरीर में प्रवृत्ति होती है अतः पत्थर उठाने में शरीर स्वतः कारण जैसा नहीं होता है, ऐसा ईश्वर के क्रिया के बिना प्रकृत्ति में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है अतः ब्रह्म ही स्वतन्त्र जगत् का कारण है)।

ॐ आङ्गीत्वानुपपत्तेः ॐ २।२।४।८॥

शरीरप्रवृत्तौ पुरुषस्याङ्गत्वाद् 'अङ्गमङ्गीसमादाय यथा कार्यं करोत्यसौ' इत्यङ्गित्वव्यवहारोऽनुपपन्नः।

पत्थर ले जाने में स्वतः शरीर ही प्रवृत्त होता है ऐसा मानने पर स्मृति का विरोध बतलाते है, 'अच्छी-जीव अंग शरीर को ले जाता है' यह मुख्य प्रवृत्ति जीव में है इसलिए वह अङ्गी (प्रधान) है, शरीर अंग (अप्रधान) है। शरीर में स्वतन्त्र प्रवृत्ति मानते ते उसमें अङ्गित्व स्मृति नहीं मानने के कारण स्मृति विरोध होता है। लोक में यह देखा गया है जीव का शरीर के साथ सम्बन्ध रहने पर भी जब तक जीव के इधर से प्रवृत्ति नहीं होती है तब तक शरीर हिल नहीं सकता अतः जीव की प्रवृत्ति भी ब्रह्म से ही होती है 'तेन विना तृणमपि न चालति' इस न्याय से।

५ अधिकरण

प्रकृत्युपसर्जनपुरुषकर्तृत्ववादमपाकरोति ।

प्रकृत्यधीन पुरुषकर्तृत्ववाद का निराकरण करते हैं।

ॐ अन्यथानुमित्तौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॐ ।२।२।४।९॥

शरीरसंबंधात्पुरुषः प्रवर्त्तत इत्यंगीकारेऽपि स्वतस्तस्यासामर्थ्याच्छरीरसंबन्ध एवायुक्तः।

पुरुष के शरीर संबंध से स्त्री गर्भवती होती है, ऐसा स्वीकारते हुए भी यही मानना होगा कि-पुरुष स्वतः गर्भाधान का सामर्थ्य नहीं है, भगवत् कृपा ही से ही संतति होती है, शरीर सम्बन्ध को ही कारण मानना ठीक नहीं है।

समस्त श्रुति स्मृति युक्ति से विरुद्ध होने से अनीश्वर वाद तिरस्कृत है। जैसा कि— पद्म पुराण का मत है—'श्रुतियाँ स्मृतियाँ और युक्तियाँ परमेश्वर को ही कारण बतलाती हैं, जो उनके विरुद्ध मानते हैं उनसे अधम कोई दूसरा नहीं हैं।'

ॐ विप्रतिषेधाच्चासमंजसम् ॐ ।२।२।५।१०॥

सकलश्रुतिस्मृतियुक्तिविरुद्धत्वाच्चानीश्वरमतमसमञ्जसम्

'श्रुतयः स्मृतयश्चैव युक्तयश्चेश्वरं परम् ।
वदंति तद्विरुद्धं यो वदेत् तस्मान्न चाधमः ॥'

इति पाद्मे ।

६ अधिकरण

परमाण्वारम्भवादमपाकरोति—

परमाणु सृष्टिवाद का निराकरण करते हैं—

ॐ महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपारिमण्डलाभ्याम् ॐ ।२।२।६।११॥

महत्वाद्दीर्घत्वाच्च यथा कार्यमुत्पाद्यते एवं ह्रस्वत्वात् पारिमांडल्याच्चोत्पद्येत। वाशब्दादन्यथैतयोरपि न स्यात्, विशेषकारणाभावात्।

वैशेषिक दर्शन वाले अणुओं का समूह और उनके संयोग से सृष्टि का विकाश मानते हैं। महान और दीर्घ होने से जैसे सृष्टि उत्पन्न होती है वैसे ही ह्रस्व और पारिमण्डल से वैसा हो, न हो तो इन दोनों से न हो। क्योंकि उसमें कोई और विशेष कारण नहीं है।

ॐ उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॐ ।२।२।६।१२॥

ईश्वरेच्छाया नित्यत्वे तद्भावेऽपि परमाणुकर्माभावान्नेदानीमपि तत्स्यात्। अनित्यत्वे तत्कारणाभावात्। अतः परमाणुचेष्टाभावात्तत्कार्याभावः। वैदिकेश्वरस्य तु वेदेनैव सर्वशक्तित्वोक्तेः सर्वमुपपद्यते। स्वत एव काले विशेषाङ्गीकृतेश्च।

तुम्हारे मत से ये परमाणु जब ईश्वरेच्छा से नित्य हैं तो उनमें कर्म नहीं हो सकता और आज भी वही स्थिति है। यदि अनित्य हैं तो वे कारण नहीं हो सकते, क्योंकि जब उनकी समाप्ति हो जायगी तो वे निश्चेष्ट हो जायेंगे फिर पुनः सृष्टि कैसे होगी? वैदिक ईश्वर तो वेदानुसार सर्व शक्तिमान है अतः सब कुछ सम्भव है और फिर वेदकाल नामक एक विशेष ईश्वर शक्ति को मानते हैं इसलिए भी संभव है।

ॐ समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॐ २।२।६।१३॥

कार्यकारणादीनां समवायसम्बन्धाङ्गीकारात्तस्य च भिन्नत्व-साम्यात् समवायान्तरापेक्षायामनवस्थितिः। न च तत्प्रमाणम्। प्रथमसम्बन्धासिद्ध्यैव च तदसिद्धिः। स्वनिर्वाहकत्वे समवाय एव न स्यात्।

जो तुम कार्य कारण में समवाय सम्बन्ध मानते हो, तो जब वे अणु भिन्न अवस्था में रहते हैं, उनमें कोई बड़ा छोटा तो है नहीं फिर उन्हें संयुक्त करने के लिए किसी अन्य समवाय की अपेक्षा होगी इस प्रकार अनवस्था दोष घटित होगा। और फिर किसी अन्य समवाय का प्रमाण भी तो नहीं है। यदि प्रथम सम्बन्ध ही नहीं हो पावेगा तो सृष्टि भी नहीं हो सकेगी। समवाय अपने निर्वाह के लिये नहीं होता।

ॐ नित्यमेव च भावात् ॐ।२।२।६।१४॥

नित्यत्वाच्च परमाणूनां समवायस्य च तस्यैव जनित्वांगीकारान्नित्यमेव कार्यं स्यात्। अन्यथा न कदाचित्।

यदि परमाणु नित्य हैं, जैसा कि तुम मानते हो और समवाय से ही जब उनका सम्बन्ध होता है तो कार्य भी नित्य होगा। यदि समवाय न होगा तो कार्य भी न हो सकेगा।

ॐ रूपादिमत्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॐ।२।२।६।१५॥

रूपादिमत्वाच्च परमाणूनामनित्यत्वं तथा दृष्टत्वाल्लोके।

परमाणुओं को स्वरूपवान मानते हो, इसलिये वह नित्य तो हो नहीं कह सकते, क्योंकि लोक में कोई भी रूपवान वस्तु नित्य नहीं देखी जाती।

ॐ उभयथा च दोषात् ॐ।२।२।६।१६॥

नित्यत्वे परमाणूनां तद्वत् सर्वनित्यत्वं स्यात्, विशेषप्रमाणाभावात्। अनित्यत्वे कारणाभावात्तदुत्पत्त्यभावः।

परमाणु को नित्य मानते हैं तो, फिर सारे कार्य की नित्यता भी स्वीकारनी होगी, सो ऐसा तो कोई प्रमाण मिलता नहीं। यदि अनित्य मानते हैं तो कारण के अभाव से कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

ॐ अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॐ।२।२।६।१७॥

श्रुतिस्मृत्यपरिगृहीतत्वाच्चातिशयेनानपेक्ष्यता 'आन्वीक्षकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थकाम्' इति मोक्षधर्मे।

यह मत श्रुति स्मृति दोनों से गृहीत नहीं है इसलिए विशेष रूप से अनपेक्ष्य है। जैसा कि मोक्ष धर्म में कहा भी है—"अन्वीक्ष की तर्क विद्या में अनुरक्ति रखना निरर्थक है।

७ अधिकरण

परमाणुपुञ्जवादिमतं निराकरोति—

अब परमाणु पुञ्जवाद को मानने वाले बौद्धों का मत निराकरण करते हैं—

ॐ समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॐ।२।२।७।१८॥

समुदायस्यैकहेतुकत्वं न युज्यते। उभयहेतुकेऽप्यन्योन्याश्रयत्वात्तदप्राप्तिः। अन्यथा सर्वदा समुदायसत्त्वं स्यात्।

परमाणु समुदायों की एक हेतुता मानने से उसमें परस्पर संयोग संभव नहीं है, यदि उभयहेतुता मानते हैं तो अन्योन्याश्रय दोष घटित होने से भी संयोग की बात असंगत सिद्ध होती है। यदि संयोग नहीं होता तो परमाणुओं के समुदाय सदा अलग ही बने रहेंगे।

ॐ इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॐ।२।२।७।१९॥

सर्वदा विद्यमानोऽपि समुदायः परस्परापेक्षया व्यवह्रियत इति चेन्न, एकं कार्यमुत्पाद्य तस्य विनष्टत्वात् परस्परप्रत्ययस्तदपेक्षया व्यवहार इति न युज्यते। कारणे सति कार्यं भवत्येवेति हि तस्य नियमः।

यदि कहें कि समुदाय सदा अलग रहते हुए भी परस्पर एक दूसरे से अपेक्षित होने के कारण व्यवहृत होते हैं, सो आपका यह कथन भी असंगत है, जब एक कार्य का उत्पादन करके तत्क्षण विनष्ट हो जाता है, जैसा कि तुम्हारा ही मत है और जब उनमें परस्पर कारणता है तो फिर व्यवहार कैसे हो सकता है। कारण की सत्ता रहने पर ही कार्य होता है ऐसा ही कार्यकारण संबंधी नियम है।

ॐ उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॐ ।२।२।७।२०।।

कार्योत्पत्तावेव कारणस्य विनाशाच्च न विशेषकार्योत्पत्तिः ।

कार्य उत्पत्ति के साथ ही जब कारण विनष्ट हो जाता है तो विशेष कार्योत्पत्ति नहीं हो सकती।

ॐ असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॐ ।२।२।७।२१।।

कारणे विनष्टे कार्यमुत्पद्यते चेत्तत्कार्यमपि प्रतिज्ञाहानिः, तत्काले कारणमस्ति चेत् विनाशकारणाभावाद् यौगपद्यं सर्वकार्याणाम् ।

यदि कहें कि कारण के विनष्ट होने पर कार्य की उत्पत्ति होती है तो जब उसका कार्य भी नष्ट हो जायगा तब अगले का कार्य की उत्पत्ति कैसे होगी उससे तो तुम्हारा नियम ही भंग हो जायगा। यदि कहो कि नहीं कार्य उत्पन्न होने के बाद भी कारण रहता है, तब तो सारे कार्य एक साथ ही रहेंगे फिर विनष्ट होने वाली बात ही निरर्थक है।

ॐ प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॐ ।२।२।७।२२।।

कारणे सति कार्यं भवति एवेति नियमाभान्निसन्तानः ससन्तानश्च विनाशो न युज्यते ।

कारण की सत्ता में ही कार्य होता है, इस नियमानुसार तो निःसंतान और संतान वाले किसी का भी विनाश नहीं हो सकता।

ॐ उभयथा च दोषात् ॐ ।२।२।७।२३।।

कारणे सति कार्यं भवत्येवेति नियमे सर्वदा कार्याभावान्न कार्यकारणविशेषः । अनियमे कार्यानुत्पत्तिः ।

कारण की सत्ता में ही कार्य होता है इस नियम से, सदा ही कार्य की स्थिति रहने से, कार्य कारण की विशेषता नहीं जानी जा सकती ? यदि उक्त नियम नहीं है तो कार्य की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती।

ॐ आकाशे चाविशेषात् ॐ ।२।२।७।२४।।

दीपादिषु विशेषदर्शनात् क्षणिकत्वेनान्यत्रापि क्षणिकत्वमनुमीयते चेदाकाशादिष्वविशेषदर्शनादन्यत्रापि तदनुमीयेत् ।

दीप आदि में क्षणिकता एक विशेष बात है यदि उसी की तरह अन्यत्र भी अनुमान करते हैं तो आकाश आदि जो नित्य वस्तुयें हैं उनकी तरह औरों की नित्यता का भी अनुमान क्यों नहीं करते ?

ॐ अनुस्मृतेश्च ॐ ।२।२।७।२५।।

'तदेवेदम्' इति प्रत्यभिज्ञानाच्च । प्रत्यभिज्ञाया भ्रान्तित्वे विशेषदर्शनस्यापि भ्रान्तित्वम् ।

'यह वही वस्तु है' ऐसी निश्चित पहिचान भी क्षणिकवाद में सम्भव नहीं है, पहिचानने में प्रायः भ्रांत हो जाती है, उस वस्तु के सामने पर भी भ्रांति होगी ही क्योंकि वह वस्तु तो विनष्ट हो चुकी है, सामने तो है नहीं अतः वस्तु का सही निर्णय नहीं किया जा सकता।

८ अधिकरण

शून्यवादमपाकरोति—शून्यवादी बौद्धों के मत का निराकरण करते हैं।

ॐ नासतोऽदृष्टत्वात् ॐ ।२।२।८।२६।।

अदृष्टत्वादसतः कारणत्वं न युज्यते ।

जो वस्तु अदृश्य है, उसकी सत्ता तो है नहीं, फिर वह वस्तु कारण कैसे हो सकती है।

ॐ उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॐ ।२।२।८।२७।।

असतः कारणत्वे उदासीनानां हेयोपादेयबुद्धिवर्जितानां खपुष्पादीनामपि सकाशात् कार्यसिद्धिः । च शब्दान्न चेदन्यत्रापि न स्यादविशेषात् ।

यदि अस्तित्व रहित वस्तु को कारण स्वीकारते हैं तो जो लोग अच्छे बुरे को न पहचानने वाले चुपचाप बैठे रहने वाले हैं उनसे भी आपसे आप कार्य हो जाना चाहिये तथा खपुष्प आदि जो काल्पनिक असत् वस्तुयें हैं उनसे भी कार्य हो जाना चाहिये। यदि कहें कि उनसे तो नहीं हो सकता तो फिर शून्य से भी नहीं हो सकता उसमें क्या विशेषता है।

ॐ नाभाव उपलब्धेः ॐ ।२।२।८।२८।।

न च जगदेव शून्यमिति वाच्यम्, दृष्टत्वात् ।

जगद ही शून्य ही ऐसा भी नहीं कह सकते, उसकी तो स्पष्ट प्रतीति हो रही है।

ॐ वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॐ ।२।२।८।२९।।

न च दृष्टस्यापि स्वप्नादिवदभावः । तस्योत्तरकाले स्वप्नोऽयं नायं सर्प इत्याद्यनुभवात् । न चात्र तादृशं प्रमाणमस्ति ।

प्रत्यक्ष दीखने वाली जगत की वस्तुओं को स्वप्न की तरह झूठी नहीं कह सकते। स्वप्न के बाद तो 'यह स्वप्न था, सर्प नहीं है' ऐसी अनुभूति होती है, दृष्ट जगत में तो ऐसी अनुभूति नहीं होती।

९ अधिकरण

विज्ञानवादमपाकरोति—बौद्धों के विज्ञानवाद का निराकरण करते हैं—

ॐ न भावोऽनुपलब्धेः ॐ ।२।२।९।३०।।

न विज्ञानमात्रं जगत्, तथानुभवाभावात् ।

जगत केवल ज्ञानमात्र ही नहीं है, इसकी केवल ज्ञानरूप से ही अनुभूति नहीं होती प्रत्यक्ष अनुभूति होती है।

ॐ क्षणिकत्वाच्च ॐ ।२।२।९।३१।।

ज्ञानं क्षणिकं, अर्थानां च स्थायित्वमुक्तं, अतश्च नैक्यम् ।

ज्ञान क्षणिक होता है, जागतिक विषयों की स्थायी प्रतीति होती है, इसलिये दोनों की एकता सम्भव नहीं है।

ॐ सर्वथानुपपत्तेश्च ॐ ।२।२।९।३२।।

प्रमाणाभावात् सर्वश्रुतिस्मृतियुक्तिविरुद्धत्वाच्च नैते पक्षा ग्राह्याः ।

ऊपर जिन बौद्ध पक्षों की चर्चा की गई है, उनकी कोई प्रामाणिकता नहीं है, श्रुति स्मृति और युक्ति सभी से ये विरुद्ध हैं अतः इन्हें मान्यता नहीं देनी चाहिये।

१० अधिकरण

स्याद्वादिमतं दूषयति—जैनों के स्याद्वाद का निराकरण करते हैं—

ॐ नैकस्मिन्नसंभवात् ॐ ।२।२।१०।३३।।

'सत् स्यात् असत् स्यात् सदसत् स्यात् ततो अन्यच्च स्यात्' इत्येतन्नैकस्मिन् युज्यते, अदृष्टत्वेनासंभवात् ।

'है भी, नहीं है, है और नहीं है' इत्यादि विरुद्धतायें एक ही वस्तु में नहीं हो सकतीं। जब वस्तु है ही नहीं तब उसकी सम्भावना की बात निरर्थक ही है।

ॐ एवं चात्माऽकार्त्स्न्यम् ॐ ।२।२।१०।३४।।

जीवस्य शरीरपरिमितत्वांगीकारेऽण्वादिशरीरस्थस्य हस्त्यादिशरीरे अकार्त्स्न्यं स्यात् ।

जीव को जब शरीर परिभाषा का मानते हो तो अणु आदि शरीरस्थ जीव की स्थिति, हाथी आदि विशालकाय में तो हो नहीं सकती, इसका तात्पर्य तो यही हुआ कि—अणु जीव अणु ही तथा विशाल, विशाल ही होता रहता है या वह शरीरानुसार घटता-बढ़ता रहता है उसका कोई निश्चित परिमाण नहीं है।

ॐ न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॐ ।२।२।१०।३५।।

तत्तच्छरीस्थस्य तत्तत्परिमाणत्वमिति न मन्तव्यम् । विकारित्वादनित्यत्वप्रसक्तेः ।

छोटे-बड़े शरीर के अनुसार परिमाण मानने से जीव में विकारिता और अनित्यता दोष घटित होंगे।

ॐ अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषात् ॐ ।२।२।१०।३६।।

परिमाणाभावे स्वरूपाभावप्राप्त्यान्त्यपरिमाणस्थितेस्तदर्थत्वेन शरीरस्थितेरुभयनित्यत्वादविशेषेण सर्वशरीरनित्यत्वं स्यात् ।

यदि निश्चित परिमाण नहीं मानते तो स्वरूप का निर्धारण नहीं हो सकता,

जो परिमाण होगा तो उसी के अनुसार शरीर भी होगा, जो कि सदा बने रहेंगे। इस प्रकार सामान्यतः सारे ही शरीर नित्य ही सिद्ध होते हैं।

११ अधिकरण

पाशुपतपक्षमपाकरोति—

पाशुपत मत का निराकरण करते हैं।

ॐ पत्युरसामञ्जस्यात् ॐ ।२।२।११।३७।।

'यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्त वा।' अस्य देवस्य मीलुषो वया विष्णोरेषस्य प्रभृते हविर्भिः। विदेहि रुद्रो रुद्रियं महित्वं यासिष्टं वर्तिरश्विना विरावत्। 'एको नारायणासीन्न ब्रह्मा नेशानो नाग्नीषोमौ' इत्यादिश्रुतेः पारतंत्र्येणासमञ्जसत्वान्न पशुपतिरीश्वरो जगत्कर्त्ता।

'यं कामये तं तमुग्रं' अस्य देवस्य 'विदेहि रुद्रोरुद्रियं' 'एको नाराण आसीन्न' इत्यादि श्रुतियों से पशुपति की परतंत्रता निश्चित होती है जिससे पशुपति का जगतकर्ता मानना असंगत प्रतीत होता है।

ॐ सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॐ ।२।२।।११।३८।।

अशरीरत्वात्तस्य जगता सम्बन्धो न युज्यते कर्त्तृत्वेन मृत-पुरुषवत्।

जगत के कर्त्तृत्व में उस शरीर रहित पशुपति का, जगत से सम्बन्ध होना समझ में नहीं आता, जैसे कि मृत व्यक्ति कुछ भी करने में समर्थ नहीं होता वैसे ही शरीर विहीन क्या कर सकेगा?

ॐ अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॐ ।२।२।११।३९।।

पृथिव्याद्यधिष्ठाने स्थितो हि कुलालादिः कार्यं करोति, न चास्य तदस्ति।

मिट्टी के पात्रों के निर्माण में कुम्हार के अतिरिक्त दण्डचक्र आदि भी कारण होते हैं, जगत के निर्माण में पशुपति बिना उपकरणों के कैसे कृतकार्य हो सकते हैं, वे तो केवल निमित्त कारण मात्र हैं। इस मत में किन्हीं उपकरणों की चर्चा तो मिलती नहीं।

ॐ करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॐ ।२।२।११।४०।।

इदमेव जगत्तस्य करणवदधिष्ठानादिरूपम्, नित्यस्यापि कस्य चिद्-भावाद्युज्यत इति चेन्न। भोगादिप्राप्तेः। उत्पत्तिविनाशौ सुख-दुख-भोगाश्च प्राप्यन्ते तद्गताः।

यह जगत उस पशुपति के कारण (साधन विषयक हेतु) के रूप में अधिष्ठित है और नित्य है इसलिये इसका अभाव नहीं होता इत्यादि कथन भी असंगत है, ऐसा मानने से उत्पत्ति विनाश सुख और दुःख आदि भोग पशुपति में घटित होंगे जिससे वह सामान्य सि० होंगे।

ॐ अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॐ ।२।२।११।४१।।

देहवत्त्वेऽन्तवत्त्वमन्यथा ज्ञानाभावः। शरीरीण एव हि ज्ञानो-त्पत्तिर्दृष्टा। विष्णोस्तु श्रुत्यैव सर्वे विरोधाः परिहृताः। 'यदात्मको भगवान् तदात्मिका व्यक्तिः, किमात्मको भगवान् ज्ञानात्मक ऐश्वर्या-त्मकः शक्त्यात्मकः।' इति। 'बुद्धिमनोऽङ्गप्रत्यङ्गवत्तां भगवतो लक्षया-महे, बुद्धिमान् मनोवानङ्ग प्रत्यङ्गवान्' इति। 'सद्देहः सुखगंधश्च ज्ञानाभाः सत् पराक्रमः, ज्ञानज्ञानः सुखसुखः स विष्णुः परमोक्षरः इत्यादिकया।

पशुपति को देहवान मानते हैं तो उनका अंत भी मानना होगा, यदि देहरहित मानते हैं तो उन्हें ज्ञानहीन मानना होगा क्योंकि शरीरधारी में ही ज्ञानोत्पत्ति देखी जाती है। यदि कहे कि—ये सारी आपत्तियाँ तो विष्णु के सम्बन्ध में भी की जा सकती हैं सो उनका निराकरण तो श्रुतियों में ही कर दिया गया है। 'जैसे भगवान हैं वैसी ही उनकी सृष्टि है, वे भगवान ज्ञानात्मक और ऐश्वर्या-त्मक हैं।' उन्हें बुद्धि मन अंग-प्रत्यंग वालों की तरह अनुभव किया जाता है, उन्हें बुद्धिमान, मनोवान्, अंगवान्, प्रत्यंगवान् समझा जाता है।' देहधारी सुखद गंधवाले ज्ञानवान् सत् पराक्रम, ज्ञानों के ज्ञान, सुखों के सुख वह विष्णु ही परम अक्षर हैं इत्यादि।

१२ अधिकरण

शक्तिपक्षं दूषयति—

शक्तिकारणवाद का निराकरण करते हैं।

ॐ उत्पत्त्यसंभवात् ॐ ।२।२।१२।४२।।

न हि पुरुषाननुग्रहीतस्त्रीभ्य उत्पत्तिर्दृश्यते ।

बिना पुरुष के अनुग्रह के स्त्री से उत्पत्ति नहीं देखी जाती ।

ॐ न च कर्त्तुः करणम् ॐ ।२।२।१२।४३।।

यदि पुरुषोऽगींक्रियते तस्यापि करणाभावादनुपपतिः ।

यदि पुरुष को वह स्वीकार भी कर ले तो भी शक्ति सृष्टि को प्रकट नहीं कर सकती क्योंकि उसमें करण का अभाव है ।

ॐ विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॐ २।२।१२।४४।।

यदि विज्ञानादिकरणं तस्यागींक्रियते तदा तत एव सृष्ट्याद्युपपत्तेरीश्वरवादान्तर्भावः ।

यदि उसमें विज्ञान आदि करणों को स्वीकारते हैं तो सृष्टि आदि की उपपत्ति में वह ईश्वरवाद के अन्दर आ जाती है ।

ॐ विप्रतिषेधाच्च ॐ ।२।२।१२।४५।।

सकलश्रुत्यादिविरुद्धत्वाच्चासमञ्जसम् ।

सब श्रुति आदि से विरुद्ध होने से यह मत उपेक्ष्य है ।

द्वितीय अध्याय द्वितीय पाद प्रमाप्त

सम्रीतिर्मदातेजाः परब्रह्म सनातनः।
जयताज्ज्ञानलोनाथो वेदवेद्यो महामतिः॥

द्वितीय अध्याय तृतीय पाद

१ अधिकरण

जीवपरमात्माधिभूताधिदैवेषु श्रुतीनां परस्परविरोधमपाकरोत्यनेन पादेन ।

इस पाद में जीव और परमात्मा सम्बन्धी अधिभूत और अधिदैवों में श्रुतियों के पारस्परिक विरोध का परिहार करते हैं ।

ॐ न वियदश्रुतेः ॐ ।२।३।१।१।।

न वियदनुत्पत्तिमत् तथाऽश्रुतेः ।

आकाश की उत्पत्ति नहीं होती, श्रुति के सृष्टि प्रकरण में उसकी उत्पत्ति का उल्लेख नहीं है ।

ॐ अस्ति तु ॐ ।२।३।१।२।।

अस्त्येव चोत्पत्तिश्रुतिः 'आत्मन आकाशः संभूतः' इत्यादि ।

किन्तु 'आत्मा से आकाश हुआ' ऐसी उत्पत्ति बतलाने वाली श्रुति भी है ।

ॐ गौण्यसम्भवात् ॐ ।२।३।१।३।।

'अनादिर्वा अयमाकाशः शून्योऽलौकिकः' इत्यादि श्रुतिर्गौणी, अन्यथोत्पत्तिश्रुतिबाहुल्यासम्भवात् ।

'यह शून्य अलौकिक आकाश अनादि है' इत्यादि श्रुति गौणी है । क्योंकि उत्पत्ति श्रुति का बाहुल्य है, अतः उक्त कथन असम्भव है ।

ॐ शब्दाच्च ॐ।२।३।१।४।।

'अथ ह वा व नित्यानि पुरुषः प्रकृतिरात्मा कालः' इति । 'अथ यान्यनित्यानि प्राणः श्रद्धा भूतानि भौतिकानि' इति । 'यानि ह वा उत्पत्तिमन्ति तान्यनित्यानि ।' यानि ह वा अनुत्पत्तिमन्ति तानि नित्यानि 'न ह्येतानि कदाचनोत्पद्यन्ते, न विलीयन्ते पुरुषः

प्रकृतिरात्मा कालः' इति । 'अथैतान्युत्पत्तिमन्ति चानुत्पत्तिमन्ति च प्राणः श्रद्धाकाश इति भागशो ह्युत्पद्यन्ते' इति भाल्लवेयश्रुतेश्च ।

'पुरुष, प्रकृति, आत्मा और काल नित्य हैं' इनके अतिरिक्त प्राण, श्रद्धा, भूत, भौतिक आदि सब कुछ अनित्य हैं' जो उत्पन्न होते हैं वे अनित्य हैं तथा जो उत्पन्न नहीं होते वे नित्य हैं' पुरुष, प्रकृति, आत्मा और काल, कभी उत्पन्न न होते हैं, न नष्ट होते हैं। 'प्राण, श्रद्धा और आकाश उत्पन्न भी होते हैं, नहीं भी होते इनका अंश उत्पन्न होता है' ऐसी भाल्लवेय श्रुति है।

ॐ स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॐ ।२।३।१।५।।

स्यादेवैकस्योत्पत्तिमत्त्वमनुत्पत्तिमत्त्वं च गौणमुख्यापेक्षया । यथा ब्रह्मशब्दः । 'अथ कस्मादुच्यते परं ब्रह्मेति बृंहति बृंहयति चेति' इति श्रुतेः परे ब्रह्मणि मुख्योऽपि गौणत्वेन विरिञ्चादिष्वपि वर्त्तते । अत एवाब्रह्मत्वं तेषाम् । एवमन्यत्रापि अनुत्पत्तिमच्छब्दः ।

एक ही वस्तु को उत्पत्तिमान और अनुत्पत्तिमान, गौण और मुख्य की दृष्टि से बतलाया गया है, जैसे कि ब्रह्म शब्द है। 'अथ कस्मादुच्यते परं ब्रह्मेति बृंहति, बृंहयति चेति' इत्यादि श्रुति से ज्ञात होता है कि ब्रह्मशब्द परब्रह्म रूप में मुख्य होते हुये भी चतुर्मुख ब्रह्मा इत्यादि के लिये भी गौण रूप से प्रयोग किया जाता है इसलिये ब्रह्मा आदि का अब्रह्मत्व हैं। इसी प्रकार अनुत्पत्तिमान शब्द के लिये भी समझना चाहिये कि वह गौण है।

ॐ प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॐ ।२।३।१।६।।

ब्रह्मणोऽन्यस्य नित्यत्वे 'स इदं सर्वमसृजत्' इत्यादि प्रतिज्ञाहानिः । आकाशस्यापि सर्वस्मादव्यतिरेकात् । 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' सदेव सोम्येदमग्र आसीत् 'एकमेवाद्वितीयम्' इदं वा अग्रे नैव किंचनासीत् 'इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

ब्रह्म के अतिरिक्त औरों की नित्यता मानने से 'उसने ये सब कुछ बनाया' इत्यादि नियम में बाधा उपस्थित होती है। आकाश भी वैसे सबसे भिन्न नहीं है। 'एकमात्र आत्मा ही पहले था' हे सौम्य! यह सत् ही पहले था

'यह एक अद्वितीय था' 'पहले कुछ नहीं था' इत्यादि श्रुतियों से एकमात्र ब्रह्म को ही अविनाशी कहा गया है।

ॐ यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॐ ।२।३।१।७।।

विभक्तत्वाच्च विकारित्वं युक्तम् । विकारिण एव हि विभक्ता लोके दृश्यन्ते

'एकोऽविभक्तः परमः पुरुषो विष्णुरुच्यते' ।
प्रकृतिः पुरुषः कालस्त्रय एते विभागतः ।।
चतुर्थस्तु महान्प्रोक्तः पंचमाऽहंकृतिर्मता ।
तद्विभागेन जायन्त आकाशाद्याः पृथक्-पृथक् ।।
यो विभागी विकारः स सोऽविकारः परो हरिः ।
अविभागात् परानन्दो नित्यानित्यगुणात्मकः ।।
'विभागो ह्यल्पशक्तिस्यान्न तदस्ति जनार्दने' ।

इति बृहत्संहितायाम् ।

खण्ड वस्तु विकृत होती है, लोक में विकृत वस्तु ही खण्ड रूप में देखी जाती है। 'एकमात्र अखण्ड तो परम पुरुष विष्णु को ही कहते हैं' प्रकृति पुरुष और काल ये तीनों खण्ड होने से विकृत हैं चौथा महत्तत्त्व और पाँचवाँ अहंकार भी खण्ड है। उन खण्डों से ही आकाश आदि पृथक-पृथक् होते हैं। जो खण्ड है वो विकृत हैं एकमात्र अविकृत तो परमात्मा हरि ही हैं। अखण्ड होने से हरि वह परानन्द नित्य और नित्य गुणात्मक हैं, खण्ड वस्तु ही अल्पशक्ति वाली होती है सो जनार्दन तो खण्ड हैं नहीं।' ऐसा बृहत्संहिता का वचन है।

२ अधिकरण

'अथ ह नित्याश्चानित्याश्च तेजोबन्नान्याकाशः' इति । तानि 'अनित्यानि वायुर्वाव नित्यो वायुना हि सर्वाणि भूतानि नेनीयन्ते' अथ ह चेतनाश्चाचेतनाश्च तेजोबन्नान्याकाशः 'इति' । तान्यचेतनानि वायुर्वाव चेतनो, वायुना हि सर्वाणि भूतानि विज्ञायन्ते । कुविदङ्ग नमसा ये वृधासः पुरा देवा अनवद्यास आसन् ते वायवे मनवेऽबाधि-

तायाऽवासयन्नुषसं सूर्येण । सा वा एषा देवतानादिर्योयं पवते 'इति । 'यस्यानादिर्न मध्यं नान्तो नोदयो न निम्लोचः' इत्यादिश्रुतिभ्यो वायोरनुत्पत्तिः । इत्यतो ब्रवीति—

'तेज जल पृथिवी और आकाश नित्य अनित्य हैं' उन अनित्यों से भिन्न वायु नित्य है, वायु से ही सारे भूत अपने कार्यों में प्रेरित होते हैं 'तेज, जल, पृथिवी, और आकाश चेतन अचेतन है, उन अचेतनों से भिन्न वायु चेतन है, वायु से ही सारे भूत जाने जाते हैं ।' इत्यादि तथा 'कुविदङ्ग' यस्यनादिर्न मध्यं नान्तो इत्यादि श्रुतियों से वायु की अनुत्पत्ति ज्ञात होती है। इसका उत्तर देते हैं–

ॐ एतेन मातारिश्वा व्याख्यातः ॐ ।२।३।२।८।।

एतेन मुख्यामुख्यानुत्पत्तिवचनेन विभक्तत्वाच्च वाय्वनुत्पत्तिश्रुतिरपि व्याख्याता ।

'नित्यः परमनित्यश्च तथाऽनित्यः परस्तथा ।
चतुर्धैतत् जगत् सर्वं पराऽनित्यं तु पार्थिवम् ।।
अनित्यानि तु भूतानि नित्यो वायुरुदाहृतः ।
परस्तु नित्यः पुरुषः प्रकृतिः काल एव च ।।
एतच्चतुष्टयं विष्णुः स्वयं नित्यः परात्परः ।
प्रतिव्यूह्य व्यूह्य चासावतीत्य च जनार्दनः ।।
धारयत्यनिशं देवो नित्यानन्दैकलक्षणः ।' इति कौर्मे ।

मुख्य अमुख्य सम्बन्धी अनुत्पत्ति वचन से और खण्ड होने से वायु की अनुत्पत्ति बतलाने वाली श्रुति की भी व्याख्या हो जाती है । वैसे वायु के सबंध में कूर्म पुराण में स्पष्ट उल्लेख है—यह समस्त जगत् नित्य परम नित्य अनित्य और परम अनित्य ऐसा चार प्रकारका है । जरायुज, अण्डज स्वेदज और उद्भिज आदि चार रूपों वाला यह पार्थिव जगत परम अनित्य है । सारे भूत अनित्य हैं, किन्तु वायु नित्य है, पुरुष प्रकृति और काल भी परम नित्य हैं, इन चारों रूप में स्वयं परात्पर नित्य भगवान विष्णु ही विराजमान हैं । वह नित्यानन्द स्वरूप जनार्दन ही सबको चारो से बाहर भीतर से धारण करते हैं ।'

३ अधिकरण

ॐ असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ।२।३।३।९।।

'असद् वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत' असतः सदजायत इत्यादि श्रुतिभ्यः सतोऽप्युत्पत्तिरिति चेन्न । अनुत्पत्तिरेव सतः । तुशब्देनोक्तव्यवस्थामपाकरोति । न ह्यसतः सदुत्पद्यते । अदृष्टत्वादनुपपत्तेः । 'तद् वा एतत् ब्रह्माहुर्बृहति बृंहयति चेति, तद् वा एतदसदाहुर्न ह्यासादयति कश्चन तद् वा एतद् परमाहुः परतो हि तदुदीक्ष्यत' इति श्रुतेरसच्छब्दो ब्रह्मवाची । 'देवानां पूर्वे युगेऽसतः सदजायतेति, ब्रह्म वा असत् सद् वाव प्राणः प्राणो वाव महान् सह ओजो बलमित्याचक्षत' इति पैङ्गिश्रुतिः ।

'त्वं देवशक्त्यां गुणकर्मयोनौ रेतस्त्वजायां कविरादधेजः ।
ततो वयं सत्प्रमुखा यदर्थे बभूविमात्मन् करवाम किं ते ।।'
इति भागवते । 'अजायमानो बहुधा विजायते' इति च ।

'प्रत्यक्षत्वं हरेर्जन्म न विकारः कथञ्चन ।
पुरुषः प्रकृतिः कालो महानित्यादिषु क्रमात् ।।
विकार एव जननं पुरुषे तद्विशेषणम् ।
परतन्त्रविशेषो हि विकार इति कीर्त्यते ।।' इति पाद्मे ।

'अविकारोऽपि भगवान् सर्वशक्तित्वहेतुतः ।
विकारहेतुकं सर्वं कुरुते निर्विकारवान् ।।
शक्तिशक्तिमतोश्चापि न विभेदः कथञ्चन ।
अविभिन्नापि सेच्छादिभेदैरपि विभाव्यते ।।'
इति भागवततन्त्रे ।

'यह असद् ही सृष्टि के पूर्व था, उसी से सद् हुआ' असत् से सत् हुआ 'इत्यादि में सत् की भी सृष्टि कहीं गई है, ऐसा कहना शक्य नहीं है । सत तो स्वयं ही अनुत्पन्न था सूत्र में तु शब्द से उक्त व्यवस्था का निराकरण करते हैं ।

असत् से सत् उत्पन्न नहीं होता, ऐसा देखायी नही जाता. यह बात अनुपपत्तेः पद से कही गई है। विस्तृत होने वाले और विस्तृत कराने वाले होने से ही इन्हें ब्रह्म कहते हैं 'इसे इसलिए असद् कहते हैं कि यह किसी को पीडित नहीं करते, इन्हें परम इसलिए कहते हैं कि ये सब से निराले दीखते हैं' इत्यादि श्रुति में, असद् शब्द ब्रह्म वाची है। 'देवता के पूर्व युग में असत् से सत् हुआ, ब्रह्म ही असत है प्राण सत् है, प्राण ही महान है, ओज सहित प्राण ही बल कहलाता है' इत्यादि पैङ्गि श्रुति भी है। श्रीमद भागवत में भी आता है कि —"हे परमात्मन् ! आप ही गुणकर्म की योनि देव शक्ति अजा प्रकृति में वीर्य का आधान करते हैं, उन्हीं से सत् प्रमुख, हम सब उत्पन्न होते हैं, अतः हम आपका क्या कर सकते हैं। 'न होता हुआ भी वे अनेक रूपों में जन्म लेता है' इत्यादि श्रुति भी वही बात कहती है। 'पुरुष, प्रकृति, काल, महान् आदि क्रम से हरि प्रत्यक्ष रूप से आविर्भूत होते हुए भी अविकृत हैं। पुरुष में विकार होता है, इसीलिए उसके लिए अविकृत ऐसा विशेषण नहीं दिया जाता, वह परतंत्र है इसलिए विकारी कहते हैं।' ऐसा पद्म पुराण का भी वचन है। 'वह निर्विकारी भगवान् अविकृत होते हुए भी सर्वशक्ति का प्रदर्शन करने के लिए सारे जगत को विकार हेतुक बनाते हैं।' शक्ति और शक्तिमान में कोई भेद नहीं है, वह स्वयं अभिन्न होते हुए भी अपनी इच्छा से द्वैत रूप में विभक्त होते हैं। ऐसा भागवततंत्र का वचन भी उक्त कथन की ही पुष्टि कर रहा हैं।

४ अधिकरण

ॐ तेजाऽतस्तथाह्याह ॐ ।२।३।४।१०॥

वायोरग्निरित्यादेनान्यित उत्पत्तिर्ग्राह्या। अत एव परात्तदपि जायते 'तत्तेजोऽसृजत' हति ह्याह। कारणत्वेनेत्युक्तेऽप्यमुख्यतयान्येषामपि शब्दोक्तत्वात् पुनरुक्तिरुभयकारणत्वनिवृत्यर्थम्।

वायु और अग्नि इत्यादि की किसी और से उत्पत्ति नहीं माननी चाहिए किन्तु परमात्मा से वे उत्पन्न होते ही हैं। जैसे कि 'उससे तेज की सृष्टि हुई' श्रुति में कहा गया है। इस श्रुति में ब्रह्म की कारणता बतलाकर तेज के अतिरिक्त अन्य की उत्पत्ति का सामान्यतः उल्लेख किया गया है, जिससे निश्चित होता है कि तेज ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य से उत्पन्न नहीं होता।

५ अधिकरण

ॐ आपः ॐ ।२।३।५।११॥

'ब्रह्मैवेदमग्र आसीत् तदपोऽसृजत तदिदं सर्वमिति श्रुतेरग्नेरापः' इत्युक्तेऽपि ब्रह्मण एवाबादिसृष्टिः।

'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥' इत्यादि च
'कर्त्ता सर्वस्य वै विष्णुरेक एव न संशयः।
इतरेषां तु सत्ताद्या यत एव तदाज्ञया॥'
इति च भविष्यत्पुराणे। वामने च
'तत्र तत्र स्थितो विष्णुस्तत्तच्छक्तीः प्रबोधयन्॥
एक एव महाशक्तिः कुरुते सर्वमञ्जसा।' इति।
धर्मात् स्वेदादिदृष्टेः पुनः प्रतिषेधः।

'सृष्टि के पूर्व यह सब ब्रह्म ही था, उसने जल की सृष्टि की फिर इस सब की सृष्टि की' इस श्रुति से तथा 'अग्नि से जल हुआ' इस श्रुति से भी ब्रह्म से ही जल की सृष्टि हुई ऐसा निश्चित होता है। जैसा कि श्रुति भविष्य और वामन पुराण के वचनों से निश्चित होता है - 'इसी से प्राण मन और इन्द्रियां हुई तथा आकाश, वायु, ज्योति, जल और विश्व के धारण करने वाली पृथिवी हुई।' एकमात्र विष्णु ही कर्त्ता हैं यह असंशित मत हैं औरों का महत्व इसलिए है कि वह उन्हीं की आज्ञा से कार्य करते हैं। 'उन-उन तत्वों में स्थिति विष्णु उन-उनकी शक्ति को प्रबुद्ध करने के लिए एक महाशक्ति को प्रेरित करते हैं।' जल आदि को जो स्वेद आदि रूपों में बतलाया गया है, उससे एकमात्र उन परमात्मा की ही कारणता की सिद्धि की गई है।

६ अधिकरण

'ता आप ऐक्षन्त बह्वः स्याम प्रजायेमहि' इति। 'ता अन्नमसृजन्त' इति अद्भ्यो अन्नसृष्टिः श्रूयते। 'अद्भ्यः पृथिवी' इति कुत्रचित् पृथिवीसृष्टिः। अतो विरुद्धत्वादप्रामाण्यम्। इत्यतो वक्ति—

'उन जलों को देखकर, सोचा अनेक रूपों की सृष्टि करूं' ऐसा सृष्टि प्रकारण में आया है इसी में फिर 'उन जलों से अन्न की सृष्टि की' इत्यादि से जलों से अन्न की सृष्टि का उल्लेख किया गया है। किसी जगह 'जलों से पृथिवी को सृष्टि की' इत्यादि में पृथिवी को जल से सृष्टि कहा गया है। ऐसे विरुद्ध वर्णन से श्रुति की अप्रमाणिकता सिद्ध होती है। इसका उत्तर देते हैं—

ॐ पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरादिभ्यः ।२।३।६।१२।।

पृथिवी तत्रान्नशब्देनोच्यते, भूताधिकारित्वात् । काण्र्यप्रचुरा च पृथिवी । नान्नस्य तथा विशेषः । 'आपश्च पृथिवी चान्नम्' 'पृथिवी-वाऽन्नम्, ता आपोऽन्नमसृजन्त पृथिवी वा अन्नम्' इत्यादिशब्दान्तराच्च । आदिशब्दाद्युक्तिः । अपौरुषेयत्वेनादोषस्य वाक्यस्य नाप्रामाण्यमित्यादि । कौर्मे च—

'विरोधो वाक्ययोर्यत्र नाप्रामाण्यं तदेष्यते ।
यथा विरुद्धता न स्यात्तथार्थः कल्प्य एतयोः ।।' इति ।

'रक्तोऽग्निरुदकं शुक्लं कृष्णैव पृथिवी स्वतः ।
नाभिपद्माभिसंबंधात् पीता सेत्यभीधीयते ।।
क्षत्ररक्ताभिसम्बन्धाद् रक्तोदकवहुत्वतः ।
शुक्लत्वमेत्येवमेव वर्णान्तरगतिर्भवेत् ।।
विष्णुवीर्याभियोगाच्च पीतत्वं भुव इष्यते ।
स्वर्णवीर्यो हि भगवाननादिः परमेश्वरः ।।'

इति व्योमसंहितायाम् ।

पृथिवी को ही उक्त श्रुति में अन्न शब्द बतलाया गया है, क्योंकि वह श्रेष्ठ भूत है। पृथिवी में कालिमा अधिक है, अन्न में वह बात नहीं है। 'आपश्च पृथिवी चान्नम्' पृथिवीऽवान्नम् 'ता आपोऽन्नमसृजन्त' इत्यादि शब्दों से निश्चित हो जाता है कि अन्न शब्द पृथिवीवाची है। सूत्र में आदि शब्द से युक्ति के सहारा लेने की बात कही गई है। वेद अपौरुषेय हैं इसलिए इसके शब्दों को अप्रमाणिक कहना उचित नहीं है! जैसा कि कूर्म पुराण का भी वचन है—'यदि

वैदिक वाक्यों में परस्पर विरोध हो तो उसे अप्रामाणिक नहीं कहना चाहिये, जिससे विरुद्धता का परिहार हो जाय ऐसा अर्थ करके समाधान करना चाहिये। 'व्योम संहिता में पृथिवी के वर्ण रूप आदि का उल्लेख है—'अग्नि लाल है, जल सफेद है, और पृथिवी काली है। भगवान के नाभि कमल से सम्बद्ध होने से इसे पीली भी कहते हैं। क्षत्रियों का रक्त सम्बद्ध होने से इसमें लाल जल भी बहुत है। यह प्रारम्भ में श्वेत ही थी किन्तु इसमें क्रमशः वर्णान्तर हो गया आदि परमेश्वर भगवान का स्वर्णवीर्य है, विष्णु के उस वीर्य के सम्बन्ध से पृथिवी को पीली कहते हैं।'

७ अधिकरण

'प्राणानां ग्रन्थिरसि रुद्रो माविशान्तकः, तेनान्नेनाप्यायस्व' इत्यादिनाऽन्यः संहर्त्ता प्रतीयते । इत्यतो ब्रूते—

'प्राणों की ग्रन्थि रुद्र है, वही संहर्त्ता है' इत्यादि से तो विष्णु के अतिरिक्त दूसरा संहर्त्ता प्रतीत होता है। इसका उत्तर देते हैं—

ॐ तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॐ ।२।३।७।१३।।

'तस्याभिध्यानाद् योजनात्तत्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमाया-निवृत्तिः' इति बन्धलयस्य तदभिध्याननिमित्तत्वलिंगात्तत्कर्तृत्वं प्रतीयते । किमुसादेर्जगतः । इत्येतस्मादेव संहारकर्त्ता विष्णुरिति प्रतीयते । 'किमु यमप्येति भुवनं साम्पराये स नो हरिर्घृतमिहायुषेत्तु देवः' य इदं सर्वं विलापयति स हरिः परः परमात्मा, इत्यादि श्रुतिभ्य इत्येवशब्दः ।

'स्रष्टा पाता च संहर्त्ता स एको हरिरिश्वरः ।
स्रष्टृत्वादिकमन्येषां दारुयोषावदुच्यते ।।
एकदेशक्रिया चात्र न तु सर्वात्मनेरितम् ।
स्पृष्ट्यादिकं समस्तं तु विष्णुरेव पराद् भवेत् ।। इति स्कांदे ।
'निमित्तमात्रमीशस्य विश्वसर्गनिरोधयोः ।
हिरण्यगर्भः शर्वश्च कालाख्यारूपिणस्तव ।।'

'उसकी प्रबल इच्छा के योग से ही संसार की सृष्टि होती है और अन्त में सारी माया की निवृत्ति हो जाती है' इस श्रुति से, संसार की सृष्टि और लय भगवान की प्रबल इच्छा से बतलाया गया है,अत: ये कार्य विष्णु के ही निश्चित होते हैं। जगत् सादि (प्रारम्भ होने वाला) है, इसलिए संहारकर्त्ता विष्णु ही प्रतीत होते हैं। 'जो कि परलोक में ले जाने वाले यम स्वरूप हरि हैं वे हमारे प्रदत्त घृत को हमारी आयुवर्द्धन के लिए ग्रहण करें। जो इस सारे जगत की लय करते हैं वे हरि ही परात्पर ब्रह्म हैं।' इत्यादि श्रुतियों में स्पष्ट संहारक रूप से विष्णु का ही उल्लेख है। 'स्रष्टा, पाता और संहर्त्ता वह एक हरि ही हैं, और जो देवता सृष्टि आदि कार्यों को करते हैं वे कठपुतली की तरह करते हैं ये सारे कार्य एकदेशीय हैं व्यापक नहीं हैं ,सृष्टि आदि समस्त परात्पर विष्णु से ही होती है।' ऐसा स्कन्द का वचन भी है। हिरण्यगर्भ और शिव तो जगत् की सृष्टि और संहार के निमित्तमात्र ही हैं, कालस्वरूप तो भगवन् आप ही हैं। 'यह भागवत का कथन है। 'वही ब्रह्मरूप से सृष्टि करते हैं, वही शंकर रूप से संहार करते हैं, सृष्टि संहार रहित वे परात्परानन्द स्वरूप हरि ही महान है। 'ऐसा महोपनिषद का भी वचन है।

८ अधिकरण

'अत एव हि इदं परात् क्रमादुत्पद्यते क्रमाद् विलीयते नासावृदेति नास्तमेति' इति भाल्लवेयश्रुतौ क्रमाल्लय: प्रतीयते ।

अक्षरात् परमादेव सर्वमुत्पद्यते क्रमात् ।
व्युत्क्रामात् विलयश्चैव स्वस्मिन्नेव परात्मनि ॥

इति चतुर्वेदशिखायां व्युत्क्रमाल्लय: प्रतीयते । इत्यत आह—

'यह सारा जगत उस परमात्मा से ही क्रम से ही होता है और क्रम से लीन हो जाता है, न उदित होता है न अस्त।' इस भाल्लवेय श्रुति में क्रमिक लय का उल्लेख है जब कि परम अक्षर से ही सब कुछ क्रम से उत्पन्न होता है और व्युत्क्रम से विलय होता है 'इस चतुर्वेद शिखा में व्युत्क्रम से लय का उल्लेख है। इसका उत्तर देते हैं—

ॐ विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॐ ।२।३।८।१४॥

क्रमवचनमपि विपरीतक्रमापेक्षया

'कर्त्ता प्राणादिकस्यास्य हन्ता भूयादिकस्य च ।

य: क्रमाद् व्युत्क्रमात् चैव स हरि: पर उच्यते ।
अनुरूप: क्रम: सृष्टौ प्रतिरूपो लये क्रम: ॥
इति क्रमेण भगवान् सृष्टिसंहरकृद् हरि: ।

इति पाद्मे । 'पूर्वेषां पूर्वेषां सामर्थ्यात्रिक्रयादुत्पद्यने च' वामने च—

पूर्वे पूर्वे यतो विष्णो: सन्निधानं क्रमाधिकम् ।
सामर्थ्याधिक्यमेतेषां पश्चादेव लयस्तथा ॥
व्याप्तिश्चभ्यधिका तेषामत एव न संशय: । इति

'अत एवेति इदं परात् 'इत्यादि भाल्लवेय श्रुति में जो क्रम से लीन होने की बात कही गई है वह विपरीत क्रम की दृष्टि से ही कही गई है भाल्लवेय श्रुति में ही उसे पुन: स्पष्ट भी किया गया है' प्राण आदि के कर्त्ता हरि हो पुन: इनका हनन भी करते हैं जो कि क्रम और व्यतिक्रम से करते हैं। 'पद्म पुराण में और भी स्पष्ट करते हैं' सृष्टि अनुरूप क्रम से होती है और लय प्रतिरूप क्रम से होती है, सृष्टि संहार के कर्त्ता भगवान हरि, इसी क्रम से करते हैं। पूर्व-पूर्व पदार्थों को सामर्थ्य में अधिक उत्पन्न करते हैं '(अर्थात् आकाश सबसे अधिक है उससे कम वायु उससे कम तेज उससे कम जल उससे कम पृथिवी) वामन पुराण में भी यही बात कही गयी है- भगवान विष्णु पूर्व पूर्व पदार्थों को सामर्थ्य में अधिक निर्माण करते हैं, बाद में उन सबका लय व्यतिक्रम से होता है कम पदार्थ अधिक में लीन होते जाते हैं।'

९ अधिकरण

ॐ अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिगांदिति चेन्नाविशेषात् ॐ ।२।३।१५।१९॥

'प्राणान्मनो मनसश्च विज्ञानम्',
यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज् ज्ञान आत्मनि ।

इति लिगांत् 'विज्ञानमनसी' अन्तरा विपरीत क्रम इति चेन्न । विशेषप्रमाणाभावात् ।

'प्राण से मन, मन से बुद्धि होती है' ऐसा सृष्टि का क्रम मिलता है किन्तु 'यच्छेद्वाङ्मनसी' इत्यादि में उक्त क्रम के विपरीत 'विज्ञानमनसी' कहा गया है, ऐसा संशय नहीं करना चाहिये, यह कोई विशेष प्रमाण नहीं है।

ॐ चराचराख्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॐ ।२।३।१६।९।।

'मनसश्च विज्ञानम्' इति व्यपदेशश्चराचरेष्वालोचनाद् विज्ञानं भवति इति भागापेक्षया स्यात् न विज्ञानतत्त्वापेक्षया। स्कान्दे च—

परादव्यक्तमुत्पन्नमव्यक्तात्तु महांस्तथा।
विज्ञानतत्त्वं महतस्समुत्पन्नं चतुर्मुखात्।।
विज्ञानतत्त्वात्तु मनो मनस्तत्त्वात्तु खादिकम्।
एवं बाह्यापरा सृष्टिरन्तस्तद्व्यक्त्यपेक्षया।।
विपरीतक्रमो ज्ञेयो यस्मादन्ते हरेद्दृशिः। इति

'मन से विज्ञान हुआ' ऐसा व्यपदेश तो चराचर में विज्ञान भी होता है, ऐसी अंश रूप से उसकी स्थिति का ज्ञापक है, विज्ञान तत्त्व की दृष्टि से नहीं है। स्कन्द पुराण में इन सब की सृष्टि के क्रम का स्पष्ट वर्णन है—'परब्रह्म से अव्यक्त हुआ, अव्यक्त से महत्तत्व हुआ, महत्तत्व से विज्ञानतत्त्व से मन हुआ, मन से आकाश आदि पंचमहाभूत हुये, इस प्रकार बाह्य अपर सृष्टि आन्तरिक सृष्टि से अपेक्षित है, अन्त में इसका लय विपरीत गति से जानना चाहिये।'

१० अधिकरण

ॐ नात्माश्रुतेर्निव्यत्वाच्च ताभ्यः ॐ ।२।३।१७।१०।।

'स इदं सर्वं विलाप्यान्तस्तमसि निलिनस्तद्विलाप्य व्युत्तिष्ठन्ते स इदं सर्वं विसृजति विलापयति विस्थापयति प्रस्थापयत्याच्छादयति प्रकाशयति विमोचयत्येक एव' इति श्रुतेः परमात्मापि न लीयते। अश्रुतत्वाद् ब्रह्मलयस्य। निलीनशब्देनापिहितत्वमुच्यते

'तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत' इति श्रुतेः। 'स एतस्मिंस्तमासि निलीनः प्रकृतिं पुरुषं कालं चानुपश्यति नैनं पश्यति कश्चन' इति पैंगिश्रुतिः। 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां'' स नित्यो निर्गुणो विभुः परः परमात्मा, 'नित्यो विभुः कारणो लोकसाक्षी परो गुणः सर्वदृक् शाश्वतश्च'' इत्यादि श्रुतिभ्यो नित्यत्वाच्च।

'वह इस सारे जगत को तम में विलीन करके उसमें विलुप्त होकर चुपचाप बैठे रहते हैं।' वह इस सारे जगत को रचते हैं, विलीन करते हैं, स्थापित करते हैं, प्रस्थापित करते हैं, आच्छादित करते हैं, प्रकाशित करते हैं, विमोचित करते हैं।' इस श्रुति में ऐसा कहीं नहीं आया कि परमात्मा भी लीन हो जाते हों। ब्रह्म के लय की बात किसी भी श्रुति में नहीं है विलीन शब्द आया भी है वह छिपने के अर्थ में आया है 'तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्' इत्यादि। 'वह इस तन में विलीन होकर प्रकृति पुरुष और काल को देखते रहते हैं, उन्हें कोई नहीं देख पाता।' ऐसी पैङ्गि श्रुति भी है। 'वह नित्यों का नित्य चेतनों का चेतन है', वह नित्य निर्गुण, विभु परात्पर आत्मा है, 'वह नित्य, विभु, कारण लोक साक्षी गुणों से पर सर्वद्रष्टा शाश्वत है' इत्यादि श्रुतियों से परमात्मा की नित्यता प्रमाणित होती है।

११ अधिकरण

'नित्यो नित्यानाम्' इति जीवस्यापि नित्यत्वमुक्तम् 'सर्वं एते चिदात्मनो व्युच्चरन्ति' इत्युत्पत्तिरुच्यते। अतो विरोध इत्यत आह—

'नित्यों का नित्य' इस श्रुति में तो जीव की नित्यता का भी उल्लेख है 'इस चिदात्मा में सब संचालित होते हैं' ऐसी जीवात्मा सम्बन्धी व्युत्पत्ति भी की गई है इससे तो उपर्युक्त मत से विपरीतता प्रतीत होती है इसका उत्तर देते हैं।

ॐ ज्ञोऽत एव ॐ ।२।३।११।१८।।

जीवोऽप्यत एव परमेश्वरादुत्पद्यते। शब्दादेव 'ते वा एते चिदात्मनोऽविनष्टाः परं ज्योतिर्निविशन्त्यविनष्टा एवोत्पद्यन्ते न विनश्यन्ति कदाचन' इति काषायणश्रुतिः।

जीव भी नित्य इस लिए है कि वह परमेश्वर से ही उत्पन्न हुआ है । वेद से ही ऐसा निश्चित होता है— 'ये सारे चैतन्य आत्मा जो कि कभी नष्ट नहीं होते परं ज्योति में प्रविष्ट हो जाते हैं और फिर बिना नष्ट हुए जैसे तैसे उत्पन्न हो जाते हैं, कभी नष्ट नहीं होते । "ऐसी काषायण श्रुति है ।

ॐ युक्तेश्च ॐ ।१।३।११।१९॥

नित्यस्यापि जीवस्योपाध्यपेक्षयोत्पत्तिर्युज्यते ।

'उत्पद्यन्ते चिदात्मानो नित्या नित्यात्परात्मनः ।
उपाध्यपेक्षया तेषामुत्पत्तिरपि गीयते ॥'

इति व्योमसंहितायाम् ।

नित्य होते हुए भी जिव की औपाधिक उत्पत्ति होती है । जैसा कि व्योम-संहिता में उल्लेख है—'उस नित्य परमात्मा से ये नित्य चैतन्य जीव और अनित्य अचेतन प्रकृति उत्पन्न होते है. उन सब को औपाधिक उत्पत्ति ही कही गई है ।'

१२ अधिकरण

'व्याप्ता ह्यात्मानश्चेतना निर्गुणाश्च सर्वात्मानः सर्वरूपा अनंताः इति काषायणश्रुतौ व्याप्तत्वं प्रतीयते । 'अणुर्ह्येष आत्मायं वा एते सिनीतः पुण्यं चापुण्यं च' इति गौपवनश्रुतावणुत्वमिति विरोधः इत्यतो ब्रवीति—

'ये सारे आत्मा चेतन निर्गुण, सर्वरूप अनन्त, सर्वात्मा और व्याप्त हैं । 'इस काषायण श्रुति में जीवों की व्यापकता प्रतीत होती है जब कि गोपवन श्रुति में "यह आत्मा अणु है इस समुज्वल आत्मा से ये सारे पदार्थं 'इत्यादि वर्णन द्वारा जीव के अणुत्व का प्रतिपादन किया गया है, इस विरुद्धता का समाधान करते हैं—

ॐ उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॐ ।२।३।१२।२०॥

हेतूनां सकाशादणुरेव । 'सोऽस्माच्छरीरादुत्क्रम्यामुं लोकमभि-गच्छत्यमुष्मादिमं लोकमागच्छति स गर्भो भवति स प्रसूयते स कर्म कुरुते' इति पौष्यायणश्रुतः ।

पौष्यायण श्रुति में जो हेतु प्रस्तुत किए गए हैं उनसे तो जीवात्मा का अणुत्व ही निश्चित होता है --'वह इस शरीर से निकल कर अमुक लोक में जाता है, उस लोक से पुनः इसी लोक में आकर गर्भ में प्रवेश करता है, जन्म लेता है कर्म करता है 'इत्यादि ।

तत्र स्वातन्त्र्यप्रतीतेः ।

'एकः प्रसूयते जन्तुरेकैव प्रमीयते ।
एकोऽनुभुंक्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥'

इत्यादेश्च स्वयमेव, इत्यतो वक्ति—

उक्त पौष्यायण श्रुति से जीव का स्वातंत्र्य भी प्रतीत होता है तथा 'जीव अकेला ही जन्म लेता है अकेला ही मरता है, अकेला ही पुण्य और पाप को भोगता है' इत्यादि से भी उसके स्वातंत्र्य की पुष्टि होती है, इसका उत्तर देते हैं—

ॐ स्वात्मनाचोत्तरयोः ॐ ।२।३।१२।२१॥

'स एतेनैव स्वात्मना' परेणेमं गर्भमनुप्रविशति परेण जायते परेण कर्म कुरुते परेण नीयते परेणोन्नीयते यं वा एतमभिवदन्ति स्वात्मा' इति । 'एष ह्यानंदमादत्ते एष ह्येनं जीवमभिजीवयत्येष उद्गमयत्येष आगमयत्युत्तरयोः वाक्ययोः परमात्मेनैवोत्क्रान्त्यादायः ।

'वह इसी अपने आत्मा से' वही परमात्मा इसे गर्भ में प्रवेश करता है, वही इससे कर्म कराता है, वही इसे लेजाता है, वही इसे ऊपर उठाता है, इसीलिए उसे स्वात्मा कहते हैं । यही आनंद देता है इसे, यही इस जीव को जिलाता है, यही मारता है, यही लाता है ।' इन दोनों पौष्यायण श्रुति के उत्तर वाक्यों से परमात्मा द्वारा ही उत्क्रांति आदि की बात निश्चित होती है ।

ॐ नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॐ ।२।३।१२।२२॥

'व्याप्ता ह्यात्मानश्चेतना निर्गुणाश्चेति' व्याप्तिश्रुतेर्नाणुर्जीव इति चेन्न । 'स आत्मेदं सृजति स द्विधेदं बिभर्त्यन्तर्बहिश्च स बहुधेदं अनुप्रविश्यात्मनोऽभिनयति स आत्मानस्स ईशः स विष्णु स परः परोवरीयान्' इति परमात्माधिकारात् ।

'एकशब्दैर्द्विशब्दैश्च बहुशब्दैश्च केशवः ।
एक एवोच्यते वेदैस्तावता नास्य भिन्नता ॥'

इति भविष्यत्पुराणे । तदयं प्राणोऽधितिष्ठति तदुक्तमृक्त्रिणा आतेनयातम् इत्यादि ।

'आत्मा व्याप्त चेतन और निर्गुण हैं' इत्यादि श्रुति में व्याप्ति का उल्लेख है अतः जीव अणु नहीं है, ऐसा कहना भी भ्रान्ति है, इसी प्रसंग में आगे जो कहा गया है - 'वह आत्मा इस जगत की सृष्टि करता है, वह दो होकर इस जगत का पोषण करता, अनेक होकर इस जगत में प्रविष्ट होकर अभिनय करता है, वह आत्मा का भी आत्मा है वह ईश विष्णु, परात्पर ब्रह्म है' इत्यादि से निश्चित होता है कि व्याप्ति की बात भी परमात्मा के लिए ही कही गई है। भविष्यत् पुराण में इस कथन की पुष्टि करते हैं कि 'एक दो और बहु शब्द से उस एक केशव का ही वर्णन किया जाता है इतने पर भी उसमें भिन्नता नहीं होती।' 'तदयं प्राणोऽधितिष्ठति' इत्यादि श्रुति भी वही बात कहती है।

ॐ स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ।२।३।१२।२३॥

'एषो ह्यात्माऽप्युद्गतो मानशक्तेस्तथाप्यसौ प्रमिति याति वेदैः पूर्णोऽचिन्त्यः सर्वदेवैकयोनिः सर्वाधीशः सर्ववित्सर्वकर्त्ता' इति वाक्यशेषे आत्मशब्दोन्मानाभ्यां च ।

'आत्मा मेयः परं ब्रह्म परानन्दादिकाभिधाः ।
वदन्ति विष्णुमेवैकं नान्यत्रासां गतिः क्वचिद् ॥' इति कौर्मे ।

'यह आत्मा अपनी मान शक्ति से विश्व में स्थित है, इसी से वेदों में इसे मापदण्ड कहा गया है। यह पूर्ण अचिन्त्य समस्त देवताओं का एकमात्र उत्पादक सर्वाधीश सर्ववित् सर्वकर्त्ता है।' इत्यादि अग्रिम प्रसंग 'व्याप्त आत्मा' को स्पष्टतः आत्मा कहकर जगत् का मापदण्ड बतलाया गया है जिससे परमात्मा का बोध होता है (जीव जगत का मापदण्ड नहीं हो सकता इस प्रसग में आत्मा शब्द जीववाची नहीं) इस कथन को पुष्टि कूर्म पुराण में और भी स्पष्ट रूप से की गई है—'परब्रह्म परानन्द परमात्मा को ही मेय आत्मा (मापदण्ड) कहा गया है, अतः वह विष्णु ही एकमात्र गति है, इनके अतिरिक्त इन जीवों की कहीं गति नहीं है।'

ॐ अविरोधश्चन्दनवत् ॐ ।२।३।१२।२४॥

अणोरपि जीवस्य सर्वशरीरव्याप्तिर्युज्यते । यथा हरिचन्दनविप्लुष एकदेशपतितायाः सर्वशरीरव्याप्तिः ।

'अणुमात्रोऽप्ययं जीवः स्वदेहं व्याप्य तिष्ठति ।
यथा व्याप्य शरीराणि हरिचन्दनविप्लुषः ॥' इति ब्रह्माण्डे ।

जीव अणु होते हुये भी समस्त शरीर में उसी प्रकार व्याप्त है जैसे कि मलयागिरि चन्दन की एक बिन्दु शरीर के किसी एक स्थान पर लगाते ही सारे शरीर को शीतल और सुगन्धित कर देती है। ब्रह्माण्ड पुराण में भी ऐसा ही कहते हैं—'यह जीव अणुमात्र होते हुए भी अपने देह में व्यापकरूप से रहता है जैसे कि—मलयागिरि चन्दन की एक बिन्दु पूरे शरीर को व्यापकरूप से आप्लावित करती है।'

ॐ अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद् हृदि हि ॐ ।२।३।१२।२५॥

सम्यगसम्यगवस्थानविशेषाद् युज्यते चन्दनस्येति चेन्न 'हृदि ह्येष आत्मा' इति जीवस्यापि तथाभ्युपगमात् ।

चन्दन तो किसी स्थान विशेष पर लगाने पर सारे शरीर को आप्लावित करता, किन्तु जीव का तो ऐसा कुछ नहीं है, ऐसा नहीं सोचना चाहिये 'हृदि-ह्येष आत्मा' श्रुति में जीव के भी स्थान विशेष का उल्लेख है।

ॐ गुणाद् वा लोकवत् ॐ ।२।३।१२।२६॥

यथा आलोकस्य प्रकाशगुणेन व्याप्तिर्ज्योतीरूपेणाव्याप्तिरेवं चिद्गुणेन व्याप्तिर्जीवरूपेणाव्याप्तिरिति वा स्कान्दे च—

'असम्यग् सम्यगिति ह्यवस्थाभेदतः सुराः ।
व्याप्त्यव्याप्तियुतास्त्वन्ये चिद्गुणेनैव नान्यथा ॥
चिद्गुणस्य स्वरूपत्वात्तद्व्याप्तिश्चेति युज्यते ।
शक्तियोगात् सुराणां तु विविधा च व्यवस्थितिः ॥' इति ।

जैसे कि आलोक में विशेष प्रकाशता होने से व्यापकता होती है, तथा ज्योति का सीमित फैलाव होती है इसी प्रकार चिद्गुण से, आत्मा की व्याप्ति तथा जीव रूप से आत्मा की अव्याप्ति रहती है। जीवावस्था में माया से आवृत्त होने से आत्मा का चिद्गुण मलिन रहता है। जैसा कि स्कन्द पुराण में स्पष्ट उल्लेख है—'देवताओं में अवस्थानुसार पूर्णता अपूर्णता होती है, इनमें व्याप्ति और अव्याप्ति ही पूर्णता अपूर्णता की द्योतक हैं, चिद्गुण से पूर्णता तथा उसके बिना अपूर्णता होती है। चिद्गुण स्वरूप होने से वे व्यापक होते हैं, यह गुण देवताओं की शक्ति के अनुसार उनमें तारतम्यानुसार होता है।'

१३ अधिकरण

'स नित्यो निरवयवः पुण्ययुक् पापयुक् च स, इमं लोकममुं चावर्त्तते स विमुच्यते स एकधा न सप्तधा न दशधा न शतधा' इति गौपवनश्रुतावेकस्याबहुत्वं प्रतीयते। 'स पञ्चधा स सप्तधा स दशधा च भवति स शतधा सहस्रधा स गच्छति स मुच्यते' इति पाराशर्यायणश्रुतौ बहुरूपत्वं प्रतीयते। अतो विरोधं परिहरति—

'वह नित्य निरवयव पुण्य पाप युक्त है, वह इस लोक में इनके साथ लौटता है, वह जब मुक्त होता है तब वह न एक होता है न सात, न दश, न सौ।' इत्यादि गौववन श्रुति में एक के अबाहुल्य कर परिज्ञान होता है, जबकि दूसरी पाराशर्यायणश्रुति में—'वह पांच सता, दश, सौ, हजार हो जाता है, वह मुक्त हो जाता है' इत्यादि में बहुरूपता का परिज्ञान होता है— इस विपरीतता का परिहार करते हैं—

ॐ व्यतिरेको गन्धवत्तथा च दर्शयति ॐ ।२।३।१३।२७।।

यथा पुष्पाद् गन्धः पृथग् गच्छति एवमंशितो जीवादंशाः पृथग्गच्छन्ति अथैक एव सन् गन्धवद् व्यतिरिच्यते। 'अथैकी भवत्यथ बह्वी भवति तं यथा यथेस्वरः प्रकुरुते तथा तथा भवति सोऽचिन्त्यः परमो गरीयान्' इति शाण्डिल्यश्रुतिः।

'अचिन्त्ययेशशक्त्यैव ह्येकोऽवयववर्जितः।
आत्मानं बहुधा कृत्वा क्रीडते योगसम्पदा ।।'

इति च पाद्मे।

जैसे कि पुष्प से गन्ध पृथक जाती है वैसे ही अंशी जीव से उसके अंश पृथक् जाते हैं। वह एक ही गन्ध की तरह अनेक हो जाता है। 'वह एक होता है, अनेक होता है, वह जैसे जैसे अपने ऐश्वर्य का प्रकाश करता है वैसे-वैसे ही हो जाता है, वह अचिन्त और गौरव शील हो जाता है'' इत्यादि शाण्डिल्य श्रुति का प्रमाण है। 'अपनी अचिन्त्य ऐश्वर्य शक्ति से अवयव रहित वह एक ही अपने को अनेक रूपों में विभक्त करके योग द्वारा क्रीडा करता है।' ऐसा पद्म पुराण का वचन भी है।

१४ अधिकरण

'तत्वमस्यहंब्रह्मास्मि' इत्यादिषु जीवस्य परेणाभेदः प्रतीयते। 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां द्वासुपर्णा' इत्यादिषु भेदः। अतः उच्यते—

'तत्वमसि' अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि श्रुतियों में तो जीव का परमात्मा से अभेद ज्ञात होता है तथा' नित्यो नित्यानां 'द्वासुपर्णा' आदि श्रुतियों में भेद प्रतीत होता है इसका समाधान करते हैं—

ॐ पृथगुपदेशात् ॐ ।२।३।१४।२८।।

'भिन्नोऽचिन्त्यः परमो जीवसंघात् पूर्णः परो जीवसंघो ह्यपूर्णः, यतस्त्वसौ नित्यमुक्तो ह्ययं च बन्धान् मोक्षं तत एवाभिवाञ्छेत्' इति सोपपत्तिककौशिकश्रुतेर्भिन्न एव जीवः।

'वह अचिन्त्य परमात्मा जीव समूह से भिन्न पूर्ण है, जब कि जीव समूह अपूर्ण है, इसीलिए परमात्मा नित्य मुक्त है, यह जीव बन्धन से मुक्त होने की इच्छा करता है।' इस कौशिक श्रुति में स्पष्टतः दोनों की भिन्नता दिखला दी है, इसलिए जीव परमात्मा से भिन्न ही है।

ॐ तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॐ ।२।३।१४।२९।।

ज्ञानानन्दादिब्रह्मगुणा एवास्य यतः सारः स्वरूपं अतोऽभेद-व्यपदेशः । यथा सर्वगुणात्मकत्वात् सर्वात्मकत्वं ब्रह्मण उच्यते "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इति । भविष्यत्पर्वणि च—

"भिन्ना जीवाः परो भिन्नस्तथापि ज्ञानरूपतः ।
प्रोच्यन्ते ब्रह्मरूपेण वेदवादेषु सर्वशः ।।" इति ।

जीव के ज्ञान आनन्द आदि गुण ब्रह्म हैं वे ही सार स्वरूप हैं, इसीलिए जीव ब्रह्म में अभेद का व्यपदेश किया गया है, सर्व गुणात्मक होने से ही ब्रह्म की सर्वात्मकता कही जाती है, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म में सर्वात्मकता का उल्लेख है। भविष्य पर्व में जीव ब्रह्म के संबंध का बड़ा सुस्पष्ट वर्णन है—'जीव भिन्न हैं, परमात्मा भिन्न है, फिर भी ज्ञान रूप होने से समस्त वेद मंत्रों में जीव को ब्रह्मरूप से वर्णन किया गया है।'

१५ अधिकरण

जीवस्याप्युत्पत्तिरुक्ता, अतस्तस्य 'सोऽनादिना पुण्येन पापेन चानुबद्धः परेण निर्मुक्त आनन्त्याय कल्पते" इत्यनादिकर्मबन्ध आनन्त्यवाप्तिश्च न युज्यते । इत्यत आह—

जीव की भी उत्पत्ति बतलाई गई है इसी प्रकार उसके कर्म बन्धन का भी उल्लेख है—'अनादि पुण्य पाप से अनुबद्ध, वह परमात्मा से निर्मुक्त होकर अनन्त रूप हो जाता है।' इसमें जीव का अनादि कर्म बंधन और, अनन्त रूप प्राप्ति का उल्लेख है, ये दोनों परस्पर विरुद्ध बातें कैसे संभव हैं? इसका समाधान करते हैं—

ॐ यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॐ ।२।३।१५।३०।।

यावत् परमात्मा तिष्ठत्यनाद्यनन्तत्वेनैवं जीवोऽपि । 'नित्यः परो नित्यो जीवोऽनित्यास्तस्य धातवः, अत उत्पद्यते म्रियते विमुच्यते च' इति चाग्निवेश्य श्रुतिः 'आत्मा नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो धातुरस्य त्वनित्यः' इति भारते ।

जैसे कि परमात्मा अनादि अनंत रूप से स्थित है वैसे ही जीव भी है जैसा कि—'परमात्मा नित्य है, जीव नित्य है, जीव की धातुएँ अनित्य हैं, इसी से यह जीव उत्पन्न होता, मरता और मुक्त होता है' अग्निवेश्य श्रुति का वचन है। महाभारत में भी इसी बात को कहा गया है 'आत्मा नित्य है, सुख-दुःख अनित्य हैं, जीव नित्य है, किन्तु उसकी धातुएँ अनित्य हैं।'

१६ अधिकरण

'विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः स आनन्दः स बलः स ओजः स परेणामुं लोकं नीयते स विमुच्यते' इति जीवस्य ज्ञानानन्दादि-रूपत्वमुच्यते । 'स दुःखाद् विमुक्त आनन्दी भवति, सोऽज्ञानाद् विमुक्तो बली भवति, स नित्यो निरांतकोऽवतिष्ठते' इति पैङ्गिश्रुतावना-नन्दादिरूपत्वं प्रतीयते । अत आह—

'यह विज्ञानात्मा देवताओं के साथ आनन्द बल ओज वाला है, वह परमात्मा द्वारा इस लोक को प्राप्त होता है वह विमुख होता है' इत्यादि में जीव को ज्ञानानन्द आदि रूप वाला कहा गया है 'वह दुःख से छूटकर आनंदी होता है, वह अज्ञान से छूटकर ज्ञानी होता है, वह निर्बलता से छूटकर बली होता है, वह नित्य आतंक रहित होकर रहता है' इत्यादि पङ्गि श्रुति से उसी के आनंद रहित आदि रूपों की प्रतीति होती है—इसका समाधान करते हैं—

ॐ पुंस्त्वादिवत्तस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॐ ।२।३।१६।३१।।

यथा बालस्य सदेव पुंस्त्वं यौवनेऽभिव्यज्यते, एवं सतामेवानंदादीनां व्यक्त्यपेक्षया तदुक्तिः ।

बलमानन्द ओजश्च सहो ज्ञानमनाकुलम् ।
स्वरूपाण्येव जीवस्य व्यज्यन्ते परमाद् विभोः ।।'

इति गौपवनश्रुतिः ।

जैसे बालक का पौरुष यौवन में व्यक्त होता है वैसे ही जीव के आनन्द आदि परमात्मा भाव में व्यक्त होते हैं। गौपवन श्रुति में स्पष्ट कहा गया है—'बल आनन्द ओज और अखण्ड ज्ञान जीव के अपने स्वरूप में ही हैं, जो कि विभु परमात्मा के योग से प्रकट होते हैं।"

ॐ नित्योपलब्ध्यनुपलब्धि प्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वान्यथा ॐ

।२।३।१६।३२॥

व्यक्त्यनङ्गीकारे देवानां नित्योपलब्धिरानन्दादीनामसुराणाम-नित्यानुपलब्धिर्मनुष्याणां च नित्योपलब्ध्यनुपलब्धी प्रसज्येते 'नित्यानन्दो नित्यज्ञानो नित्यबलः परमात्मा नैवमसुरा एवं अनेवं मनुष्याः' इत्याग्निवेश्यश्रुतिः । भविष्यत्पर्वणि च—

'नित्यानन्दज्ञानबला देवा नैवं तु दानवाः,
दुःखोपलब्धिमात्रास्ते मानुषास्तूभयात्मकाः ।
तेषां यदन्यथा दृश्यं तदुपाधिकृतं मतं,
विज्ञानेनात्मयोगेन निजरूपव्यवस्थितिः ।
सम्यग्ज्ञानं तु देवानां मनुष्याणां विमिश्रितम्,
विपरीतं तु दैत्यानां ज्ञानस्यैवं व्यवस्थितिः ॥' इति ।

व्यक्ति को न स्वीकारने पर आनन्द आदि गुण देवताओं में नित्य उपलब्ध होते हैं, असुरों में अनुपलब्ध होते हैं तथा मनुष्यों में नित्य उपलब्ध और अनुपलब्ध होते हैं। जैसा कि आग्निवेश्य श्रुति में आया भी है—नित्यानन्द नित्य ज्ञान नित्य बल परमात्मा में ही हैं असुरों में नहीं हैं, मनुष्य में हैं भी, नहीं भी हैं।' भविष्यत पर्व में भी इसी कथन की पुष्टि की गई है 'नित्यानन्द ज्ञान बल देवताओंमें होते हैं दानवों में नहीं होते दानव तो केवल दुःख ही प्राप्त करते रहते हैं, मनुष्य को दोनों उपलब्ध हैं। इसके विपरीत यदि कहीं दीखते हैं तो वे औपाधिक हैं, जो कि आत्मयोग की साधना से प्राप्त होते हैं उस साधना से जीव की अपने रूप में स्थिति हो जाती है। देवताओं में ज्ञान संपूर्ण रूप से रहता है, मनुष्यों में वह मिश्रित रूप से रहता है, दानवों में रहता ही नहीं यहीं ज्ञान की व्यवस्था है।'

१७ अधिकरण

ईश्वरस्यैव कर्त्तृत्वमुक्तम्, 'यत् कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते' इति जीवस्याप्युपलभ्यते । अत आह——

कर्त्तृत्व एक मात्र ईश्वर का ही बतलाया गया है किन्तु 'जैसा कर्म करता है, वैसा हो जाता है' इत्यादि से तो जीव का कर्तृत्व भी ज्ञात होता है—इसका समाधान करते हैं—

ॐ कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॐ ।२।३।१७।३३॥

जीवस्य कर्तृत्वाभावे शास्त्रस्याप्रयोजकत्वप्राप्तेर्जीवोऽपि कर्त्ता ।

जीव में कर्त्तृत्व का अभाव है ऐसा मानने से शास्त्र का वचन झूठा हो जाएगा अतः यही मानना चाहिए कि जीव भी कर्त्ता है।

ॐ विहारोपदेशात् ॐ ।२।३।१७।३४॥

'स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा' इत्यादिना मोक्षेऽपि ।

'स्त्रीभिर्वा यानैर्वा' इत्यादि श्रुति से मोक्षावस्था में भी जीव के कर्त्तृत्व का परिज्ञान होता है।

ॐ उपादानात् ॐ ।२।३।१७।३५॥

साधनाद्युपादानप्रतीतेश्च ।

साधना आदि करने का जीव के लिए उपदेश दिया गया है उससे भी जीव का कर्तृत्व निश्चित होता है।

ॐ व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॐ ।२।३।१७।३६॥

'आत्मानमेव लोकमुपासीत्' इति क्रियायां व्यपदेशाच्च, अन्यथात्मैव लोकमिति निर्देशः स्यात् ।

'आत्मानमेव लोकमुपासीत्' ऐसे जीव के लिए क्रिया में किए गए व्यपदेश से भी जीव का कर्त्तृत्व निश्चित होता है, यदि ऐसा न होता तो 'आत्मैव लोकम्' ऐसा पद प्रयोग किया गया होता।

तर्हि कथमीश्वरस्यैव कर्तृत्वमित्यतो वक्ति——

फिर केवल ईश्वर के ही कर्त्तृत्व की चर्चा का क्या अर्थ है? इस पर कहते हैं—

ॐ उपलब्धिवदनियमः ॐ ।२।३।१७।३७॥

यथा ज्ञान 'इदं ज्ञास्यामि' इत्यनियमः प्रतीयते, एवं कर्मण्यपि जीवस्य 'य आत्मानमन्तरो यमयति' इति च श्रुतिः ।

जैसे कि 'मैं इसको जानता हूँ' ऐसा कोई नियम ज्ञान के संबन्ध में नहीं है वैसे ही कर्म में जीव के अधिकार की बात भी है। 'जो आत्मान्तर्यामी होकर संयमन करता है' ऐसी श्रुति भी है।

ॐ शक्तिविपर्ययात् ॐ ।२।३।१७।३८।।

अल्पशक्तित्वाज्जीवस्य ।

जीव की शक्ति अति सीमित है, परमात्मा के संयमन से ही वह कार्य संपादन कर पाता है।

ॐ समाध्यभावाच्च ॐ ।२।३।१७।३९।।

समाधानाभावाच्चास्वातंत्र्यं प्रतीयते अतः--

उसमें कार्य के समाधान का अभाव दिखलाया गया इसलिए उसकी परतंत्रता ज्ञात होती है।

ॐ यथा च तक्षोभयथा ॐ ।२।३।१७।४०।।

यथा तक्ष्णः कारयितृनियतत्वं कर्तृत्वं च विद्यते, एवं जीवस्यापि ।

जैसे कि बढ़ई कार्य करने वाले विशिष्ट कारीगर के नियन्त्रण में ही कार्य करता है वैसे ही जीव में भी दोनों बातें हैं :

ॐ परात्तु तच्छ्रुतेः ॐ ।२।३।१७।४१।।

सा च कर्तृत्वशक्तिः परादेव ।

'कर्तृत्वं करणत्वं च स्वभावश्चेतना धृतिः ।
यत्प्रसादादिमे सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया ।।'

इति पैङ्गिश्रुतिः ।

जीव में वह कर्तृत्व शक्ति परमात्मा से ही प्राप्त होती है जैसा कि पैङ्गि श्रुति में स्पष्ट उल्लेख है---'कर्तृत्व, करणत्व, स्वभाव, चेतना और धृति जीव में, परमात्मा की कृपा से हो हैं, उनकी उपेक्षा से इसमें इनका अभाव होता है।'

ॐ कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषेधावैयर्थ्यादिभ्यः ॐ ।२।३।१७।४२।।

ततोऽप्रयोजकत्वं शास्त्रस्य नापद्यते । कृतप्रयत्नापेक्षत्वात्तत्प्रेरकत्वस्यअि, दशब्देनावैषम्यादि ।

'पूर्वकर्म प्रयत्नं च संस्कारं चाप्यपेक्ष्य तु ।
ईश्वरः कारयेत् सर्वं तच्चेश्वरकृतं स्वयम् ।
अनादित्वाददोषश्च पूर्णशक्तित्वतो हरेः ।।'

इति भविष्यत्पर्वणि ।

'एतदेवं न चाप्येवमेतदस्ति न चास्ति च ।।'

इति मोक्षधर्मे ।

शास्त्र में परमात्मा और जोव दोनों को कर्त्ता कहा गया है वह ठीक ही है, जीव के प्रयत्न में प्रेरणा परमात्मा की ही रहती है, बिना उनकी प्रेरणा के वह कार्य नहीं कर सकता। इसीलिए परमात्मा में विषमता निर्दयता आदि दोष नहीं लगते क्यों कि वह जीव के प्रयास के अनुरूप सहयोग देते हैं। जैसा कि भविष्यत् पर्व का वचन भी है—'पूर्वकर्म प्रयत्न और संस्कार में ईश्वर की अपेक्षा रहती है, ये उन्ही के बनाए हुए है वे ही सब कराते हैं ।'परमात्मा अनादि निर्दोष और पूर्ण शक्तिमान हैं।'मोक्षधर्म में भी कहते हैं कि—'जीवात्मा बिना परमात्मा की कृपा के कुछ भी करने, न करने में समर्थ नहीं है।'

१८ अधिकरण

'अंशा एव हि इमे जीवा अंशी हि परमेश्वरः ।
स्वयमंशैरिदं सर्वं कारयेत्यचलो हरिः ।।'

इति गौपवनश्रुतावंशत्वं जीवस्योपलभ्यते ।

नैवांशो न संबंधो नापेक्ष्यो जीवः परस्य, तथापि तु यथायोगं फलदः प्रभुरेकराट्' न नियमाः स कस्यापि स सर्वस्य नियामकः इति भाल्लवेयश्रुतौ । अतो ब्रवीति---

"ये जीव अंश हैं, परमात्मा अंशी है, वे अचल हरि स्वयं ही यह सब अंशों से करवाते हैं।" इत्यादि गौपवन श्रुति से जीव की अंशता ज्ञात होती है। इसके विपरीत भाल्लवेय श्रुति में—"जीव अंश नहीं है न उसका परमात्मा से अंशांशी सम्बन्ध ही है, जीव परमात्मा से अपेक्ष्य भी नहीं है फिर भी सर्व स्वतन्त्र प्रभु जीव को कर्मानुसार यथायोग फल देते हैं। वह परमात्मा किसी से नियम्य नहीं है सबके नियामक ही हैं।" उसका समाधान करते हैं—

ॐ अंशो नानाव्यपदेशादन्यथाचापिदाशकितवादित्वमधीयत एके ॐ ।२।३।१८।४३।।

'मां रक्षतु विभुर्नित्यं पुत्रोऽहं परमात्मनः'

अवः परेण पितरं योऽस्यानुवेद परं एनावरेण, 'यस्तद्वेद स पितुष्पिताऽसत्' यस्ता विजानात् स पितुष्पिताऽसत्, 'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया' इत्यादिना नानाव्यपदेशांदशो जीवः । तथा च पाराशर्यायणश्रुतिः 'अंशो ह्येष परस्य योऽयं पुमानुत्पद्यते च म्रियते च नाना ह्येनं व्यपदिशन्ति पितेति पुत्रेति भ्रातेति सखेति चेति, अन्यः परोऽन्यो जीवो नासावस्य कुतश्चन । 'नायं तस्यापि कश्चनेत्यन्यथा' च काषायणश्रुतिः । 'ब्रह्मदाशा ब्रह्मकितवा ब्रह्मैवेमे दासा' इत्यभेदेनाऽप्येकेऽधीयते । तथा चाग्निवैश्यश्रुतिः 'अंशो ह्येष परस्य भिन्नं ह्येनमधीयिरेऽभिन्नं ह्येनमधीयिरः' इति । वाराहे च—

'पुत्रमातृसखित्वेन स्वामित्वेन यतो हरिः ।
बहुधा गीयते वेदैर्जीवोंऽशस्तस्य तेन तु ।।
यतो भेदेन तस्यायमभेदेन च गीयते ।
अतश्चांशत्वमुद्दिष्टं भेदाभेदौ न मुख्यतः ।।' इति ।

"वे विभु मेरी रक्षा करें मैं परमात्मा का नित्य पुत्र हूँ" जो उन्हें पिता का भी पिता जानता है "दो मित्र पक्षी" इत्यादि भेद के निर्देश से जीव अंश ही निश्चित होता है। पाराशर्यायणश्रुति भी है—यह परमात्मा का अंश है यह जन्मता मरता है, इसे पिता, पुत्र, भाई, सखा आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है, परमात्मा भिन्न है, जीव भी भिन्न है, इससे उसका कोई व्यावहारिक सम्बन्ध नहीं है। "नायं तस्यापि कश्चनेत्यन्यथा" इत्यादि काषायण श्रुति भी है। "ब्रह्म ही मल्लाह हैं, ब्रह्म ही धूर्त हैं, ब्रह्म ही चाकर हैं" इत्यादि एक श्रुति से अभेद का भी परिज्ञान होता है। वाराह पुराण में आता है कि "पुत्र, भाई, सखा, स्वामी रूप में हरिः ही का उल्लेख किया गया है, इससे ज्ञात होता है कि जीव उनका अंश है, वे इन रूपों में अपने अंश जीव द्वारा ही व्यवहार करते हैं।

इसीलिए उनका भेद अभेद रूप से उल्लेख किया गया है अंशत्व के आधार पर जीव परमात्मा का भेदाभेद है।"

ॐ मन्त्रवर्णात् ॐ ।२।३।१८।४४।।

'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' इति ।

"उसके एक पाद में सारा भौतिक जगत है" इस वैदिक मंत्र से भी जीव का अंशत्व निश्चित हो जाता है।

ॐ अपि स्मर्यते ।२।३।१८।४५।।

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' इति ।

"इस जीव लोक में मेरा ही सनातन अंश जीव होकर आता है "ऐसा स्मृति का प्रमाण भी है।

अनंशत्वश्रुतेर्गतिं चाह—

अब अंश का विरोध करने वाली श्रुति पर विचार करते हैं—

ॐ प्रकाशादिवन्नैवं परः ॐ ।२।३।१८।४६।।

अंशत्वेऽपि न मत्स्यादिरूपी पर एवंविधः यथा तेजोंऽशस्यैव कालाग्नेः खद्योतस्य च नैकप्रकारता । यथा जलांशस्यामृतसमुद्रस्य मूत्रादेश्च यथा च पृथिव्यंशस्य मेरोर्विष्ठादेश्च, अभिमानिदेवतापेक्षयैतत्।

अंश होते हुए भी मत्स्य आदि श्रेष्ठ अंश नहीं है जैसे कि कालाग्नि और खद्योत तेज अंश के होते हुए भी एक प्रकार के नहीं हैं। जैसे अमृत, समुद्र और मूत्र जलांश होते हुए भी ऊँचे-नीचे हैं। वैसे ही सुवर्ण का पर्वत और विष्ठा पृथिवी के ही ऊँचे-नीचे रूप हैं। तेज जल और पृथिवी, के उदाहरण अभिमानी देवता की सृष्टि से दिये गये हैं।

ॐ स्मरन्ति च ।२।३।१८।४७।।

'एते स्वांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
अतः परं यदव्यक्तमव्यूढगुणबृंहितम् ।।
अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वात् स जीवो यः पुनर्भवः ।
स्वांशश्चाथो विभिन्नांश इति द्वेधांश इष्यते ।।

स्वांशश्चाथो विभिन्नांश इति द्वेधांश इष्यते ।।

अंशिनो यत्तु सामर्थ्यं यत्स्वरूपं यथा स्थितिः ।
तदेव नाणुमात्रोऽपि भेदः स्वांशांशिनोः क्वचित् ॥
विभिन्नांशोऽल्पशक्तिः स्यात् किंचित् सादृश्यमात्रयुक् ॥'

इति वाराहे । 'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः' इति च ।

"ये सारे अवतार अंश कला मात्र हैं, कृष्ण साक्षात् भगवान हैं" इसके अतिरिक्त जो अव्यक्त बृहत् गुणों वाला है "अक्षुत वस्तु से ही वह जीव हुआ जो कि परमात्मा का ही अंश है, परमात्मा के अंश दो प्रकार के हैं स्वांश और विभिन्नांश।" अंशी का जो सामर्थ्य और स्वरूप है वो वैसा का वैसा ही स्वांश में रहता है, उसमें अणुमात्र भी अन्तर नहीं होता। किन्तु जो विभिन्नांश हैं, वह अल्पशक्ति है उसमें थोड़ा सा ही सादृश्य रहता है। ऐसा वाराहपुराण का वचन है। "हे भगवन्! आप के समान या अधिक कोई दूसरा नहीं है।" ऐसा वचन भी है।

ॐ अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ।२।३।१८।४८।।

परानुज्ञया प्रवृत्तिः परतो बन्धनिवृत्तिश्च जीवस्य प्रतीयते अंशत्वेऽपि देहसंबन्धात् । 'य आत्मानमन्तरो यमयति' तमेवं विद्वान् इत्यादिना । न तु परस्य । 'वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नोऽनिरुद्धोऽहं मत्स्यः कूर्मो वराहो नारसिंहो वामनो रामो रामः कृष्णो बुद्धः कल्किरहं शतधाहं सहस्रधाहममितोहमनन्तोऽहं नैवैते जायन्ते न म्रियन्ते, नैषामनुज्ञा न बन्धो न मुक्तिः सर्व एव ह्येते पूर्णा अजरा अमृताः परमाः परानन्दा इति चतुर्वेदशिखायाम् । युज्यते च ज्योतिरादिवत् । यथादित्यो वियद्गतस्तत्प्रकाशश्चैकप्रकारः । शुक्लं कृष्णं कनीनिकेति । तदंशस्याप्यक्ष्णो देहसंबंधान्न तादृशी शक्तिः तदनुग्राह्यत्वं तेनैवावृतिपरिहारश्च । यथा बाह्यामृतजलस्यामृतसमुद्रस्य चैकत्वं तदंशस्यापि श्लेष्मणस्तदनुग्राह्यत्वं तेनैव विरोधिनिवृत्तिश्च । मोक्षधर्मे च—

'यत्किंचिदिह लोकेऽस्मिन् देहबद्धं विशांपते ।
सर्वं पञ्चभिराविष्टं भूतैरीश्वरबुद्धिजैः ॥

ईश्वरो हि महद्भूतं प्रभुर्नारायणो विराट् ।
भूतान्तरात्मा विज्ञेयः सगुणो निर्गुणोऽपि च ॥
भूतप्रलयमव्यक्तं शुश्रूषुर्नृपसत्तम् ।' इति । वाराहे च—
'अंशाश्च देहयोग्यत्वाज्जीवा बन्धादिसंयुताः ॥
अनुग्राह्याश्चेश्वरेण न तु मत्स्यादिको हरिः ।
अदेहबन्धयोग्यत्वाद् यथा सूर्यप्रभाक्षिणी ॥
यथाऽमृतसमुद्रस्य श्लेष्मादेश्च विरूपता ।
अनुग्राह्यत्वमन्यस्य तेनैवावृत्तिरोधनम् ॥ इति ।

परमात्मा की अनुज्ञा से प्रवृत्ति तथा परमात्मा द्वारा ही निवृत्ति भी, जीव की प्रतीत होती है वह परमात्मा का अंश होते हुए भी देह सम्बध होने प्रवृत्ति निवृत्ति वाला है। "जो आत्मान्तर्यामी होकर संयमन करता है" उसे ऐसा जानने वाला यही अमृत हो जाता है।" इत्यादि श्रुतियाँ उक्त मत की पुष्टि करती हैं। परमात्मा प्रवृत्ति निवृत्ति रहित है। जैसा कि चतुर्वेद शिखा में कहा गया है—"वासुदेव संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, मत्स्य, कूर्म, वाराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि सब मैं हूँ, मैं सौ हजार अनन्त रूप हूँ, ये सब न जन्मते हैं न मरते हैं, न ये बन्धन में पड़ते हैं न मुक्त होते हैं, ये सब पूर्ण अजर-अमर परम परमानन्द हैं।" जैसा कि—आकाश में स्थित सूर्य का प्रकाश सब तरफ एक सा है किन्तु शरीर सम्बद्ध नेत्रों में उसका अंश होते हुए भी वैसी शक्ति नहीं है, सूर्य की कृपा पर ही नेत्रों में ग्रहण करने न करने की शक्ति निर्भर है। जैसे कि बाहर का अमृत जल और अमृत समुद्र का जल एक ही है, बाह्य जल उसी का अंश होते हुए उससे अनुग्रहीत है। जैसा कि मोक्ष धर्म में कहते भी हैं—"इस लोक में जो कुछ है वह पाँच भौतिक देह से आबद्ध है, ये भूतसमुदाय ईश्वर को वृद्धि से प्रकट हुये हैं। ईश्वर महद् भूत विराट नारायण प्रभु ही प्रणिमात्र के अन्तरात्मा हैं, वे सगुण और निर्गुण रूप है। वे सृष्टि संहार करने वाले अव्यक्त तत्त्व हैं उन्हीं की सेवा करनी चाहिये।" वाराह पुराण में भी जैसे—"जीव अंश हैं, देह के बन्धन में रहते हैं, ईश्वर के अनुग्रह से ही वे मुक्त हो सकते हैं, मत्स्यादि अवतार रूप हरि सामान्य जीवों की तरह देह आबद्ध नहीं हैं। वे उसी प्रकार देह के बन्धन में नहीं आते जैसे कि सूर्य नेत्रों में आबद्ध नहीं होता। जैसे कि अमृत समुद्र और श्लेष्मा (कफ) में

विरूपता है वैसे ही परमात्मा जीवात्मा का भेद है वह परमात्मा के अनुग्रह से ही बन्धन से मुक्त होता है।"

ॐ असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॐ।२।३।१८।४९।।

अपूर्णशक्तित्वाच्च जीवस्य न मत्स्यादिसाम्यम्। तथा च चतुर्वेद-शिखायाम्—'तस्य ह वा एतस्य परमस्य पंच रूपाणि दश रूपाणि शतरूपाणि सहस्ररूपाणि अमितरूपाणि तानि ह वा एतानि सर्वाणि पूर्णानि सर्वाण्यनन्तानि सर्वाण्यसम्मितानि। अथावराः सर्व एवापूर्णाः सर्व एव बध्यन्ते अथ मुच्यन्ते च केचन' इति।

अपूर्ण शक्तिवाला जीवात्मा मत्स्य आदि रूपों की बराबरी नहीं कर सकता जैसा कि चतुर्वेद शिखा में स्पष्ट उल्लेख है—"इस परमात्मा के तीन प्रधान रूप हैं कृष्ण, राम और कपिल। इस परमात्मा के पाँच, दश शत शहस्र अमित विशिष्ट रूप हैं जो कि सभी पूर्ण हैं जो कि अनन्त और अपरिमित हैं। जो दूसरे जीव हैं वे अपूर्ण और बन्धन युक्त है, उनमें कोई-कोई हीं मुक्त होते हैं।"

ॐ आभास एव च ॐ।२।३।१८।५०।।

'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' इति प्रतिबिम्बत्वाच्च न साम्यम्। वाराहे च—

'द्विरूपाश्शको तस्य परमस्य हरेर्विभोः।
प्रतिबिम्बांशकश्चाथ स्वरूपांशक एव च।।
प्रतिबिम्बांशका जीवाः प्रादुर्भावाः परे स्मृताः।
प्रतिबिम्बेष्वल्पसाम्यं स्वरूपाणीतराणि तु।।
सोपाधिरनुपाधिश्च प्रतिबिम्बो द्विधेयते।
जीव ईशस्याऽनुपाधिरिन्द्रचापो यथा रवेः।।'

इति पैङ्गिश्रुतिः। 'यथैषा पुरुषे छाया एतस्मिन्नेतदाततम्' इति च श्रुतिः।

"वह अनेक रूप में प्रतिबिम्वित हो गया" इत्यादि श्रुति में जीव को प्रति-बिम्ब बतलाया गया है अतः उसमें साम्य नहीं है। जैसा कि वाराह पुराण में

आता है—"उस विभु हरि परमात्मा के दोप्रकार के अंश हैं एक प्रतिबिम्बांश दूसरा स्वरूपांश। प्रतिबिम्बांश जीव उस परमात्मा से ही प्रकट हुये हैं किन्तु उनकी परमात्मा से बहुत थोड़ी समता है स्वरूपांश में अधिक समता है। प्रति-बिम्ब भी सोपाधि और अनुपाधि भेद से दो प्रकार के हैं, जैसे कि इन्द्र धनुष सूर्य के प्रतिबिम्ब से प्रकाशित होता हुआ भी इन्द्र धनुष कहलाता है, वैसे ही जीव, ईश का अनुपाधिक प्रतिबिम्ब है।" ऐसी पंङ्गि श्रुति है।" जैसे कि यह छाया पुरुष में वैसे ही इसमें भी व्याप्त है।" ऐसा श्रुति भी है।

१९ अधिकरण

प्रतिबिम्बानां मिथो वैचित्र्ये कारणमाह—

प्रतिबिम्बों में परस्पर विचित्रता का कारण बतलाते हैं।

ॐ अदृष्टानियमात् ॐ।२।३।१९।५१।।

अनादिविद्याकर्मादिवैचित्र्याद् वैचित्र्यम्।

अनादि विद्या कर्म आदि के वैचित्र्य से ही इनमें वैचित्र्य है।

ॐ अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॐ।२।३।१९।५२।।

इच्छाद्वेषसुखदुःखादिवैचित्र्यं चादृष्टादेव। च शब्देन प्रतिक्षण-वैचित्र्यं च।

इच्छा द्वेष सुख दुःख आदि का वैचित्र्य अदृष्ट शक्ति से होता है, यह वैचित्र्य प्रतिक्षण घटित होता रहता है।

ॐ प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॐ।२।३।१९।५३।।

न स्वर्गभूम्यादिप्रदेशवैचित्र्याद् वैचित्र्यम्। तत्प्राप्तेरप्यदृष्टापेक्ष-त्वात्। एकदेशस्थितानामेव वैचित्र्यदर्शनाच्च।

स्वर्ग भूमि आदि प्रदेश के वैचित्र्य से वैचित्र्य नहीं है क्योंकि उन स्वर्गादि की प्राप्ति में भी अदृष्ट की अपेक्षा होती है। एक देश में स्थित प्रतिबिम्बों में भी वैचित्र्य देखा जाता है।

द्वितीय अध्याय तृतीय पाद समाप्त

સમસ્તનિર્મલતેજાઃ પરબ્રહ્મ સનાતનઃ।
જયત્યજ્ઞાનનો નાશો વેદવેદ્યો મહામતિઃ॥

सम्प्रीतिर्मद्दातेजा: परब्रह्म सनातन:।
जयताज्ज्ञानलोकनाथो वेदवेद्यो महामति:॥

द्वितीय अध्याय–चतुर्थपाद

१ अधिकरण

॥ हरिः ॐ ॥ युक्तिसहितश्रुतिविरोधं श्रुतीनामपाकरोत्यनेन पादेन । 'प्राणा एवेदमग्र आसुस्तेभ्यो भूतानि जज्ञिरे, भूतेभ्योऽण्डमण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः ।' अथ प्राणा एवानादयः प्राणा नित्याः 'इति काषायणश्रुतौ प्राणानामनुत्पत्तिः श्रूयते ।' नोपादानं हीन्द्रियाणामतोऽनुत्पत्तिरिष्यते, उपादानकृता सृष्टिः सर्वलोकेषु दृश्यते इति भविष्यत्पर्वणि । 'एतस्माज्जायते प्राणो मनस्सर्वेन्द्रियाणि च' इति च । अत उच्यते—

इस पाद में श्रुतियों के पारस्परिक विरोध का परिहार युक्ति सहित करते हैं। "सृष्टि के पूर्व प्राण ही थे, उनसे भूत हुए, भूत से अण्ड, अण्ड से ये लोक हुए" "प्राण ही अनादि और प्राण ही नित्य हैं।" इस काषायण श्रुति में प्राणों की अनुत्पत्ति सुनी जाती है।" इन्द्रियों की उपादानता नहीं है अतः अनुत्पत्ति कही गई है, सारी सृष्टि उपादानकृत ही समस्त लोकों में देखी जाती है।" इत्यादि भविष्यत् पर्व का वचन है। "इससे प्राण, मन और सारी इन्द्रियाँ होती हैं" ऐसा वचन भी है। इसका समाधान करते हैं—

ॐ तथा प्राणाः ॐ ।२।४।१।१॥

यथा आकाशादयः परमात्मन उत्पद्यन्ते तथा प्राणा अपि ।

जैसे कि आकाश आदि परमात्मा से उत्पन्न होते हैं वैसे ही प्राण भी उत्पन्न होते हैं।

ॐ गौण्यसम्भवात् ॐ ।२।४।१।२॥

अनादित्वश्रुतिर्गौणानादित्वापेक्षया, मुख्यासम्भवात् ।

'नित्यान्येतानि सौक्ष्म्येण हीन्द्रियाणि तु सर्वशः ।
तेषां भूतैरुपचयः सृष्टिकाले विधीयते ॥

परेण साम्यसंप्राप्तेः कस्य स्यान्मुख्यनित्यता ।'
इति हि भविष्यत्पर्वणि ।

प्राणों की अनादिता का प्रतिपादन करने वाली श्रुति आदित्व प्रतिपादक श्रुति की अपेक्षा गौण है। मुख्य प्राण अनादि है। जैसा कि भविष्यत् पर्व में उल्लेख है—"ये सारी सूक्ष्म इन्द्रियाँ नित्य हैं, इनका स्थूल रूप सृष्टिकाल में होता है, परमात्मा की समता होने से मुख्य प्राण की नित्यता है।"

ॐ प्रतिज्ञानुपरोधाच्च ॐ ।२।४।१।३॥

'स इदं सर्वमसृजत' इति ।

"उसने ये सब कुछ बनाया" इस वाक्य से भी इन्द्रियों का आदित्व निश्चित होता है।

२ अधिकरण

द्विधा है वेन्द्रियाणि नित्यानि चानित्यानि च । तत्र नित्यं मनोऽनादित्वान्न 'ह्यमनाः पुमांस्तिष्ठत्यनित्यान्यन्यानि' इति गौपवनश्रुतौ मनसो अनुत्पत्तिः सयुक्तिका श्रूयते । अर आह—

इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं, नित्य और अनित्य। मन नित्य है क्योंकि वह अनादि है। "मन रहित सारी इन्द्रियाँ अनित्य हैं" इस गौपवन श्रुति में युक्ति पूर्वक मन की अनुत्पत्ति का प्रतिपादन किया गया है इसका समाधान करते हैं—

ॐ तत्प्राक्श्रुतेश्च ॐ ।२।४।२।४॥

'मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इति पूर्वोक्तत्वान्नानुत्पत्तिर्मनसो युज्यते
'पूर्वंमनः समुत्पन्नं ततोऽन्येषां समुद्भवः ।
तदनुत्पत्तिवचनमल्पोपचयकारणादिति ॥

वायुप्रोक्तवचनं चशब्देन गृहीतम् ।

"मन और सारी इन्द्रियाँ हुई" इस पूर्वोक्त कथन से मन की अनुत्पत्ति की बात कट जाती है। "पहिले मन हुआ बाद में अन्य इन्द्रियाँ हुईं। मन की जो अनुत्पत्ति की बात है वह अल्पता और व्यापकता की दृष्टि से है" इस वायु पुराण के वचन से उक्त कथन की यथार्थता ज्ञात होती है।

३ अधिकरण

'नित्ययाऽनित्यया स्तौमि परमात्मानमच्युतम्' इति वाग्वाव नित्या न ह्येषोत्पद्यतेऽस्यां हि श्रुतिरवतिष्ठत इति सयुक्तिकं पौष्यायण-श्रुतौ वाचोऽनुत्पत्तिरुच्यते । अतो ब्रवीति—

"मैं नित्य अनित्य उन अच्युत परमात्मा की स्तुति करता हूँ" इस पौष्यायण श्रुति में युक्ति पूर्वक वागेन्द्रिय की नित्यता को बात कही गई है। इसका समाधान करते हैं—

ॐ तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॐ ।२।४।३।५।।

'तस्मान्मन एव पूर्वरूपं वागुत्तररूपम्' इति मनःपूर्वकत्वाद् वाचो नानुत्पत्तिः ।

'वागिन्द्रियस्य नित्यत्वं श्रुतिसन्निधियोग्यता ।
उत्पत्तिर्मनसो यस्मान्न नित्यत्वं कुतश्चन ।।'

इति वायुप्रोक्ते ।

"मन पूर्वरूप है वाग् उत्तर रूप है" इस श्रुति में मन को वाणी का पूर्ववर्ती बतलाया गया है इसलिये वाणी को अनुत्पत्ति की बात असंगत है। "वागिन्द्रिय की जो नित्यता की बात है वह श्रुति का सन्निधियोग्यता को दृष्टि से है, मन से जिसकी उत्पत्ति होती है वह नित्य कैसे हो सकती है" इस वायुपुराण के वचन से उक्त बात का समाधान हो जाता है।

४ अधिकरण

'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' इति श्रुतिः ।

'सप्तैव मारुता बाह्ये प्राणाः सप्त तथात्मनि ।
अधिदैवे तथाध्यात्मे संख्या साम्यं विदो विदुः ।।'

इति च स्कान्दे 'द्वादश वा एते प्राणा द्वादश मासा द्वादशादित्या द्वादश राशयो द्वादश ग्रहाः' इति कौण्डिन्यश्रुतौ द्वादश प्राणा दृश्यन्ते । अतो वक्ति—

"जिससे सात प्राण उत्पन्न होते हैं" ऐसी श्रुति है तथा "बाहर सात वायु हैं उसी प्रकार भीतर सात प्राण हैं, अधिदैव और अध्यात्म में संख्या का साम्य-

ज्ञाता बतलाते हैं" इस स्कन्दपुराण के वचन से भी उक्त श्रुति कथन की पुष्टि होती है। इसके विपरीत कौण्डिन्य श्रुति में—"ये प्राण बारह हैं, बारह मास हैं, बारह सूर्य हैं, बारह राशियाँ हैं, बारह ग्रह हैं" बारह प्राणों का उल्लेख है। इनका समाधान करते हैं—

ॐ सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ॐ ।२।४।४।६।।

ज्ञानेन्द्रियापेक्षया सप्तत्वम्' 'गुहाशयां निहिताः सप्त सप्त' इति विशेषणात् ।

'सप्तप्राणास्त्ववगतेः पञ्च प्राणाश्च कर्मणः ।
एवं प्राणद्वादशकं शरीरे नित्यसंस्थितम् ।।'

इति भविष्यत्पर्ववचनं चशब्दात् ।

ज्ञानेन्द्रियाँ सात हैं इस दृष्टि से सात की संख्या का निर्देश किया गया है। "चित्त की गुहा में वे सातों की सातों निहित हैं" इस विशेषण से भी उक्त बात निश्चित होती है। "सात तो प्रसिद्ध हैं ही पाँच कर्मेन्द्रिय हैं इस प्रकार प्राण बारह प्रकार के शरीर में माने गये हैं।" इस भविष्यत् पर्व के वचन से बारह संख्या का भी समाधान हो जाता है।

ॐ हस्तादयस्तुस्थितेऽतो नैवम् ॐ ।२।४।४।७।।

हस्तादीनां कर्मविषयत्वान्न सहपाठः ।

'संसारस्थितिहेतुत्वात् स्थितं कर्म विदो विदुः ।
तस्मादुद्गतिहेतुत्वात् ज्ञानं गतिरिहोच्यते ।।'

इति वायुप्रोक्ते ।

हस्त आदि कर्म विषयक हैं इसलिए इनका साथ में उल्लेख नहीं किया गया। "कर्मेन्द्रियाँ संसार स्थिति की द्योतिका हैं इसलिए उन्हें सांसारिक ही माना गया है ज्ञानेन्द्रियाँ चंचल हैं इसलिए उनके गति का उल्लेख किया गया है" ऐसा वायुपुराण का स्पष्ट वचन है।

५ अधिकरण

'दिवीव चक्षुराततम्' इति व्याप्तिः प्रतीयते दूरश्रवणदर्शनादि-युक्तिश्च । 'अणुभिः पश्यत्यणुभिः कृणोति प्राणा वा अणवः प्राणैर्ह्येतद्भवति' इति कौण्डिन्यश्रुतिः । अतो वक्ति—

आकाश की तरह चक्षु फैली है" इस श्रुति से चक्षुरिन्द्रिय की व्यापकता प्रतीत होती है, दूर की वस्तु देखने सुनने की क्षमता होने से यह बात समझ में भी आती है। किन्तु कौण्डिन्य श्रुति इन्द्रियों को अणु कहती है "अणु से देखता है, अणु से हिंसा करता है, प्राण अणु है, प्राण से ही ये सब कुछ होता है।" इत्यादि इसका समाधान करते हैं—

ॐ अणवश्च ॐ ।२।४।५।८।।

'तद् यथा ह्यणुनश्चक्षसः प्रकाशो व्यातत एवमेवास्य पुरुषस्य प्रकाशो व्याततोऽणुर्ह्येष वै पुरुषो भवति' इति शांडिल्यश्रुतिः ।

"अणु चक्षु का प्रकाश फैलता है, उसी प्रकाश पुरुष का प्रकाश फैलता है, यह पुरुष अणु है" ऐसी शाण्डिल्य श्रुति है जिससे इन्द्रियों की अणुता के साथ ही जीव को अणुता और प्रकाश शीलता ज्ञात होती है।

६ अधिकरण

'नैष प्राण उदेति नास्तमेत्येकल एव मध्ये स्थाता अथैनमाहुर्मध्यमः' इति मुख्यप्राणस्यानुत्पत्तिः श्रूयते ।

'यत्प्राप्तिर्यत्परित्याग उत्पत्तिमरणं तथा ।
तस्योत्पत्तिमृतिश्चैव कथं प्राणस्य युज्यते ।।'

इति युक्तिर्वायुप्रोक्ते । 'आत्मत एष प्राणो जायते' इति च । अत आह—

"यह प्राण न उदय होता है न अस्त होता है यह अकेला ही मध्य में रहता है इसलिए इसे मध्यम कहते हैं" इत्यादि में मुख्य प्राण की अनुत्पत्ति का उल्लेख है। "जिससे प्राप्ति, परित्याग, उत्पत्ति मरण आदि की चर्चा की जाती है, उसकी उत्पत्ति और मरण कैसे होगी" ऐसी वायुपुराण की युक्ति है तथा "आत्मा से यह प्राण होता है" इस श्रुति से प्राण की उत्पत्ति ज्ञात होती है। इसका समाधान करते हैं—

ॐ श्रेष्ठश्च ॐ ।२।४।६।९।।

'सौक्ष्म्येण ह वा एषोऽवतिष्ठते स्थूलत्वेनोदेति सूक्ष्मश्चाथो स्थूलश्च प्रकृतितः सूक्ष्मोऽन्यतः स्थूलोऽथैनमाहुः सादिरनादिः' इति गौपवनश्रुतेः ।

"सूक्ष्म रूप से यह स्थिर रहता है, स्थूल रूप से उदय होता है इस प्रकार यह सूक्ष्म और स्थूल दोनों है, प्रकृति से सूक्ष्म है अप्राकृत रूप से स्थूल है इसलिए यह सादि अनादि है" इत्यादि गौपवन श्रुति से दोनों बातों का समर्थन किया है।

ॐ न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॐ ।२।४।६।१०।।

'चेष्टायां बाह्यवायौ च मुख्यप्राणे च गीयते, प्राणशब्दस्त्रिषु ह्येषु मुखे मुख्यः प्रकीर्तितः' इतिवायुक्रिययोरपि व्यपदेशादुत्पत्तिस्तयोर्न स्यात् । 'स प्राणमसृजत खं वायुर्ज्योतिरापस्तपो मन्त्राः कर्मेति पृथगुपदेशात् ।' भूतानि चेष्टा मन्त्राश्च मुख्यप्राणादिदं जगत् मुख्यप्राणः परस्माच्च न परः कारणान्वितः' इति वायुप्रोक्ते ।

"प्राण शब्द तीन अर्थो में प्रयुक्त होता है चेष्टा, बाह्य वायु और मुख्य प्राण, उनमें मुख्य प्राण अर्थ ही मुख्य है।" इस वाक्य में प्राण को वायु और क्रिया रूप भी बतलाया गया है, यदि प्राण को अनुत्पन्न मानते हैं तो उनकी उत्पत्ति की बात भी समाप्त हो जाती है किन्तु "वह प्राण, खं, वायु, ज्योति, जल, तप, मन्त्र और कर्म की सृष्टि करता है" इत्यादि में इनको प्राण से उत्पन्न होने वाला कहा गया है। वायुपुराण में उक्त कथन की पुष्टि की गई है—"मुख्य प्राण से ही यह जगत प्राणियों की चेष्टा और मंत्र हुये हैं, मुख्य प्राण, परमात्मा से हुआ है, उससे अतिरिक्त कोई दूसरा कारण नहीं हो सकता।"

७ अधिकरण

'प्राणादिदमाविरासोत् प्राणो धत्ते प्राणे लयमभ्युपैति प्राणः किंचिदाश्रितः' इत्याग्निवेश्यश्रुतौ ।

'यदाश्रयादस्य चेष्टा सोऽन्यं कथमुपाश्रयेत् ।
यथा प्राणास्तथा राजा सर्वस्यैकाश्रयो भवेत् ।।'

इति च युक्तिर्भारते ।

'प्राणेस्यैतद्वशे सर्वं प्राणः परवशे स्थितः ।
न परः किंचिदाश्रित्य वर्त्तते परमो यतः ।।'

इति पैङ्गिश्रुतिः । अत आह—

" यह सारा जगत् प्राण से उत्पन्न हुआ है, प्राण से ही स्थित है, प्राण में ही लय हो जाता है, प्राण किसी के आश्रित नहीं है।" ऐसी आग्निवेश्य श्रुति की उक्ति है। "जिसके आश्रय से जगत् में चेष्टा होती है, वह भला दूसरे का आश्रित कैसे हो सकता है, जैसे की राजा के आश्रम में सब रहते हैं। वैसे ही प्राण से आश्रित सब आश्रित हैं।" इत्यादि युक्ति भी महाभारत में दी गयी है। "यह सब प्राण के वश में है किन्तु प्राण परवश है, परमात्मा के किसी की आश्रय में नहीं रहता, क्योंकि वह सर्व श्रेष्ठ है।" ऐसी पैङ्गि श्रुति है। इसका समाधान करते हैं—

ॐ चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॐ।२।४।७।११।।

चक्षुरादिवन्मुख्यप्राणोऽपि परमात्मवश एव 'सर्वं ह्येवैतत् परमेऽवतिष्ठते प्राणश्च प्राणाश्च प्राणिनश्च, स ह्येक एवैतान्नमत्युन्नयति वशीकरोति' इति गौपवनश्रुतौ चक्षुरादिभिः सह तद्वशत्वेनैव शंसनात्।

'सर्वकर्त्तापि सन्प्राणः परमाधारतः स्थितः।
कथमेवान्यथा स स्याद् यतो नैवेश्वरद्वयम्॥
अवान्तरेश्वरत्वेन तस्येश्वरवचो भवेत्।
अतो मध्यमतामाहुस्तस्य वेदेषु वेदिनः॥
अनन्येश्वरता प्राणे तदन्येश्वरवर्जनात्।
यतो विशेषवाक्येन ह्रियते समतावचः॥
नान्योऽस्ति द्रष्टा नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ।'

इत्यादिवचनयुक्तयश्चादिशब्दोक्ताः।

चक्षु आदि की तरह ही मुख्य प्राण भी परमात्मा के वश में है "प्राण, इन्द्रियाँ और प्राणी सभी इस परमात्मा में स्थित हैं, वह अकेला ही इन्हें चलाता है, उन्नत करता है और वशीभूत करता है।" इस गौपवन श्रुति में चक्षु आदि के साथ प्राण की परवशता का भी उल्लेख किया गया है। "सबका कर्त्ता होते हुए भी प्राण परमात्मा के आधार पर स्थित है, इसलिए उसे स्वतंत्र कर्त्ता कैसे कह सकते हैं, दो ईश्वर तो हैं नही। यदि कोई दूसरा ईश्वर होता तो उसे ईश्वर

शब्द से संम्बोधित किया जाता, इस वेदों में ज्ञाताओं ने उसे मध्यम कहा है। दूसरे ईश्वर न होने का स्पष्ट उल्लेख है अतः प्राण को दूसरा ईश्वर कहना संभव नहीं है, विशेष वाक्य से समवचन लज्जित होता है" न कोई दूसरा द्रष्टा है "इत्यादि वचन और युक्तियों से भी उक्त मत पुष्ट होता है।"

ॐ अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ॐ।२।४।७।१२।।

इतरेषां प्राणानां करणत्वान्मुख्यस्य चाकरणत्वात्तस्यान्येभ्य उत्तमत्वं युज्यते। माण्डव्यश्रुतिश्च—'तानि ह वा एतानि सर्वाणि करणान्यथ प्राण एवाकरणस्तस्मान्मुख्यस्तस्मान्मुख्यः इत्याचक्षते' इति।

अन्य प्राण इन्द्रिय स्वरूप हैं, मुख्य प्राण इन्द्रिय नहीं है इसलिए उसकी उत्तमता तो है ही। जैसा कि माण्डव्य श्रुति में कहा भी है—"ये सारे करण इन्द्रिय हैं, प्राण इन्द्रिय नहीं है इसलिए वह मुख्य है इसीसे वह मुख्य है।" इत्यादि।

८ अधिकरण

"सर्वे वा एते मुख्यदासाः प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानः" इति। "अथ प्राणो वा व सम्राट्" इति कौण्डिन्यश्रुतिः।

"प्राणापानादयः सर्वे मुख्यदासा यतोऽनिशम्।
अतस्तदाज्ञया नित्यं स्वानि कर्माणि कुर्वतः॥"

इति युक्तिर्वायुप्रोक्ते।

"मुख्यस्यैव स्वरूपाणि प्राणाद्याः पञ्च वायवः।
स एव प्राणिनां देहे पञ्चधा वर्त्ततेऽनिशम्"॥ इति गौपवन-श्रुतिः। अतो वक्ति——

"प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान आदि सब मुख्यप्राण के दास हैं। प्राण ही सम्राट् है," ऐसी कौण्डिन्य श्रुति है। "प्राण अपानादि सब मुख्य प्राण के दास है, इसलिए उसी की आज्ञा से अपना कार्य करते हैं" ऐसी वायु पुराण की युक्ति भी है। किन्तु गौपवनश्रुति कुछ और ही कहती है—"प्राण अपान आदि मुख्य के ही स्वरूप हैं, जो कि प्राणियों के शरीर में पाँच रूपों में विभक्त होकर पाँच वायुओं के रूप में चलते रहते हैं।" इसका समाधान करते हैं—

ॐ पंचवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ॐ २।४।८।१३॥

"अथ पंचवृत्यैतत् प्रवर्तते, प्राणो वाव पंचवृत्तिः प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानः" इति तेभ्यो वा एतेभ्यः पंच दासाः "प्रजायन्ते।" प्राणाद्वाव प्राणोऽपानादपानो व्यानाद् व्यान उदानादुदानः समानादेव समानः यथा ह वै मनः पंचधा व्यपदिश्यते। "मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं चेतनेति। तेभ्यो वा एतेभ्य पंच दासाः प्रजायंते मनसो वाव मनोबुद्धेर्बुद्धिरहङ्कारादहङ्कारश्चित्तश्चित्ताच्चित्तं चेतनाया एव चेतनैवमिति" इति।

यह मुख्य प्राण ही पाँच वृत्ति वाला है, प्राण अपान व्यान उदान समान आदि उसकी पाँच वृत्तियाँ हैं, यही बात "तेभ्यो वा एतेभ्य पंच दासाः" "प्रजायन्ते" इत्यादि में कही गई है। जैसे कि मन की पंचधा प्रवृत्ति हैं वैसे ही प्राण भी क्रमशः अपान, व्यान, उदान समान आदि पांच प्रवृत्ति वाला है जैसा कि उल्लेख है कि--"मन बुद्धि अहंकार चित्त और चेतना आदि मन के पांच दास हैं, मन से बुद्धि, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से चित्त, चित्त से चेतना प्रवृत्त होती है।"

९ अधिकरण

"प्राण एवाधस्तात् प्राण उपरिष्टात् प्राणो मध्यतः प्राणः सर्वतः प्राण एवेदं सर्वम्" इति प्राणस्य व्याप्तिः प्रतीयते।

"यतः सर्वं जगद्व्याप्य तिष्ठति प्राण एव तु।
अतो धृतं जगत् सर्वमन्यथा केन धार्यते॥"

इति युक्तिर्वायुप्रोक्ते। "अणुनैतत् सृज्यतेऽणुनैतद्धार्यते अणौ लमभ्युपैति प्राणो वा अणुः प्राणैर्ह्येतत् भवति" इति च सौत्रायणश्रुतिः। अत आह–

'प्राण ही नीचे, प्राण ही ऊपर, प्राण ही मध्य में, प्राण ही सब जगह है, यह सब कुछ प्राणमय है।" इत्यादि श्रुति प्राण की व्याप्ति प्रतीत होती है। "जो कि सारे जगत् में व्यापक रूप से स्थित है वह प्राण ही सारे जगत् को धारण किए है, यदि वह न होता तो इस जगत् को कौन धारण करता"

इस वायु पुराण की युक्ति भी उक्त कथन की पुष्टि करती है। जब कि--सौत्रायण श्रुति विपरीत बात कहती है--"अणु से ही इस जगत् की सृष्टि हुई है, अणु से ही यह धारित है, अणु में ही लीन हो जाता है, वह अणु प्राण ही है, उसी प्राण से यह हुआ है।" इसका समाधान करते हैं--

ॐ अणुश्च ॐ।२।४।९।१४॥

"स वा एष प्राणोऽणुर्महान्नामाऽन्तर्वाणुर्बहिर्महान् प्राणो वा ईशितव्येश ईशो ह्यसौ सर्वस्येशितव्यश्च परस्य" इति हि कौण्डिन्यश्रुतिः।

"यह प्राण अणु और महान् नाम वाला है, अन्तर में यह अणु है बाहर महान् है, प्राण भी शासित है, परमात्मा ही सबका स्वामी है, यहां उसी से शासित है।" ऐसी कौण्डिन्य शक्ति दोनों रूपों का समाधान कर रही है।

१० अधिकरण

करणत्वं प्राणानामुक्तम्,

"जीवस्य करणान्याहुः प्राणानेतांस्तु सर्वशः।
यस्मात्तद्वशगा एते दृश्यन्ते सर्वदेहिषु॥"

इति सौत्रायणश्रुतौ सयुक्तिकं जीवकरणत्वं प्रतीयते। "ब्रह्मणो वा एतानि करणानि चक्षुः श्रोत्रं मनो वागिति तद्ध्येतैः कारयति" इति काषायणश्रुतौ। अत आह—

प्राणों का करणत्व कहा गया है "ये सारे प्राण जीव के करण हैं सभी देह धारियों में ये जीव के वशगत देखे जाते हैं" इस सौत्रायण श्रुति में युक्तिसहित इन्द्रियत्व का प्रतिपादन किया गया है। "ये ब्रह्म के कारण हैं चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी ईश्वर की प्रेरणा से ही कार्य करते हैं" यह कराषायण श्रुति कुछ और ही कह रही है इसका समाधान करते हैं--

ॐ ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॐ।२।४।१०।१५।

यज्ज्योतिराद्यधिष्ठानं ब्रह्म तदेवैतैः करणैः प्रवर्त्तयति "यः प्राणे तिष्ठन्" इत्यादि तदामननात्।

ज्योति आदि का अधिष्ठान ब्रह्म ही है तभी इससे ये इन्द्रियाँ व्यवहार करती हैं। "जो प्राण में स्थित होकर" इत्यादि में ईश्वर के अधिष्ठान का उल्लेख है।

સમદીનિર્મદાતેજાઃ પરબ્રહ્મ સનાતનઃ।
જયતાજ્જાહ્નવીનાથો વેદવેદ્યો મહાશાંતિઃ॥

कथं जीवकरणत्वश्रुतिरित्यतो वक्ति—

फिर जीवकरणत्व श्रुति का क्या तात्पर्य है, इसका उत्तर देते हैं—

ॐ प्राणवता शब्दात् ॐ ।२।४।१०।१६।

जीवेनैव स्वकरणैः कारयति परमात्मा । अतो न विरोधः । "एष ह्येनेनात्मना चक्षुषा दर्शयति, श्रोत्रेण श्रावयति, मनसा मनयति, बुद्धया बोधयति, तस्मादेतावाहुः सृतिरसृतिरिति" इति-भाल्लवेयश्रुतेः ।

"करणैः कारणैः ब्रह्म पुरुषापेक्षयाखिलम्
श्रोत्रादिभिः कारयति करणानीत्यतो विदुः ।
न जीवयापेक्षया मुख्यं कारयेत् परमेश्वरः
केवलात्मेच्छया तस्मान्मुख्यत्वं तस्य निश्चितम् ॥ इतिवाराहे ।

परमात्मा अपनी इन्द्रियों का कार्य जीव से ही करवाते हैं, इसलिए कोई विरुद्धता नहीं है । "यह परमात्मा इस जीवात्मा के नेत्र से देखता है, कान से सुनता है, मन से मनन करता है, बुद्धि से सोचता है उसी से सब कुछ बनता बिगड़ता है ।" इस भाल्लवेय श्रुति से उक्त बात निश्चित होती है । "पुरुष के द्वारा इन्द्रियों से सारे कार्य ब्रह्म करवाते हैं श्रोत्र आदि से करवाने से ही इन्द्रियों को करण कहते हैं । उन कार्यों में जीव की मुख्यता नहीं रहती, अपनी इच्छा से ही परमेश्वर करवाते हैं इसलिए वही मुख्य हैं ।" ऐसा वाराह पुराण का भी वचन है ।

ॐ तस्य च नित्यत्वात् ॐ ।२।४।१०।१७।।

अनादिनित्यत्वाज्जीवकरणसंबन्धस्य युज्यते, तत्करणत्व-श्रुतिः । अथाविय़ोगीनि "करणैर्वाव न वियुज्यते देहेनैव वियुज्यत इत्येतद् वाव करणानां करणत्वं यद्वाव न वियुज्यते" इति गौपवन श्रुतिः । चशब्दः करणसम्बन्धग्राही ।

जीव और इन्द्रियों का संबन्ध अनादि और नित्य है, ऐसा जीवकरणत्व श्रुति से ही निश्चित होता है, इन्द्रियों की कभी जीव से पृथक्ता नहीं होती ।

"करणों से जीव कभी अलग नहीं होता केवल शरीर से ही अलग होता है, इसी लिए इन्द्रियों की इन्द्रियता है क्यों कि वह कभी विलग नहीं होती ।" ऐसी गौपवनश्रुति है । चशब्द कारण संबन्ध का द्योतक है ।

११ अधिकरण

"अथेन्द्रियाणि प्राणा वा इन्द्रियाणि, प्राणा हीदं द्रवन्ति" इति सयुक्तिकपौत्रायणश्रुतिः सामान्येन प्राणानामिन्द्रियत्वं वक्ति । "द्वादशैवेन्द्रियाण्याहुर्मनोबुद्धी तु द्वादशे । इति च काषायणश्रुतिः । अतः कस्येन्द्रियत्वं निवार्यम् ? इत्यतो वक्ति—

"इन्द्रियाँ ही प्राण हैं, प्राण ही इन्द्रिय है, प्राण ही इसको द्रवित करते हैं" इस पौत्रायण श्रुति में युक्ति सहित सामान्य रूप से प्राणों के इन्द्रियत्व का उल्लेख किया गया है । "बारह इन्द्रियाँ कही गई है, मन बुद्धि सहित बारह होती हैं ।" ऐसी काषायणश्रुति भी है । इसलिए प्राणों की इन्द्रियता का कैसे निवारण हो सकता है ? इसका समाधान करते हैं—

ॐ त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॐ ।२।४।११।१८।

मुख्यप्राणमृते त एवेन्द्रियाणि ।
द्वादशैवेन्द्रियाण्याहुः प्राणो मुख्यस्त्वनिन्द्रियम् ।
द्रवतां हीन्द्रियाणां तु नियन्ता प्राण एकराट् ॥

इति पौत्रायणश्रुतिः ।

"श्रोत्रादीनि तु पञ्चैव तथा वागादिपञ्चकम् ।
मनोबुद्धिसहायानि द्वादशैवेन्द्रियाणि तु ।
विषयद्रवणात्तेषामिन्द्रियत्वमुदाहृतम् ॥
तेषां नियामकः प्राणः ।
स्थित एवाखिल प्रभुः ॥

इयि बृहत्संहितायाम् ।

मुख्य प्राण के अतिरिक्त बाकी सब प्राण इन्द्रिय स्वरूप हैं, "इन्द्रियाँ बारह कही जाती हैं, मुख्य प्राण इन्द्रिय नहीं हैं, इन्द्रियों को द्रवित करने

वाला एक मात्र स्वामी नियन्ता प्राण ही है।" ऐसी पौत्रायण श्रुति है। "श्रोत्र आदि पांच और वागादि पांच, मन बुद्धि की सहायता से बारह संख्यक इन्द्रियाँ हैं, विषय को अनुभूति करने से इनका इन्द्रियत्व कहा जाता है, उनका नियामक प्राण में स्थित सबका स्वामी परमात्मा ही है। ऐसा बृहद संहिता का वचन है।

ॐ भेदश्रुतेः ॐ।२।४।११।१९।

"स्थित एवहीदं मुख्यप्राणः करोति कारयति, बलति वालयति, धत्ते धारयति, प्रभुं वा एनमाहुरथेन्द्रियाणि न स्थितानि न कुर्वन्ति, न कारयन्ति, न बलन्ति न वालयन्ति, न धत्ते न धारयन्ति, तानिह वा एतानि अबलानि तस्मादाहुरिन्द्रियाणि करणानि "इति पौत्रायणश्रुतेः।

"यह मुख्य प्राण स्थिति होकर करता कराता, बलवान होता और बलवान करता है, धारण करता और धारण कराता है, इसे इन्द्रियों का स्वामी कहते हैं। इन्द्रियाँ इसके बिना स्थित नहीं हैं, न कुछ करती हैं न कुछ कराती हैं, न बलयुक्त होती हैं, न बलयुक्त कर सकती है, न धारण कर सकती हैं, न धारण करा सकती हैं, ये सब अबला हैं, इसी से इन्द्रियों को करण कहते हैं। ऐसी पौत्रायणश्रुति है।

ॐ वैलक्षण्याच्च ॐ।२।४।११।२०।।

पुरुसापेक्षया प्रवृत्तिरिन्द्रियाणां दृश्यते न मुख्यस्य। प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति" इति श्रुतेः।

जीव की अपेक्षा से ही इन्द्रियों की प्रवृत्ति देखी जाती है मुख्य प्राण की अपेक्षा से नहीं। "इस पुर में वही प्राणाग्नि जागृत करता है" इत्यादि श्रुति से उक्त बात निश्चित होती है।

१२ अधिकरण

"विरिञ्चो वा इदं सर्वं विरेचयति विदधाति ब्रह्मा वाव विरिञ्च एतस्माद् हीमे रूपनामनी" इति गौपवनश्रुतिः।

यस्माद् विरेचयेत्सर्वं विरिञ्चस्तेन भण्यते।
एको हि कर्ता जगतो ब्रह्मैव च चतुर्मुखः॥"

इति च युक्तिर्ब्राह्मे

"अथ कस्मादुच्यते परम इति?" परमाद् ह्येते नामरूपे व्याक्रियेते तस्मादेहनमाहुः परम" इति। अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मेति, बृहत्वात्बृंहित्वाच्च" इति आग्निवेश्यश्रुतिः। अत आह—

"इस सारे जगत को जो विरेचन करता और धारण करता है वह विरिञ्च, है, ब्रह्मा ही विरिञ्च है, इसी से सारे रूपनाम हुए हैं" ऐसी गौपवन श्रुति है। "जिससे सब विरेचित होते उसे विरिञ्च कहते हैं ऐसा वह एक भाव जगत का कर्ता चतुर्मुख ब्रह्मा ही है। "ऐसी युक्ति ब्रह्मपुराण की है। उसे परम कैसे कहते हैं? परम से ये नामरूप व्यवहृत किये गए इसलिए उसे परम कहते हैं, उसे ब्रह्म कैसे कहते हैं? क्यों कि वह विस्तार करता है और स्वयं विस्तृत है" ऐसी अग्निवेश्य श्रुति भी है। इस विरुद्धता का समाधान करते हैं—

ॐ संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवित्कुर्वत उपदेशात् ॐ।२।४।१२।२१।

नामरूपक्लृप्तिः परादेव। "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन्यदास्ते" इति श्रुतेः। त्रिवृत् कुर्वत इति हेतुगर्भः। 'त्रिवृत्करणापेक्षत्वान्नामरूपयोः।

सर्वनाम्नां च रूपाणां व्यवहारेषु केशवः।"
एक एव यतः स्रष्टा ब्रह्माद्यास्तदवान्तराः॥"

इति पाद्मे। "त्रिवृत्क्रिया यतो विष्णो रूपं च तदपेक्षया रूपापेक्षं तथा नाम व्यवहारस्तदात्मकः। अतो नाम्नश्च रूपस्य व्यवहारस्य चैकराट्, हरिरेव यतः कर्त्ता पिताऽतो भगवान् प्रभुः।" इति च ब्रह्माण्डे।

नामरूप का विस्तार परमात्मा से ही होता है, जैसी की श्रुति है—"वह धीर समस्त रूपों की रचना कर उनका नामकरण कर स्थित हैं।" त्रिवृत कारण की बात इस सृष्टि के मूल में हैं। "त्रिवृत् करण की अपेक्षा से नामरूप की सृष्टि हुई, इसलिए सारेनाम और रूपों का व्यवहार केशव के लिए होता है। एक मात्र वही स्रष्टा है, ब्रह्मा आदि तो अवान्तर कर्त्ता हैं।" इत्यादि पद्मपुराण का वचन विषय को स्पष्ट करता है। "त्रिवृत् किया से अपेक्षित

रूप है, रूप से अपेक्षित नाम का व्यवहार होता है, ये विष्णुक्त प्रणाली है अतः सब कुछ तदात्मक है, सारे नाम रूप के व्यवहार के एक मात्र स्वामी भगवान हम ही हैं, वे ही कर्त्ता पिता और प्रभु हैं" इत्यादि ब्रह्माण्ड पुराण का वचन भी उक्त कथन को पुष्ट करता है।

१३ अधिकरण

"अद्भ्यो हि इदमुत्पद्यते, आपो वाव मांसमस्थि च भवन्त्यापः शरीरमाप एवेदं सर्वम्" इति कौण्डिन्यश्रुतिः।

"अम्मयं तु यतो मांसमतस्तृप्तिश्च मांसतः॥"

इति च भारते। "पृथिवीशरीरमाकाशमात्मा" इति च श्रुतिः।

अतो ब्रवीति—

"जल से ही ये उत्पन्न होते हैं, जल ही मांस अस्थि होता है जल ही शरीर रूप होता है, यह सब भी" इत्यादि कौण्डिन्य श्रुति है, महाभारत में भी युक्ति पूर्वक इसी का प्रतिपादन करते हैं कि—"मांस जलमय है तभी मांस से तृप्ति होती है।" दूसरी एक श्रुति में कहते हैं कि—"पृथिवी से शरीर और आकाश से आत्मा बना।" इसका परिहार करते हैं—

ॐ मांसादिभौमं यथाशब्दमितरयोश्च ।२।४।१३।२२॥

"यत् कठिनं सा पृथिवी, यद्द्रवं तदापो, यदुष्णं तत्तेजः" इति श्रुतेर्मांसाद्येव भौमं न सर्वं शरीरम्। अप्तेजसोश्च कार्यं यथाशब्द-मङ्गीकर्त्तव्यम्। "यद् वा वाथो विमिश्रं मिश्राद् ह्येव भवति मिश्राणि हि भूतानि तस्मादेवैवमाचक्षते भूतानि" इति काषायणश्रुतिः।

"पञ्चभूतात्मकं सर्वं तदप्येकविवक्षया।
एकभूतात्मकत्वेन व्यवहारस्तु वैदिके॥
भौममित्येव काठिन्यात् शौक्लादौदकमित्यपि।
तेजिष्ठत्वात्तैजसं च यथास्थ्नां वचनं श्रुतौ॥"

इति वायुप्रोक्ते।

"शरीर में जो कठिन अंश है वह पृथिवी है, जो द्रव है वह जल है जो उष्ण है वह तेज है" इस श्रुति से निश्चित होता है कि मांस आदि ही भौम अंश हैं

सारा शरीर भौम नहीं है। जल और तेज के कार्य जैसे बतलाए गए हैं उन्हें वैसे ही स्वीकारना चाहिए। "यह सब विमिश्र है, मिश्रण से ही यह होता है भूतों के मिश्रण से ही यह होता है इसीलिए से भौतिक कहते हैं।" ऐसी काषायण श्रुति भी है। "यह सारा जगत् पाञ्चभौतिक है फिर भी केवल एक का ही उल्लेख किया जाता है, वैदिक लोक प्रायः एकभूतात्मक व्यवहार करते हैं। कठिनता से इसे भौम, शुक्लता से इसे औदक, तेजिष्ठ होने से इसे तैजस कहते हैं, श्रुति में अलग-अलग वर्णन मिलता है।" इत्यादि वायु पुराण का वचन उक्त शंका का समाधान करता है।

कथं तर्हि विशेषवचनमित्यत आह—

ॐ वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॐ ।२।४।१३।२३।

भूतानां विशेषसंयोगादेव विशेषव्यवहारः।

"पार्थिवानां शरीराणां अर्धेन पृथिवी स्मृता।
इतरेऽर्धे त्रिभागिन्य आपस्तेजस्तु भागतः॥"
इति सामान्यतो ज्ञेयं भेदश्च प्रतिपूरुषम्।
स्वर्गस्थानां शरीराणामर्धं तेज उदाहृतम्॥

इति च बृहत्संहितायाम्।

सर्वाध्यायार्थावधारणार्थेऽध्यायान्ते द्विरुक्तिः।

गारुडे च

"अध्यायान्ते द्विरुक्तिः स्याद् वेदे वा वैदिकेऽपि वा।
विचारो यत्र सज्येत पूर्वोक्तस्यावधारणे।
अनुक्तानां प्रमाणानां स्वीकारश्च कृतो भवेत्॥
विनिन्द्य चेतरान्मार्गान्सम्पूर्णफलता तथा" इति।

भूतों के विशेष संयोग से ही विशेष व्यवहार होता है। बृहतसंहिता में भूतों के संयोग का प्रकार बतलाते हैं—"पार्थिवशरीरों का आधा भाग पृथिवी कहा जाता है, बाकी आधे के तीन हिस्से में जल और तेज कहा जाता है, यह प्रायः सभी शरीरधारियों में होता है; बाकी आधे के चौथे भाग का तेजीय तत्त्व स्वर्गस्थ शरीरों में जाता है।" इत्यादि

सारे अध्याय के अर्थ को भलीभाँति समझने की दृष्टि से अध्याय के, अन्त में द्विरुक्ति का प्रयोग किया जाता है। जैसा कि गरुड पुरान में उल्लेख है--"अध्याय के अन्त में, वेद और वैदिक मतों में, द्विरुक्ति का प्रयोग होता है, जो कि पुर्व विचार की अवगति की पुष्टि करता है। जो प्रमाण नहीं भी दिये गए उन्हें भी मान लेना चाहिए इसको भी द्विरुक्ति से बतलाते है, अन्य मार्गों को तिरस्कृत कर हमने अपनी बात की पुष्टि कर दी, यह बात भी द्विरुक्ति से दिखलाई जाती है।

द्वितीय अध्याय--चतुर्थपाद समाप्त

सम्रीतिर्मदहोजाः परब्रह्म सनातनः।
जयताज्ज्ञानकोनाथो वेदवेद्यो महामतिः॥

तृतीय अध्याय—प्रथमपाद

१ अधिकरण

साधनविचारोऽयमध्यायः। वैराग्यार्थं गत्यादिनिरूपणा प्रथमपादे भूतबन्धो हि बन्धः। "भूतबन्धस्तु संसारो मुक्तिस्तेभ्यो विमोचनमिति" वाराहे। तच्च मरणे भवति।

"भूतानां विनिवृत्तिस्तु मरणं समुदाहृतम्।
भूतानां संप्रयोगश्च जनिरित्येव पण्डितैः॥"

इति भारेत। अतः किं साधनैः ? इत्यत आह—

यह अध्याय साधन के विचार के लिए है। वैराग्य के लिए प्रथमपाद में गति आदि का निरुपण किया गया है। भूतों के बन्धन को ही बन्धन कहते हैं जैसा कि--वाराह पुराण और महाभारत में स्पष्ट उल्लेख है--"भूतों का बन्धन ही संसार है, उनसे छूटना ही मुक्ति हैं।" भूतों की निवृत्ति को मरण कहा जाता है भूतों के एकत्रीकरण को जन्म कहते हैं। "वे साधन कौन से हैं? इसे बतलाते हैं--"

ॐ तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहतिसम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॐ।३।१।१।२१॥

शरीरान्तरप्रतिपत्तौ भूतसंपरिष्वक्त एव गच्छति। "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" इति प्रश्नपरिहाराभ्याम्।

जीवात्मा, भूतों से जुड़ा हुआ ही दूसरे शरीर में जाता है। "यह जल कैसे पाँच आहुतियों के बाद पुरुष नाम वाला होता है इसे मुझे बतलाओ ? इस प्रकार वह जल पाँच आहुतियों के बाद पुरुष नाम वाला होता है।" प्रश्न और उत्तर से उक्त कथन की पुष्टि होती है।

२ अधिकरण

ॐ त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॐ ३।१।२।२॥

अपशब्दस्तु त्र्यात्मकत्वात् युज्यते। भूयस्त्वाच्चापाम्। "तापापनोदो भूयस्त्वमम्भसो वृत्तयस्त्विमाः" इति भागवते।

अप् शब्द त्र्यात्मक होने से विविध नामों से पुकारा जाता है जल सबसे अधिक है भो। "ताप की शान्ति और बाहुल्य, में जल को वृत्ति हैं।" ऐसा भागवत का प्रमाण भी है। अतः जल का जोव से विशेष संबंध है।

३ अधिकरण

ॐ प्राणगतेश्च ॐ ।३।१।३।३।।

"यत्र वाव भूतानि तत्र करणानि नित्यानि ह वा एतानि भूतानि करणानि, न चैतानि कदाचित् वियुज्यन्ते न च विलीयन्ते" इति भाल्लवेयश्रुतेः प्राणगतेर्भूतान्यपि सन्तीति सिद्धम्।

"जहाँ ये नित्य भूत रहते हैं वहाँ करण भी रहते हैं क्योंकि करण इन भूतों की अनुभूति के लिए तो हैं ही, ये भूत कभी न तो अलग होते हैं न नष्ट होते हैं।" इत्यादि भाल्लवेय श्रुति से निश्चित होता है कि प्राण के साथ भूत भी रहते हैं।

४ अधिकरण

ॐ अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॐ ।३।१।४।४।।

"यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणः" इत्यादि श्रुतेर्न प्राणानां जीवेन सह गतिरिति चेन्न भागतोऽग्न्यादिप्राप्तेः।

पुरुषस्तु मृतौ ब्रह्मन् प्राणा भागत एव तु।
अधिदैवं प्राप्नुवन्ति भागतोऽनुव्रजन्ति तम्॥
पुनः शरीरसम्प्राप्तौ तमेवानुविशन्ति च।

इति ब्राह्मे। ब्रह्माण्डे च

मृतिकाले जहत्येनं प्राणा भूतानि पञ्च च।
भागतो भागतस्त्वेनमनुगच्छन्ति सर्वशः॥ इति।

"इस पुरुष की वाणी अग्नि में लीन हो जाती है, प्राण वायु में लीन हो जाते हैं" इत्यादि श्रुति से तो ज्ञान होता है कि--इन्द्रियों की जोव के साथ गति नहीं होती, ऐसा नहीं सोचना चाहिए, वाणी आदि के अंश अग्नि आदि में लीन होते हैं जैसा कि ब्रह्म और ब्रह्माण्ड पुराण से ज्ञात होता है--"पुरुष की मृत्यु पर उसकी इन्द्रियों के अंश उनके अभिमानी देवताओं को प्राप्त हो जाते हैं, बाकी अंश उसके साथ ही जाते हैं। शरीर के पुनः प्राप्त होने पर उसी में पुनः

प्रविष्ट हो जाते हैं।" मृति काल में इन्द्रियों के अंशों को इन पञ्चभूतों में छोड़ देते हैं, बाकी अंश को लेकर जाते हैं।" इत्यादि,

५ अधिकरण

ॐ प्रथमे श्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः।३।१।५।५।।

"तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति" इति प्रथमाग्नौ श्रूयते न भूतानि जुह्वति इति, अतो नेति चेन्न। न ता एव प्रस्तुता आपः श्रद्धारूपेण हूयन्ते, इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो, भवन्ति" इत्युपसंहारोपपत्तेः।

"इस अग्नि में देवता श्रद्धा की आहुति करते हैं।" इत्यादि प्रसंग में तो सर्वप्रथम अग्नि में आहुति की बात कही गई है भूतों की आहुति की तो कोई चर्चा ही नहीं है, इसलिए उक्त सिद्धान्त ठीक नहीं है, ऐसा नहीं सोचना चाहिए, "वे इस प्रस्तुत जल को ही श्रद्धा रूप से हवन करते हैं वही जल पांचवी आहुति के बाद पुरुष नाम वाला होता है।" इस प्रसंग के उपसंहार से शंका का समाधान हो जाता है।

६ अधिकरण

ॐ अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः।१।६।६।।

अग्न्यादिगतिः प्रत्यक्षतः श्रूयते। अत प्रत्यक्षाश्रवणान्न युक्तमिति चेन्न। "अथैनं यजमानं किं न जहाति, भूतान्येव भूतैरेव गच्छति भूतैर्भुंक्ते भूतैरुत्पद्यते भूतैश्चरति भूतैर्विचरति" इति कौण्ड्य श्रुतौ प्रतीतेः।

जैसा कि इन्द्रियों की अग्नि आदि गति का, प्रत्यक्ष उल्लेख है वैसा साथ जाने का तो है नहीं अतः उक्त मत ठीक नहीं, ऐसा तर्क भी उचित नहीं है निम्नोक्त कौण्ठ्य श्रुति में उसका भी स्पष्ट उल्लेख है—"वह इस यजमान से क्या नहीं करवाते, वह भूतों में ही रहता, भूतों के साथ ही जाता है, भूतों के साथ ही भोग भोगता है, भूतों के साथ ही जन्म लेता है, भूतों के साथ चलता फिरता है।" इत्यादि,

७ अधिकरण

"अपामसोमममृता अभूम" इत्यादिश्रुतिविरोध इत्यतो वक्ति—उक्त मत मानने से "अपामसोमममृता अभूम" इत्यादि श्रुति से विरुद्धता होती है। इस संशय का उत्तर देते हैं—

ॐ भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति ॐ ३।१।७।७।।

भागतस्तदमृतत्वम् । "नान्यः पन्था अयनाय विद्यते" इति श्रुतेरात्मविद' एव हि मुख्यम् । वाशब्दात् पारम्पर्येणात्मविद-पेक्षया वा तथा हि श्रुतिः "स एनमविदितो न भुनक्ति यथा वेदो वाननूक्तोऽन्यद्वा कर्माकृतं यदि ह वा अप्यनेवंविन्महत्पुण्यं कर्म करोति तद् हास्यान्ततः क्षीयत एवात्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मान-मेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयतेऽस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत्काम-यते तत्सृजते । अमृतो वाव सोमपो भवति यावदिन्द्रो यावन्मनुर्या-वदादित्यः । कर्मणा ज्ञानमाप्नोति ज्ञानेनामृती भवति, अथामृतानि कर्माणि यत एनममृतत्वं नयन्ति" इति च ।

अंशरूप से उसका अमृतत्व है । "नान्यः पन्था अयनाय विद्यते" इत्यादि श्रुति से आत्मवेत्ता को ही मुख्य बतलाया गया है । सूत्र में वा शब्द से बतलाते हैं कि परम्परा से आत्मविद का ही महत्व दिया गया है, श्रुति भी वैसा ही वर्णन करती है —"

८ अधिकरण

"कृतस्य कर्मणो भोगेन क्षयान्मुक्तिः" इत्यत आह--

ॐ कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्याम् ॐ ३।१।८।८।।

"ततः शेषेणेमं लोकमायाति पुनः कर्म कुरुते पुनर्गच्छति पुनरा-गच्छति" इति श्रुतेः ।

"भुक्तशेषानुशयवानिमां प्राप्य भुवं पुनः ।
कर्म कृत्वा पुनर्गच्छेत् पुनरायति नित्यशः ।।
आचतुर्दशमाद्वर्षात् कर्मणि नियमेन तु ।
दशावराणां देहानां कारणानि करोत्ययम् ।।"
अतः कर्मक्षयान्मुक्तिः कुत एव भविष्यति ।
इत्यादिस्मृतेश्च शेषवानेवायाति ।

"उसके बाद कर्म शेष होने पर इस लोक में आता है, पुनः कर्म करता है पुत्र जाता है पुनः आता है" इत्यादि स्मृति से तथा "भोग भोग चुकने पर कुछ भोगों को भोगने के लिए इस लोक को पुनः प्राप्त कर कर्म करने के बाद पुनः जाता है पुनः आता है, ऐसा क्रम चलता रहता है। चौदहवें वर्ष से कर्म में नियम पूर्वक लगता है, दश वर्ष तक यह अन्य शरीरों के कारणों को करता है। इस लिए कर्मक्षय से मुक्ति कैसे संभव है।" इत्यादि स्मृति से निश्चित होता है, इसके कुछ कर्म शेष रह जाते हैं जिससे इसे आना पड़ता है।

९ अधिकरण

"यथेतमेव गच्छति, यथेतमागच्छति स भुंक्ते स कर्म कुरुते स परिवर्त्तते" इति गतिप्रकारेणागतिः प्रतीयते । अतो ब्रूते—

ॐ यथेतमनेवं च ॐ ।३।१।९।९।।

"जिस प्रकार यहाँ से जाता है, उसी प्रकार यहाँ आता है, भोग करता है कर्म करता है, पुनः लौटता है" इत्यादि श्रुति में गति के समान ही आगति भी प्रतीत होती है। इस पर कहते हैं—

"धूमादभ्रमभ्रादाकाशमाकाशाच्चन्द्रलोकं यथेतमाकाशमाका-शाद् वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति" इति काषायणश्रुतेर्यथागत-मन्यथा च ।

"धूम से अभ्र, अभ्र से आकाश, आकाश से चन्द्र लोक प्राप्त करता है, पुनः वहाँ से आकाश, आकाश से वायु, होकर धूम होता है, धूम होकर अभ्र होता है, अभ्र होकर मेघ होता है, मेघ होकर बरसता है" इत्यादि काषायण श्रुति में गति से भिन्न आगति का उल्लेख किया गया है।

१० अधिकरण

ॐ चरणादिति चेन्न तदुपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॐ ३।१।१०।१०।।

"तद् य इह रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्यन्ते, कपूय-चरणाः कपूयामिति" श्रुतेश्चरणफलमेव गमनागमनं न यज्ञादिकृतः ।

"आचार इति सम्प्रोक्तः कर्माङ्गत्वेन शुद्धिदः ।
अशुद्धिस्त्वनाचारश्चरणं तूभयं मतम् ।।"

इति स्मृतेरिति चेन्न । यज्ञाद्युपलक्षणार्था चरणादिश्रुतिरिति कार्ष्णाजिनिर्मन्यते ।

"जो यहाँ अच्छा आचरण करते हैं वे अच्छी योनियाँ प्राप्त करते हैं, खराब आचरण वाले खराब प्राप्त करते हैं" इत्यादि श्रुति में तो आचरण के फलस्वरूप है गमनागमन की बात सिद्ध होती है, यज्ञ आदि वाली बात समक्ष में नहीं आती । "कर्म के अंगरूप से आचार को शुद्धि का कारण मानते हैं, अनाचार अशुद्ध करने वाला है, इस प्रकार आचरण दो प्रकार का होता ।" इत्यादि स्मृति भी उसी बात की पुष्टि करती है । इस पर कार्ष्णाजिनि कहते हैं कि चरण की चर्चा करने वाली श्रुति यज्ञादि की ही उपलक्षक है ।

ॐ आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॐ ।३।१।१०।११।।

तर्हि रमणीयाः कपूया इत्येव स्यात् । चरणशब्दस्यानर्थक्यम् इति चेन्न । चरणापेक्षत्वाद्रमणीयत्वादेस्तज्ज्ञापनार्थत्वेनोपपत्तेः ।

रमणीय या कपूय इतना ही कहना बहुत था चरण शब्द का प्रयोग तो व्यर्थ ही किया गया सो बात भी नहीं है, रमणीय या कपूय शब्द तो चरण के लिए ही प्रयोग किए हैं, चरण की विशेषता बतलाने से ही उन शब्दों प्रयोग की चरितार्थता है ।

ॐ सुस्कृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॐ ३।१।१०।१२।।

"धर्मं चरत माधर्मम्" इत्यादिप्रयोगात् सुकृतदुष्कृते एव चरणशब्दोक्ते इति बादरिर्मन्यते । तुशब्दात्स्वसिद्धान्तोऽपि स एवेति-सूचयति । "तुशब्दस्तु विशेषे स्यात्स्वसिद्धान्तेऽवधारणे" इति नाम महोदधौ ।

"धर्म का आचरण करो अधर्म का नहीं" इत्यादि से चरण शब्द सुकृत दुष्कृत दोनों ही अर्थों में प्रयोग किया गया प्रतीत होता है ऐसा बादरि आचार्य मानते हैं । सूत्रकार सूत्र में तु शब्द का प्रयोग करके बतलाते हैं कि हमारा भी यही सिद्धान्त है । नाम महोदधि में तु शब्द सिद्धान्त अर्थ में प्रयुक्त होता है सो बतलाते हैं—" तु शब्द विशेष स्वसिद्धान्त और अवधारण में प्रयोग किया जाता है ।

११ अधिकरण

पुण्यकृतामेव गमनागमने नेतरेषामित्यत आह—

पुण्य कर्म करने वाले ही जाते आते हैं दूसरे नहीं । इस पर सिद्धान्त बतलाते हैं —

ॐ अनिष्टाधिकारिणामपि च श्रुतम् ॐ ३।१।११।१३।।

"तद् य इह शुभकृतो ये चाशुभकृतस्तेऽशुभमनुभूयावर्त्तन्ते पुनः कर्म कुर्वन्ति पुनर्गच्छन्ति पुनरागच्छन्ति" इति भाल्लवेयश्रुतौ ।

"जो यहाँ शुभ करते हैं और जो अशुभ करते हैं, वे वहाँ अशुभ को भोगकर पुनः यहाँ आकर कर्म करते हैं, पुनः जाते हैं पुनः आते हैं" इस भाल्लवेय श्रुति में स्पष्ट रूप से शुभ अशुभ दोनों प्रकार के कर्त्ताओं के जाने की बात कही गई है ।

ॐ संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॐ ३।१।११।१४।।

संयमनमनुभूय केषांचिदारोहः केषांचिदवरोहः । तुशब्दोऽवधारणे । "सर्वे वा एते अशुभकृतः संयमने प्रपतन्ति, तत्र ये परद्विषो गुरुद्विषः श्रुतिद्विषस्तदवमन्तारः शठा मूर्खा इति ते वै ततोऽवरुह्य तमसि प्रपतंति नैवेत उत्तिष्ठन्तेऽपि कर्हिचिद् वज्रं वा एतदित्याहुरथ येऽन्ये ब्रह्मद्विषः स्तेनाः सुरापा इति ते वै तदनुभूयेमं लोकमनुव्रजन्ति" इति कौण्ठरव्यश्रुतेः ।

"संयमन का अनुभव करके किसी का आरोह होता है और किसी का अवरोह होता है । सूत्र में तु शब्द अवधारण अर्थ में प्रयोग किया गया है "ये सब अशुभ करने वाले नरक में गिरते हैं, उनमें जो विष्णु से द्रोह करने वाले, गुरु से द्रोह करने वाले, शास्त्र से द्रोह करने वाले और उनका अपमान करने वाले हैं शठ मूर्ख हैं वहाँ से जाकर नित्य नरक में गिरते हैं, ये कभी भी उठ नहीं पाते उस नरक का नाम वज्र है । जो दुसरे ब्राह्मण द्वेषी, चोरी और मदिरा पान करने वाले हैं वे नरक की यातनाओं को भोगकर इस लोक में आते हैं ।" इत्यादि कौण्ठरव्य श्रुति से ज्ञात होता है ।

ॐ स्मरन्ति च ॐ ३।१।११।१५।।

"गच्छन्ति पापिनः सर्वे नरकं नात्र संशयः ।
तत्र भुक्त्वा पतन्त्येव ये द्विषन्ति जनार्दनम् ।।
महातमसि मग्नानां न तेषामुत्थितिः क्वचित् ।
इतरेषां तु पापानामुत्थानं विद्यतेऽपि च ।।
सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
इति सर्वत्र नियमः पञ्चकष्टे तु तत्सदा ।" इत्यादि ।

"सारे पापी नरक जाते हैं इसमें संदेह नहीं है, जो भगवान से द्वेष करते हैं वे पापों का भोग करने के बाद भी नहीं पड़े रहते हैं। महातम में पड़े हुए जीवों का उत्थान कभी नहीं होता। और पापियों का उद्धार तो हो भी जाता है। सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख यह सब जगह का नियम है, किन्तु नित्य नरकों में दुःख ही दुःख भोगना पड़ता है।" इत्यादि।

१२ अधिकरण

ॐ अपि सप्त ॐ ।३।१।१२।१६।।

"रौरवोऽथ महांश्चैव वह्निर्वैतरणी तथा ।
कुम्भीपाक इति प्रोक्तान्यनित्यनरकाणि च ।।
तामिस्रश्चान्धतामिस्रौ द्वौ नित्यौ सम्प्रकीर्तितौ ।
इति सप्त प्रधानानि बलीयस्तूत्तरोत्तरम् ।।
एतानि क्रमशो गत्वैवारोहोऽथावरोहणम् ।"

इति भारते ।

"रौरव, महारौरव, वह्नि, वैतरणी और कुम्भीपाक, ये पांच अनित्य नरक कहे हैं, तामिस्र और अन्धतामिस्र, ये दो नित्य कहे गए हैं, ये सात नरक हैं इनमें उत्तरोत्तर एक दूसरे से बलवान हैं। इनमे क्रम से जाकर आरोह अवरोह होता है।" इत्यादि महाभारत के वचन सात नरकों की अवगति होती है।

१३ अधिकरण

ईश्वरस्य नरकायुक्तेः । "सर्वं विसृजति सर्वं विलापयति सर्वं रमयति सर्वं न रमयति, सर्वं प्रवर्त्तयति अन्तरस्मिन्निविष्टः" इति कौषारवश्रुतिविरोध इत्यतो वक्ति ।

ईश्वर (भगवान्) को नरक नहीं है। ईश्वर सब उत्पन्न करता है। "सब नष्ट करता है, (यथायोग्य) सुख और दुःख देता है। इसमें अन्तर्यामी होकर प्रवृत्ति कराता है।" इत्यादि कौषारव श्रुति तो ईश्वर द्वारा सब कुछ होना बतलाती है, अतः नरक की बात असंगत है। इस संशय का निराकरण करते हैं--

ॐ तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॐ ।३।१।१३।१७।।

चशब्दाद्दुःखानुभवेन । "स स्वर्गे स भूमौ स नरके सोऽन्धोतमसि प्रवृत्तिकृदेक एवानुविष्टो नासौ दुःखभुगीश्वरः प्रभुत्वात्सर्वं पश्यति सर्वं कारयति नासौ दुःखभुग्य एवं वेद" इति पौत्रायणश्रुतेरविरोधः । "नरकेऽपि वसन्नीशो नासौ दुःखभुगुच्यते, नीचोच्चतैव दुःखादेर्भोग इत्यभिधीयते । नासौ नीचोच्चतां याति पश्यत्येव प्रभुत्वतः" इति भागवततन्त्रे ।

उस नारकीय दुःख में भी परमात्मा का कृतित्व बतलाया गया है, इसलिए ईश्वर के कृतित्व में कोई विरुद्धता नहीं आती जैसा कि पौत्रायण श्रुति का वचन है--"वह स्वर्ग, भूमि, नरक, अन्ध तामिश्र में सभी जगह जीव के अन्तर्यामी रूप से साथ-साथ रहता हुआ प्रवृत्ति देता रहता है, किन्तु वह दुःख नहीं भोगता, प्रभु होने से देखता सब है, सब कुछ कराता है, फिर भी दुःख नहीं भोगता जीव ही भोगता है।" नरक में भी साथ रहते हुए ईश दुःख नहीं भोगता नीचता ऊँच्चता दुःख आदि को ही भोग कहते हैं, किन्तु परमात्मा नीचे ऊँचे किसी भी भाव को नहीं प्राप्त करता, प्रभु होने के नाते कवल देखता भर है।" इत्यादि भागवततंत्र का वचन उक्त कथन की पुष्टि करता है।

१४ अधिकरण

"अथैतयोः पथोर्न कतरेण गच्छन्ति तानीमानि क्षुद्रमिश्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति, जायस्व म्रियस्वेत्येतत् तृतीयं स्थानमिति गतिस्वातत्र्यं भूतानां प्रतीयते, इत्यत आह–

"इन दोनों मार्गों में से किसी से भी जो नहीं जाते हैं, ये क्षुद्र मिश्र बार-बार आने जाने वाले प्राणी होते हैं, वह यहीं जीते मरते हैं यह तीसरा मार्ग है।" इत्यादि में भूतों के गति स्वातंत्र्य की प्रतीति होती है। इसका उत्तर देते हैं--

ॐ विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॐ ।३।१।१४।१८।।

विद्याकर्मापेक्षयैवैतद् वचनम्, तयोरपि प्रकृतत्वात् ।

"विद्यापथः कर्मपथो द्वौ पन्थानौ प्रकीर्तितौ,
तद्वर्जितस्त्रिधा याति तिर्यग्वा नरकं तमः ।"
इति भारते ।

विद्या और कर्म की अपेक्षा उक्त तीसरा मार्ग भिन्न है यही उक्त वाक्य में कहा गया है, जैसा कि महाभारत में भी स्पष्ट कहा गया है—"विद्या पथ और कर्मपथ दो पथ कहे गये हैं, उन मार्गों से रहित जीव तीसरी प्रकार गति प्राप्त करते हैं या तो वे पक्षी होते हैं या नरक में जाते हैं या अन्धन्तम में जाते हैं।

१५ अधिकरण

"यत्र दुःखं सुखं तत्र सर्वत्रापि प्रतीयते ।
अपि नीचगतौ किंचित् किमु मानुषदेहिनः ।।"

इति वचनान्महातमस्यपि सुखप्राप्तिः । इत्यत आह—

जहाँ दुःख है वहाँ सुख भी है, सर्वत्र ऐसा हो देखा जाता है जब सुवर हुए जीवों में ऐसा देखा जाता है तो मनुष्य देह की क्या बात है ?" इस वचन से तो ज्ञात होता है कि अन्धन्तम में भी सुख की स्थिति है । इसका उत्तर देते हैं–

ॐ न तृतीये तथोपलब्धेः ॐ ।३।४।१५।१९।।

"अथाविद्वानकर्माऽवाग्गच्छति त्रिधा ह्येवावग्गातिस्तिर्यग्यात-नातन इति द्वेवाव सुखानुवृत्ते न तमः सुखानुवृत्तं केवलं ह्येवात दुःखं भवति" इति श्रुतेर्न तृतीयावाग्गतौ सुखम् ।

अज्ञानी और निकम्मे नीचे गिरते हैं, नीचे गिर कर वे तीन गतियाँ पाते हैं उनमें से दो नरक और पशु योनियों में तो कुछ सुख पाते भी हैं किन्तु अन्धतामिस्र में उन्हें थोड़ा भी सुख नहीं मिलता, दुःख हो दुःख पाते हैं।

ॐ स्मर्यतेऽपि च लोके ॐ ।३।१।१५।२०।।

"तिर्यक्षु नरके चैव सुखलेशो विधीयते ।
नान्धे तमसि मग्नानां सुखलेशोऽपि कश्चन"
इति भविष्यत्पर्वणि ।

लोकसिद्धं चैतत् चशब्दाल्लोकद्धिरपि स्मार्तत्याह ।

"अतिप्रिये यथा राजा न दुःखं सहते क्वचित् ।
अत्यप्रिये सुखमपि तथैव परमेश्वरः ।।" इति ब्राह्मे ।

पशुपक्षियों में और नरक में तो थोड़ा सुख है भी किन्तु अन्धतामिस्र में पड़े जीवों को किंचित् मात्र भी सुख नहीं प्राप्त होता" ऐसा भविष्यतपर्व में भी कहा गया है। लोक सिद्ध वस्तु का भी ब्रह्मपुराण में उल्लेख है—"जैसे कि अति प्रिय में राजा दुःख नहीं सहते वैसे ही अति अप्रिय में परमेश्वर भी सुख नहीं सहते।"

ॐ दर्शनाच्च ॐ ।३।१।१५।२१।।

"नारायणप्रसादेन समिद्धज्ञानचक्षुषा ।
अत्यन्तदुःखसंलीनान्निश्शेषसुखवर्जितान् ।।
नित्यमेव तथा भूतान्विमिश्रांश्च गणान्बहून् ।
निरस्ताशेषदुःखांश्च नित्यानंदैक भागिनः ।।
अपश्यत् त्रिविधान् ब्रह्मा साक्षादेव चतुर्मुखः ।

इति दर्शनवचनाच्च पाद्मे ।

भगवान् नारायण की कृपा से उज्वल ज्ञान दृष्टि से चतुर्मुख ब्रह्मा ने तीन प्रकार के प्राणियों को देखा । तीन प्रकार के जीव १—अत्यन्त दुःख में डूबे हुए सुखलेश रहित, २—हर समय सुख-दुःख मिश्र वाले, ३—जिनको किसी प्रकार का दुःख न रहते हुए केवल आनन्द ही भोगते हैं । इत्यादि पद्मपुराण के वचन में उक्त जीवों के प्रत्यक्षदर्शन की बात कही गई है इससे भी उक्त कथन की पुष्टि होती है।

ॐ तृतीये शब्दावरोधः संशोकजस्य ॐ ।३।१।१५।२२।।

तृतीये तृतीयतमसः श्रवणादेव शब्दानुसारेण संशोकजमोहप्राप्तिः ।

तृतीय अन्धतामिस्र की बात सुनकर ही शोक वश लोग मूर्च्छित हो जाते हैं।

ॐ स्मरणाच्च ॐ ।३।१।१५।२३।।

"महातमस्त्रिधा प्रोक्तमूर्ध्वं मध्यं तथाधरम् ।
श्रवणादेव मूर्च्छादिरधरस्य यतो भवेत् ।
तस्मान्न विस्तरेणैतत्कथ्यते राजसत्तम ।।" इति कौर्मे ।

"अन्धतामिस्र नरक तीन प्रकार का है—उत्तम, मध्यम, निकृष्ट। किन्तु अधर का सुनते ही (उसमें का दुःख सुनते ही) मूर्च्छित हो जाते हैं, इसलिए उसका विस्तार से वर्णन नहीं किया जाता।" इत्यादि कूर्मपुराण के वचन से भी नारकीय यातनाओं की पुष्टि होती है।

१६ अधिकरण

"धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति" इत्याद्यन्यभावः श्रूयते, स कथम् ? इत्यतो ब्रवीति।

"धूम होकर अभ्र होता है" इत्यादि में जीव का दूसरे रूपों में होना कहा गया है उसका क्या तात्पर्य है ? इसका समाधान करते हैं—

ॐ तत्स्वाभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॐ।३।१।१६।२४॥

धूमादिषु प्रविश्य तद्गतौ गतिस्तत्स्थितौ स्थितिरित्यादिरेव तद्भावापत्तिः। न हि अन्यस्यान्यभावो युज्यते न च तत्पदप्राप्तिः। गारुडे च--

"धूमादिभावप्राप्तिश्च तद्गतौ गतिरेव तु।
स्थितौ स्थितिः प्रवेशश्च लघुत्वादिस्तथैव च॥
न ह्यन्यस्स्यन्यथाभावो न च तत्पदमिष्यते।
विद्यागम्यं पदं यस्मान्न तत्प्राप्यं हि कर्मणा॥
एकदेशस्वभावेन वागभेदापि युज्यते।
यथा जीवः परं ब्रह्म ब्रह्मेदं जगदित्यपि॥" इति।

धूमादि में घुसकर उसके साथ-साथ चलने उसमें उसी के रूप में सूक्ष्म रूप से रहने की दृष्टि से जीवों के धूम आदि रूप होने की बात कही गई है। कोई भी वस्तु दूसरे रूप में परिणत नहीं होती और न उस नाम की ही कहलाती है। गरुड पुराण में इसका स्पष्ट उल्लेख है—"धूमादि भाव की प्राप्ति का तात्पर्य है कि—उन वस्तुओं की गति के अनुसार चलना, ठहरना, प्रवेश करना सूक्ष्म रूप हो जाना इत्यादि, जीव का दूसरा रूप या नाम हो जाता हो सो बात नहीं है। जो स्थान ज्ञान से ही मिल सकता है, कर्म से नहीं मिल सकता किन्तु एक ही देश में रहने से जैसे उसे शब्दों में अभिन्न रूप से कह दिया जाता है" जीव परब्रह्म है "यह जगत ब्रह्म है" इत्यादि, उसी प्रकार जीव के अभ्र आदि नाम वाला होने की बात भी है।

१७ अधिकरण

बहुस्थानगमनात् कल्पान्तमप्येवं स्यादिति। अत आह—

अनेक स्थानों में जीव के जाने की बात से तो ज्ञात होता है कि जीव को कम से कम एक कल्प तक ऐसा ही होगा। इसका उत्तर देते हैं—

ॐ नातिचिरेण विशेषात् ॐ।३।१।१७।२५॥

"तद् य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्यन्ते "इति विशेषान्नातिचिरेण।

"स्वर्गाल्लोकादवाक् प्राप्तो वत्सरात् पूर्वमेव तु।
मातुः शरीरमाप्नोति पर्यटन्यत्र तत्र च॥" इति नारदीये।

"जो यहाँ शुद्ध आचरण का अभ्यास करते हैं, वह शुभ योनि प्राप्त करते हैं" इस विशेष प्राप्ति के वचन से ज्ञात होता है कि जीव को लौटने में समय नहीं लगता। नारद पुराण में तो स्पष्ट कहते हैं कि—'जीव स्वर्गलोक से नीचे की ओर, आने के बाद एक वर्ष पूर्व ही; इधर-उधर घूमकर माता के गर्भ में आता है।"

१८ अधिकरण

"त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतियस्तिला माषा इति जायन्ते" इति श्रवणादनर्थफलत्वं यज्ञादेरिति अतो वक्ति--

"वे फिर व्रीहि यव औषधिवनस्पति तिल माष हो जाते हैं। इस श्रुति से तो यज्ञ आदि की अनर्थफलता निश्चित होती है। इसका उत्तर देते हैं—

ॐ अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात् ॐ।३।१।१८।२६॥

अन्याधिष्ठिते व्रीह्यादिशरीरे प्रवेशः न तु भोगोऽस्य। धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति इत्यादि पूर्वोक्तिवत्। "सोऽवागतः स्थावरान् प्रविश्य भोगेनैव व्रजन् स्थूलं शरीरमेति, स्थूलाच्छरीराद् भोगानुपभुंक्ते" इत्यभिलापात् कौषारवश्रुतौ। "स्वर्गादवागतो देही व्रीह्यादीतरदेहगः, अभुंजंस्तु क्रमेणैव देहमाप्नोति कालतः" इति वाराहे।

जीव का अन्याधिष्ठान के रूप से व्रीहि आदि शरीरों में प्रवेश होता है, वह उन रूपों में भोग नहीं करता, जैसी स्थिति उसकी "धूमो भूत्वा अभ्रं भवति"

में की वैसी ही व्रीही आदि में भी रहतो है। जैसा कि कौषारव श्रुति के अभिलाप से भी निश्चित हो जाता है—"वह नीचे आकर, स्थावरों में घुसकर उनसे आवृत हुआ स्थूल शरीर को प्राप्त करता है, स्थूल शरीर से भोगों को भोगता है।" वाराह पुराण में इसे एकदम स्पष्ट कर दिया गया है—"स्वर्ग से नीचे आकर यह जीव, व्रीहि इत्यादि अन्य देहों को बिना भोगे ही, समयानुसार भोग शरीर को प्राप्त करता है।"

ॐ अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॐ ।३।१।१८।२७।।

हिंसारूपत्वात् पापस्यापि सम्भवाद् दुःखं च भवतु इति चेन्न शब्दाविहित्वात्—

"हिंसात्ववैदिकी या तु तयानर्थो ध्रुवं भवेत् ।
वेदोक्तया हिंसया तु नैवानर्थः कथंचन ।।"

इति वाराहे ।

यदि कहें कि—अन्न आदि के साथ जीव रहता है तो उसे कूटपीस कर पकाकर खाना तो हिंसा है, जो कि पाप है, इससे तो दुःख प्राप्त होगा, सो संभावना नहीं है, ऐसी हिंसा तो शास्त्र सम्मत है—"जो हिंसा शास्त्र में नहीं कही गई उससे तो निश्चित ही अनर्थ होता है, वेदोक्त हिंसा से कोई अनर्थ नहीं होता" ऐसा वाराह पुराण का वचन है।

१९ अधिकरण

"स्वर्गादवागतश्चापि मातुरेवोदरं व्रजेत्" इति वचनात् "य एव गृही भवति यो वा रेतः सिञ्चति तमेवानुविशति" इति श्रुतिः कथम् ? इत्यत् आह—

"स्वर्ग से नीचे आकर माता के गर्भ में जाता है" ऐसा एक वचन है दूसरी ओर कहते हैं कि—"जो इस प्रकार ग्रहस्थ होकर वीर्य सिञ्चन करता है कैसे होगा ? इसका समाधान करते हैं—

ॐ रेतः सिग्योगोऽथ ॐ ।३।१।१९।२८।।

"ततो रेतः सिचमेवानुप्रविशत्यथ मातरमथ प्रसूयते स कर्म कुरुते" इति कौण्ठरवश्रुतेः पितरमेव प्रथमतो विशति । मातृप्राप्तेः पश्चादपि भाव्यत्वात् ।

"फिर वह पिता में प्रवेश करता है, फिर माता में इसके बाद जन्म लेता है फिर वह कर्म करता है" इत्यादि कौण्ठरव्य श्रुति से निश्चित होता है कि वह पहले पिता में ही प्रविष्ट होता है, उसके बाद माता को पाकर ही जन्म लेता है।

२० अधिकरण

"देहं गर्भस्थितं क्वापि प्रविशेत् स्वर्गतो गतः" इति वचनात् पश्चादेव प्रविशति इति । अत आह—

"कभी कभी स्वर्ग जाने के बाद गर्भस्थित देह को प्राप्त करता है" इस वचन से तो बाद में प्रवेश की बात समझ में आती है। इसका उत्तर देते हैं—

ॐ योनेः शरीरम् ॐ ।३।१।२०।२९।।

पितृशरीरान्मातृयोनिमनुप्रविश्य तत एव शरीरं प्राप्नोति । "दिवः स्थास्नून्गच्छति स्थास्नुभ्यः पितरं पितुर्मातरं मातुः शरीरं शरीरेण जायते" इति सम्मितम् । अथासम्मितं स्थास्नुभ्यो जायते पितुर्मातुरन्तरे वा गर्भे वा बहिर्वा इति" इति पौष्यायणश्रुतेः ।

"स्थावराणि दिवः प्राप्तः स्थावरेभ्यश्च पूरुषम् ।
पुरुषात्स्त्रियमापन्नस्ततो देहं यथाक्रमम् ।।
देहेन जायते जन्तुरिति सामान्यतो जनिः ।
विशेषजननं चापि प्रोच्यमानं निबोध मे ।।
स्थास्नुष्वथापि पुरुषे प्रमदायामथापि वा ।
गर्भे वा बहिरेवाथ क्वचित् स्थानान्तरेषु च ।।"

इति ब्राह्मे ।

पिता के शरीर से माता की योनि में प्रविष्ट होकर ही शरीर प्राप्त करता है, ऐसा सामान्य नियम है। "स्वर्ग से लौटकर अन्नों में जाता है, अन्नों से पिता के पेट में जाता है, पिता से माता के गर्भ में जाता है, माता से शरीर के रूप में होता है ऐसा निश्चित क्रम है, वैसे कभी कभी कोई विशेष जीव अन्नों से भी हो जाता है पिता से भी हो जाता है, बिना माता पिता के भी हो जाता है गर्भ से हो जाता है, बाहर भी हो जाता है।" इत्यादि पौष्यायण श्रुति से सामान्यतः तो योनि से ही शरीर प्राप्ति बतलाई गई है। ब्रह्मपुराण भी इस कथन को पुष्टि करता हुआ कहता है—"स्वर्ग से स्थावरों को प्राप्त करता है, स्थावर से पुरुष

को प्राप्त करता है, पुरुष से स्त्री को प्राप्त कर ही क्रमशः शरीर प्राप्त करता है। देह से ही जीव होता है यह तो सामान्य जन्म की प्रणाली है, किन्तु विशेष जन्म की बात भी कहीं कहीं कही गई है। स्थावर से, पुरुष से स्त्री, के गर्भ से या बाहर, किसी भी स्थान से जन्म होता है।"

तृतीय अध्याय प्रथम पाद समाप्त

तृतीय अध्याय—द्वितीयपाद

१ अधिकरण

भक्तिरस्मिन्पाद उच्यते। भक्त्यर्थं भगवन्महिमोक्तिः।

इस पाद में भक्ति का उपदेश करते हैं, भक्ति प्राप्ति के लिए पहले भगवान की महिमा बतलाते हैं—

ॐ संध्ये सृष्टिराह हि ॐ।३।२।१।१॥

न स्वप्नोऽपि तं विना प्रतीयते। "न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते" इत्यादि श्रुतेः।

भगवत्कृपा के बिना तो स्वप्न भी नहीं दीखता जैसा कि—"न वहाँ रथ होता है न रथयोग न कोई मार्ग ही होता है, रथ, रथयोग और मार्ग आदि सब भगवान् ही प्रकट करते हैं।" इत्यादि श्रुति से ज्ञात होता है।

ॐ निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॐ।३।२।१।२॥

"य एषु सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाण." इति च "एतस्माद् ह्येव पुत्रो जायते एतस्माद् भ्रातैतस्माद् भार्या यदैन पुरुषमेष स्वप्नेनाभिहन्ति" इति गौपवनश्रुतिश्च।

"सोते हुए जीवों में एकमात्र परमात्मा ही जागता है और पुरुष के अभिलषित वस्तुओं का निर्माण करता रहता है।" इस श्रुति से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है। गौपवन श्रुति भी वही बात कहती है—"इसी से पुत्र भाई, स्त्री आदि स्वप्न में उत्पन्न होते और मारे जाते हैं।"

केन साधनेन।

ॐ मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॐ।३।२।१।३॥

अनादिमनोगतान्संस्कारान् स्वेच्छामात्रेण प्रदर्शयति। नान्येन साधनेन सम्यगनभिव्यक्तत्वात्। ब्रह्माण्डे च—

"मनोगतांश्च संस्कारान् स्वेच्छया परमेश्वरः।
प्रदर्शयति जीवाय स स्वप्न इति गीयते॥
यदन्यथात्वं जाग्रत्वं सा भ्रान्तिस्तत्र तत्कृता।
अनभिव्यक्तरूपत्वान्नान्यसाधनजं भवेत्॥" इति

जीव के अनादि मनोगत संस्कार पुंजों को भगवान् अपनी इच्छा से स्वप्न के रूप में दिखलाते हैं। वे संस्कार अन्तःकरण में छिपे रहते हैं उन्हें प्रकट करना किसी भी प्रकार के साधन से संभव भी नहीं है। जैसा कि ब्रह्माण्ड पुराण में कहते हैं—"जीव के मनोगत संस्कारों की परमेश्वर अपनी इच्छा से जीव के सामने दिखलाते हैं, उस प्रदर्शन को स्वप्न कहते हैं। इसके विपरीत कभी-कभी स्वप्न में का पदार्थ और जाग्रत अवस्था में जो है वह स्वप्न पदार्थ समझना भ्रान्ति है वह भी उन्हीं के द्वारा कराई जाती है। जो वस्तु छिपी हुई है वह भगवान् के अतिरिक्त किसी अन्य साधन से प्रकाश में नहीं आ सकती।"

ॐ सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॐ।३।२।१।४॥

साधनान्तराभावेपि भावाभावसूचकत्वेनेश्वरो दर्शयति
"यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेऽभिपश्यति।
समृद्धिं तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने॥"
इत्यादिश्रुतेः। हिशब्दाद् दर्शनाच्च।
"यद् वापि ब्राह्मणो ब्रूयाद् देवता वृषभोऽपि वा।
स्वप्नस्थमथवा राजा तत्तथैव भविष्यति॥"
इत्याचक्षते च स्वप्नविदो व्यासादयः।

किसी अन्य साधनों के बिना, भी परमेश्वर शुभ अशुभ सूचक स्वप्न दिखलाते हैं जैसा कि श्रुति का प्रमाण है—"जब काम्य कर्मों में संलग्न व्यक्ति को स्वप्न में स्त्री दिखलाई दे तो उसका फल समृद्धि ही मानना चाहिए।" यदि बिना किसी अनुष्ठान के अकस्मात् भी कोई स्वप्न दर्शन होता है तो उसका तदनुरूप ही फल होता है।" यदि स्वप्न में ब्राह्मण, देवता, राजा, वृषभ

आदि कोई बात कहते हैं वह निश्चित है सत्य होती है।" ऐसा स्वप्न वेत्ता व्यास आदि का मत है।

२ अधिकरण

ॐ पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॐ।३।२।२।५॥

बन्धमोक्षप्रदत्वात् स एव स्वप्नतिरस्कर्त्ता।

"स्वप्नादिबुद्धिकर्त्ता च तिरस्कर्त्ता स एव च।
तदिच्छया यतो ह्यस्य बन्धमोक्षौ प्रतिष्ठितौ ॥"

इति कौर्मे।

बन्धन और मोक्ष देने वाले वे परमात्मा स्वप्न के फल को नष्ट भी कर सकते हैं जैसा कि कूर्म पुराण के वचन से निश्चित होता है 'स्वप्न दिखलाने वाले वे हैं और नष्ट भी वे ही करते हैं, उनकी इच्छा से दोनों बातें होती हैं क्योंकि बन्धन मोक्ष उन्हीं के वश की बात है।"

३ अधिकरण

ॐ देहयोगाद् वासोऽपि ॐ।३।२।३।६॥

देहयोगेन वासो जाग्रदपि तत एव। "स एव जागरिते स्थापयति स स्वप्ने स प्रभुस्तुराषाट् स एको बहुधा भवति" इति कौण्ठरव्यश्रुतेः।

वे परमात्मा देह में अन्तर्यामी रूप से रहते हैं इसलिए जाग्रत अवस्था में भी जो कुछ होता है वह भी उन्हीं की कृपा से होता है जैसा कि कौण्ठरव्य श्रुति में कहा गया है—"वही प्रभु है इन्द्र है, वह एक होता हुआ भी अनेक जीवों में अन्तर्यामी रूप से लीला कर रहा है।"

४ अधिकरण

ॐ तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि ह ॐ।३।२।४।७॥

जाग्रत्स्वप्नाभावः सुप्तिः नाडीस्थे परमात्मनि। "आसु तदा नाडीषु सुप्तो भवति" सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति" इति श्रुतेः।

जाग्रत और स्वप्न से रहित सुप्त अवस्था में जीवात्मा नाड़ी में स्थित परमात्मा में लीन हो जाता है जसा कि श्रुति का प्रमाण है—"उस समय जीव नाड़ियों में सो जाता हैं।" हे सोम्य उस समय जीव परमात्मा से संयुक्त हो जाता है।" इत्यादि।

ॐ अतः प्रबोधोऽस्मात् ॐ।३।२।५।८॥

यतस्तस्मिन् सुप्तिः। "एष एव सुप्तं प्रबोधयत्येतस्माज्जीव उत्तिष्ठत्येष प्रमातैष परमः" इति हि कौण्डिन्यश्रुतिः।

५ अधिकरण

परमात्मा में जीव सोया हुआ है। अतः "परमात्मा ही उस सोते हुए जीव को उठाता है, जीव का प्रमाता परमात्मा ही है।" ऐसी कौण्डिन्य श्रुति है।

६ अधिकरण

ॐ स एव च कर्मानुऽस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॐ।२।३।६।९॥

न च केषांचित् स्वप्नादिकर्त्ता न तु सर्वेषामिति। "एष ह्येव कर्म कारयति" इति कर्मण्यवधारणात्।

"प्रदर्शकस्तु सर्वेषां स्वप्नादेरेक एव तु।
परमः पुरुषो विष्णुस्ततोऽन्यो नास्ति कश्चन ॥"

इत्यनुसारिस्मृतेश्च। "एष स्वप्नान्दर्शयत्येष प्रबोधयत्येष एव परमानन्दः इति च श्रुतिः। "आत्मानमेव लोकमुपासीत" इति च विधिः।

स्वप्न आदि किसी-किसी को ही दिखलाते हैं सबको नहीं ऐसा भीनहीं कह सकते क्योंकि—"यही कर्म कराते हैं" ऐसा सामान्य निर्देश परमात्मा के लिए किया गया है, सभी को वही कर्म कराते हैं। एकमात्र वे ही सबको स्वप्न आदि दिखलाते हैं, परम पुरुष विष्णु ही सब कराते कोई और नहीं कराता "इत्यादि स्मृति का मत है।" वह स्वप्न दिखलाते हैं, जगाते भी वही हैं, वही परमानन्द हैं "ऐसी श्रुति भी है।" लोक को आत्मा की ही उपासना करनी चाहिए" ऐसी विधि भी है जो कि—ज्ञानरूपी परमात्मा के उपासना करनी चाहिये।

७ अधिकरण

ॐ मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः परिशेषात् ॐ। ३।२।७।१० ॥

मोहावस्थायां परमेश्वरेऽर्धप्राप्तिर्जीवस्य।
हृदयस्थात्पराज्जीवो दूरस्थो जाग्रदेष्यति
समीपस्थस्तथा स्वप्नं स्वपित्यस्मिंल्लयं व्रजन्

यत एवं त्र्योवस्था मोहस्तु परिशेषतः
अर्धप्राप्तिरिति ज्ञेयो दुखःखमात्रप्रतिस्मृतेः
इतिवाराहे । सोऽपि तत एवेति सिद्धम्
"मूर्च्छा प्रबोधनं चैव यत एव प्रवर्त्तते
स ईशः परमो ज्ञेयः परमानन्दलक्षणः ॥ इति कौर्भे

मोहावस्था (मूर्च्छा) में जीवको परमेश्वर की अर्द्ध प्राप्ति होती है। "परमात्मा हृदयस्थ होते हुए भी जाग्रतावस्था में जीव उनसे दूर रहता है, स्वप्न में जीव उनके निकट रहता है, निद्रा में उन्हीं में लोन हो जाता है। इन तीन अवस्थाओं से भिन्न एक चौथी मूर्च्छावस्था भी होती है, इसमें परमात्मा की अर्द्ध प्राप्ति होती है क्योंकि इसमें थोड़ी सी दुःख की मात्रा रहती है। ' ऐसा वाराह पुराण का वचन है। इससे भी, परमात्मा के एकाधिकार की सिद्धि होती है। कूर्मपुराण में स्पष्ट रूप से उसका उल्लेख है—"मूर्च्छा और प्रबोध जिससे होते हैं, वे परमज्ञेय परमानन्द स्वरूप परमात्मा ही हैं।"

८ अधिकरण

स्थानापेक्षया परमात्मनो भेदानुग्राह्यानुग्राहकभाव, इत्यत आह—

इस सबसे निश्चित होता है कि—परमात्मा का अनुग्राह्य अनुग्राहक भाव से भेद हैं। इसका उत्तर देते हैं कि—

ॐ न स्थाननतोऽपि परस्योभयलिङ्गं हि ॐ ३।२।८।११॥

स्थानापेक्षयापि परमात्मनो न भिन्नं रूपं "सर्वेषु भूतेषु एतमेव ब्रह्मेत्याचक्षते" इति श्रुतिः। "एकरूपः परो विष्णुः सर्वत्रापि न संशयः, ऐश्वर्याद्रूपमेकं च सूर्यवद्बहुधेयते" इति मात्स्ये। "प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः ॥ इति च भागवते।

स्थान की दृष्टि से भी परमात्मा का भिन्न रूप नहीं है; "सभी भूतों में यही ब्रह्म कहलाता है" ऐसी स्पष्ट श्रुति है। "सब जगह परमात्मा विष्णु एक ही रूप हैं, वह एक रूप होते हुए भी अपने ऐश्वर्य से विभिन्न जलाशयों में दीखने वाले सूर्य की तरह अनेक हैं। ऐसा मत्स्य पुराण का भी वचन है: श्रीमद्भागवत् में भी यही बात कही गई है—"जैसे कि एक ही सूर्य विभिन्न दर्पणों

में अनेक रूपों में दृष्टिगत होता है वैसे ही आपके सम्बन्ध में जो मेरा भेद मोह था वह धुल गया अब मैं स्वस्थ चित्त हो गया हूँ।"

ॐ न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॐ ।३।२।७।१२ ॥

"कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तु तुर्ये न सिद्धयतः"
इति भेदवचनान्नेति चेन्न।
"एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः"
"अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्"

"अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि च बहूनि चानन्तानि च तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्ममयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्" इति प्रत्येकमभेदवचनात्।

"विश्व और तैजस नामक भगवान् उन दोनों (अविद्या और तत्कार्यभूत जाग्रत और स्वप्नावस्था से जीव) कार्य कारण रूप से बद्ध जानना चाहिए प्राज्ञ (अविद्या) कारण बद्ध है, चतुर्थ मोक्ष की स्थिति में ये बन्धन ढीला हो जाता है।" इत्यादि भेद प्रतिपादक वचन से अभिन्नता वाली बात नहीं बनाती ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि—"यह तेरा अन्तर्यामी अमृत है "यह सब कुछ ब्रह्म है" यह सब दस हजार बहुत से अनन्तरूप हरि के ही हैं "यह ब्रह्म अपूर्व परम अन्तर बाह्य में व्याप्त आत्मा, सर्वानुभूति है।" इत्यादि बहुत से अभेद प्रतिपादक वचन हैं।

ॐ अपि चैवमेके ॐ ३।२।८।१३॥

एवमभेदेनैव। चशब्दादनन्तरूपत्वं चैके शाखिनः पठन्ति।
अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः।
ओंकरो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः॥

इति अभेदेऽपि भेदव्यपदेशः स्थानभेयाद् ऐश्वर्ययोगाच्च युज्यते। ब्रह्मतर्के च-बद्धो बन्धादिसक्षित्वाद् भिन्नेषु संस्थितेः निर्दोषद्वयरूपोऽपि कथ्यते परमेश्वरः।" इति

उक्त अभेद वाली बात सही नहीं है, वेद की एक शाखा में उसके अनन्त रूपों की चर्चा है।" वह अमात्र होते हुए भी अनन्त मात्रा वाला है, द्वैत का

निवारक वह शिव, ओंकार नाम से जाना जाता है, इस नाम से किसी और का बोध नहीं होता" इत्यादि में अभेद में भी भेद का व्यवदेश किया गया है। स्थान भेद और ऐश्वर्य योग से भेद हो सकता। जैसा कि ब्रह्मतर्क में वचन है—"बद्ध और बन्धन के साक्षी होने से" तथा भिन्नों में अभिन्न रूप से स्थित होने से उस निर्दोष परमेश्वर को अवयव रूप भी कहा जाता है।

९ अधिकरण

स्वरूपत्वादानित्यत्वमित्यतो वक्ति।

परमात्मा स्वरूपवान है इसलिए अनित्य हैं। इस संशयका उत्तर देते हैं—

ॐ अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॐ ३।२।९।१४।।

प्रकृत्यादिप्रवर्तकत्वेन तदुत्तमत्वान्नैव रूपवद् ब्रह्म। हिशब्दात् स्थूलमनण्व इत्यादिश्रुतेश्च।

भौतिकानिहि रूपाणि भूतेभ्योऽसौ परो यतः।
अरूपवानतः प्रोक्तः क्व तदव्यक्त परे।। इति मात्स्ये।

प्रकृति आदि के प्रवर्त्तक होने से परमात्मा उनसे उत्तम हैं, रूपवान् नहीं हैं, "अस्थूल अनणु" इत्यादि श्रुति में उनके रूप रहित होने का स्पष्ट उल्लेख "भूतों से श्रेष्ठ इस परमात्मा का ये भौतिक रूप नहीं हैं, इसीसे उन्हें अरूपवान् कहा जाता है, उस अव्यक्त से श्रेष्ठ और कौन हो सकता है।" ऐसा मत्स्य पुराण में स्पष्ट उल्लेख है।

ॐ प्रकाशवच्चावैयर्थ्यम् ।३।२।१।१५।।

"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं" शामाच्छबलं प्रपद्यते" "सुवर्ण ज्योतिः" इत्यादिश्रुतीनां च न वैयर्थ्यम्। विलक्षणरूपत्वात्। यथा चक्षुरादिप्रकाशे विद्यमानेऽपि वैलक्षण्यादप्रकाशादिव्यवहारः।

"जब उस स्वर्णाभ को देखता है" धैर्यपूर्वक सबल की शरण में जाता है "सुवर्ण ज्योति" इत्यादि श्रुतियाँ व्यर्थ नहीं हैं क्योंकि परमात्मा विलक्षण रूप वाले हैं। जैसे कि—प्रकाश में विद्यमान होते हुए भी, प्रकाश की विलक्षणता से, नेत्र आदि में अप्रकाश आदि का व्यवहार होता है।

उस विज्ञानानंद मान ब्रह्म के रूप की विलक्षणता भी बतलाई गई है। "ऐकात्म्यप्रत्ययसारम्" श्रुति में तथा चतुर्वेद शिखा में भी जैसे—"आनन्द मात्र अजर पुराण अखण्ड ब्रह्म को अनेक रूपों में दृष्ट, उस आत्मस्थ ब्रह्म को जो धीर देखते हैं, उन्हें ही शाश्वत सुख मिलता है दूसरों को नहीं मिलता।"

ॐ दर्शयति च।थो अपि स्मर्यते ॐ।३।२।९।१७।।

दर्शयति चानन्दरूपत्वम् "तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद् विभाति" इति।

"शुद्धस्फटिक संकाशं वासुदेवं निरंजनम्।
चिन्तयीत यतिर्नान्यं ज्ञानरूपादृते हरेः।।"

इति मात्स्ये।

"जो अमृत स्वरूप आनन्दमय ब्रह्म सुशोभित होता है उसे धीर लोग बुद्धि से देखते हैं" इत्यादि श्रुति में ब्रह्म के आनन्दमय रूप का वर्णन किया गया है—मत्स्य पुराण में भी उसको पुष्टि की गई है—"शुद्ध स्फटिक मणि की तरह समुज्वल ज्ञानरूप निरञ्जन वासुदेव हरि के अतिरिक्त यति किसी अन्य रूप का चिन्तन नहीं करते"

१० अधिकरण

ॐ अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॐ।३।२।१०।१८।।

यस्मादेवं परमेश्वररूपाणां मिथो न कश्चिद् भेदः, अतः सादृश्याज्जीवस्यापि तथा स्यादिति। तस्य प्रतिबिम्बत्वमुक्त्वा चशब्देन भेदं दर्शयति। "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव"

बहवः सूर्यका यद्वत् सूर्यस्य सदृशा जले।
एवमेवात्मका लोके परात्मसदृशा मताः।।"

इत्यादि। अत एव भिन्नत्वतदधीनत्वतत्सादृश्यैरेव सूर्यकाद्युपमा। नोपाध्यधीनत्वादित्यादिना।

जैसे कि परमेश्वर के रूपों में परस्पर कोई भेद नहीं है, वैसे ही जीव के भी हो, क्यों कि वह भी उन्हीं के समान हैं। इसके प्रतिबिम्बत्व को बतला कर भेद भी दिखलाते हैं—"रूपं रूप प्रतिरूपं बभूव" जैसे कि एक सूर्य जल में अनेक दीखता है वैसे ही, परमात्मा के समान वह जीव भी अनेक हैं" इत्यादि।

भिन्नता और परमात्मा की अधीनता होते हुए भी परमात्मा के सादृश्य से सूर्य आदि की उपमा जीव के लिए दी गई है। जीव की अधीनता आदि औपाधिक नहीं है।

११ अधिकरण

नित्यसिद्धत्वात् सादृश्यस्य नित्यानन्दज्ञानादेर्न भक्तिज्ञानादिना प्रयोजनम् इत्यतो ब्रवीति—

परमात्मा और जीवात्मा का जब सादृश्य नित्य है तो उसमें नित्यानंद और ज्ञान की स्थिति भी है, उसे फिर भक्ति ज्ञान आदि से क्या प्रयोजन है। इस शंका का समाधान करते हैं—

ॐ अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॐ।३।२।११।१९॥

अम्बुवत्स्नेहेन ग्रहणं ज्ञानं, भक्तिं विना न तत्सादृश्यं सम्यग् अभिव्यज्यते। "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" इति हि श्रुतिः।

"महत्वबुद्धिर्भक्तिस्तु स्नेहपूर्वाभिधीयते।
तयैव व्यज्यते सम्यग् जीवरूपं सुखादिकम्।"

इति पाद्मे।

जैसे कि दूध से घृत निकलता है, वैसे ही जीव में निहित ज्ञान, भक्ति से प्रादुर्भूत होता है, भक्ति के बिना, परमात्मा का सादृश्य अच्छी तरह व्यक्त नहीं होता। "जिसे वह परमात्मा वरण करते हैं उसे ही प्राप्त होते हैं, वह उसमें अपने को प्रकट कर देते हैं" ऐसी श्रुति भी है। "स्नेह पूर्वक की गई महत्त्व बुद्धि को ही भक्ति कहते हैं, उसी से जीव के सुखादि रूपों की अभिव्यक्ति होती है।" इत्यादि पद्मपुराण का भी वचन है।

१२ अधिकरण

ॐ वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावाद् उभयसामञ्जस्यादेवम् ॐ ३।२।१२।२०॥

तस्यै च भक्तिज्ञानादेर्वृद्धिह्रासभाक्त्वं विद्यते। ब्रह्मादीनामुत्तमानां सर्वेषां भक्तत्वेऽन्तर्भावात्। एवं भक्त्यादिविशेषाङ्गीकारादेवेश्वरस्य ब्रह्मादीनन्यान्प्रति च सामंजस्यं भवति।

"साधनस्योत्तमत्वेन साध्यं चोत्तममाप्नुयुः।
ब्रह्मादयः क्रमेणैव यथानन्दश्रुतौ श्रुताः॥"

इति ब्राह्मे।

जीवों में भक्ति ज्ञान आदि का तारतम्य है। ब्रह्मा आदि जीव विशिष्टों में भक्ति की विशेषता देखी जाती है, भक्ति विशेष में डूबे रहने के कारण ही ब्रह्मा आदि के साथ ईश्वर का सामञ्जस्य होता है। जैसा कि ब्रह्म पुराण में स्पष्ट उल्लेख है—"उत्तम साधन से साध्य की उत्तम रूप से प्राप्त होती है, ब्रह्मा आदि को तारतम्य से आनन्द प्राप्ति हुई ऐसा श्रुतियों से ज्ञात होता है।"

ॐ दर्शनाच्च ॐ।३।२।१२।२१॥

अर्थात् आनन्दस्य मीमांसा भवति" इत्यारभ्य ब्रह्मपर्यन्तेषु सुखे विशेषदर्शनात्। चशब्दात् स्मृतिः

"यथा भक्तिविशेषोऽत्र दृश्यते पुरुषोत्तमे।
तथा मुक्तिविशेषोऽपि ज्ञानिनां लिङ्गभेदने॥ इति।

"अब आनन्द की मीमांसा की जाती है" ऐसा आरम्भ करते हुए तैत्तरीयोपनिषद में मनुष्य गन्धर्व से लेकर ब्रह्मा तक के आनंद का तारतम्य से वर्णन किया गया है। स्मृति में भी ऐसा उल्लेख है—जैसे कि पुरुषोत्तम में भक्ति विशेष देखी जाती है वैसे ही ज्ञानियों में तारतम्यानुसार ज्ञान होने से मुक्ति विशेष भी होती है।"

१३ अधिकरण

सृष्टिसंहारकर्तृत्वमेवास्य न पालकत्वं स्वतःसिद्धेः। इत्यत आह—

परमात्मा को सृष्टि संहार करनेवाला कहा गया है तो निश्चित ही वह पालक तो हो नहीं सकता। इसका उत्तर देते हैं—

ॐ प्रकृतैतावत्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॐ ।३।२।१३।२२॥

उक्तं सृष्टिसंहारकर्तृत्वमात्रं प्रतिषिध्य ततोऽधिकं ब्रवीति—"नैतावदेना परो अन्यदस्त्युक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति" इति। चशब्दात्स्मृतिश्च

"सृष्टिं च पालनं चैव संहारं नियमं तथा ।
एक एव करोतीशः सर्वस्य जगतो हरिः ॥"

इति ब्रह्माण्डे ।

परमात्मा केवल सृष्टि संहार ही नहीं करता सब कुछ करता है ऐसा श्रुति स्मृति में प्रमाण है—"यह परमात्मा इतनी ही क्षमता नहीं रखता वह आकाश पृथ्वी आदि को धारण पोषण भी करता है" सृष्टि, संहार, पालन, नियमन, आदि सब कुछ वही जगत का स्वामी हरि ही करता है। "ब्रह्माण्ड पुराण में स्पष्ट कहा गया है।

१४ अधिकरण

परमात्मापरोक्ष्यं च तत्प्रसादादेव न जीवशक्त्या इति वक्तुम्, उच्यते—

परमात्मा का प्रत्यक्ष उसी की कृपा से होता है जीव की शक्ति से नहीं ऐसा कहते हैं।

ॐ तदव्यक्तमाह हि ॐ।३।२।१४।२३॥

अव्यक्तमेव तद्ब्रह्म स्वतः ।

"अरूपमक्षरं ब्रह्म सदाऽव्यक्तं च निष्कलम् ।
यज्ज्ञत्वा मुच्यते जन्तुरानन्दश्चाक्षयो भवेत् ॥"

इति कौण्ठरव्यश्रुतिः ।

वह ब्रह्म स्वभावतः अव्यक्त ही है जैसाकि कौण्ठरव्य श्रुति का कथन है—"अरूप अक्षर ब्रह्म सदा अव्यक्त और अखण्ड है, जिसे जानकर जीव मुक्त हो जाते हैं उन्हें अक्षय आनन्द मिलता है।"

ॐ अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॐ।३।२।१४।२४॥

आराधनेऽप्यव्यक्तमेव । ज्ञानिनां प्रत्यक्षेणेतरेषामतिसूक्ष्मत्वलिंगादनुमानेन ।

"न तमाराधयित्वापि कश्चिद् व्यक्तीकरिष्यति ।
नित्याव्यक्तो यतो देवः परमात्मा सनातनः ॥"

इति ब्रह्मवैवर्ते ।

आराधना से भी वह अव्यक्त ही रहता है, ज्ञानी लोग उस अति सूक्ष्म ज्योति का अनुमान मात्र करके साक्षात् करते हैं जैसाकि ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में लिखा है—"कोई उन्हें आराधना करके भी व्यक्त नहीं कर सकता क्योंकि व नित्य अव्यक्त सनातन परमात्मा हैं।

नित्याव्यक्तरूपेण तथैव तिष्ठति, व्यक्तं किंचिद्रूपं गृहीत्वा दृश्यते यथाग्न्यादयस्तन्मात्रारूपेणादृश्या अपि स्थूलरूपेण दृश्यन्ते, एवमिति चेन्न ।

परमात्मा नित्य अव्यक्त रूप में रहता है, कुछ अंश से व्यक्त होकर दीखता है, जैसे कि अग्नि आदि तन्मात्रा रूप से अदृश्य होते हुए भी स्थूल रूप से दृष्टिगत होते हैं, उसी प्रकार वह भी हैं, ऐसा भी नहीं है।

ॐ प्रकाशवच्चावैशेष्यम् ॐ।३।२।१४।२५॥

अग्न्यादिवत् स्थूलसूक्ष्मत्वविशेषाभावात् "नासौ सूक्ष्मो न स्थूलः पर एव स भवति तस्मादाहुः परम इति" इति माण्डव्यश्रुतेः ।

"स्थूलसूक्ष्मविशेषोऽत्र न क्वचित् परमेश्वरे ।
सर्वत्रैकप्रकारोऽसौ सर्वरूपेष्वजो यतः ॥"

इति गारुडे ।

"अव्यक्तव्यक्तभावौ च न क्वचित् परमेश्वरे ।
सर्वत्राऽव्यक्तरूपोऽयं यत एव जनार्दनः ॥"

इति कौर्मे ।

परमात्मा में अग्नि आदि की तरह स्थूलता, सूक्ष्मता आदि विशेषतायें नहीं हैं, जैसा कि—माण्डव्य श्रुति, गरुड़ और कूर्म पुराण में स्पष्ट उल्लेख है—"यह सूक्ष्म या स्थूल नहीं है उनसे परे है, इसी से इसे परम कहते हैं।" परमेश्वर में स्थूलता सूक्ष्मता आदि कुछ भी नहीं है, यह सर्वत्र एक ही प्रकार से सब रूपों में स्थित हैं इसी से ये अज हैं। "परमेश्वर में अव्यक्त या व्यक्त कोई भाव नहीं है, यह हर जगह अव्यक्त रूपी ही है इसी से ये जनार्दन हैं।"

तर्हि किं यत्नेन ? इत्यत आह—

जब वे व्यक्त होते ही नहीं तो फिर प्रयास करने से लाभ ही क्या है ? इसका समाधान करते हैं—

ॐ प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॐ ३।२।१४।२६॥

विषयभूते तस्मिन्नेव श्रवणाद्यभ्यासात्प्रकाशश्च भवति । "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः, श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इति श्रुतेः।

उन्हीं को लक्ष्य करके जब श्रवण आदि का अभ्यास किया जाता है तो उनका प्रकाश प्राप्त होता है जैसी कि श्रुति भी है—"अरे! आत्मा ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है।"

नित्याव्यक्तस्य कथं प्रकाशः ? इत्यत उच्यते—

जो नित्य अव्यक्त है उसका प्रकाश कैसे संभव है ? इसका उत्तर देते हैं—

ॐ अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॐ।३।२।१४।२७॥

उभयत्र प्रमाणभावात्तत्प्रसादादेव प्रकाशो भवति, "तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" इति लिङ्गात् । युज्यते च तस्यानन्तशक्तित्वात् ।

"नित्याव्यक्तोऽपि भगवानीक्ष्यते निजशक्तितः ।
तमृते परमात्मानं कः पश्येतामितं प्रभुम् ॥"

इति नारायणाध्यात्मे ।

प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही प्रमाणों से उन्हें नहीं देखा जा सकता एकमात्र उनकी कृपा से ही उनका प्रकाश मिलता है। "उनके अभिध्यान, लगाव, तत्त्व चिन्तन के अभ्यास से अन्त में विश्व माया की निवृत्ति हो जाती है" ऐसा श्रौत सिद्धान्त है। उनका प्रकाश मिलना असंभव नहीं है, क्यों कि वे अनन्त शक्ति हैं। जैसा कि नारायणध्यात्म ग्रन्थ में स्पष्टोल्लेख है—"नित्य अव्यक्त होते हुए भी भगवान दृष्टिगत होते हैं वे अपनी निज शक्ति से ही प्रकाशित होते हैं, उनकी कृपा के बिना भला परमात्मा को कौन देख सकता है ?"

१५ अधिकरण

स्वरूपेणानन्दादिना कथमानन्दित्वादिः इति अत उच्यते —

वह स्वरूप से तो आनन्द आदि गुणों से सम्पन्न हैं आनन्दित्व आदि उनमें कैसे संभव है ? इसका उत्तर देते हैं —

ॐ उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॐ।३।२।१५।२८॥

"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" अथैष एव परम आनन्दः "इत्युभयव्यपदेशादहिकुण्डलवदेव युज्यते । यथाहिः कुंडली कुंडलं च । तुशब्दात् केवलं श्रुतिगम्यत्वं दर्शयति ।

"आनन्द स्वरूप ब्रह्म को जानकार" यही परम आनन्द है "ये दोनों ही प्रकार सर्प और सर्प के कुण्डल के समान, ब्रह्म में संभव हैं, सूत्रस्थ तुशब्द, ब्रह्म की श्रुति गम्यता बतलाता है।

ॐ प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॐ।३।२।१५।२९॥

यथा आदित्यस्य प्रकाशत्वं प्रकाशित्वं च एवं वा दृष्टान्तः । तेजोरूपत्वाद् ब्रह्मणः ।

जैसे कि सूर्य में प्रकाशत्व और प्रकाशित्व दोनों बाते हैं वैसे ही तेजोरूप परमात्मा में भी दोनों बातें हैं।

ॐ पूर्ववद् वा ॐ।३।२।१५।३०॥

यथैक एव कालः पूर्व इत्यवच्छेदकोऽवच्छेद्यश्च भवति । अति सूक्ष्मत्वापेक्षयैष दृष्टान्तः । स्थूलमतीनां च प्रदर्शनार्थमहिकुण्डलदृष्टान्तः ।

"प्रकाशवत् कालवद् वा यथाङ्गे शयनादिकम् ।
ब्रह्मणश्चैव मुक्तानां आनन्दो भिन्न एव तु ॥"

इति नारायणाध्यात्मे ।

"आनन्देन त्वभिन्नेन व्यवहारः प्रकाशवत् ।
कालवद् वा यथाकालः स्वावच्छेदकतां व्रजेत् ॥"

इति ब्राह्मे ।

जैसे कि काल एक होते हुए भी पूर्व काल का अवच्छेदक तथा पर काल से अवच्छेद्य कहलाता है, वैसे ही परमात्मा में भी उभय रूपता है, अति सूक्ष्मता की दृष्टि से काल का दृष्टान्त दिया गया है, अहिकुण्डल ब्रह्मपुराण में इसको स्पष्ट किया गया है—"प्रकाश और काल की तरह ब्रह्म और मुक्त जीवों के आनन्द में भेद है।" इन दोनों के आनन्द में प्रकाश की तरह अभिन्नता का

व्यवहार होता है, जैसे कि काल स्वयं अपना अवच्छेदक होता है वैसे ही परमात्मा का आनंदत्व भी है।"

ॐ प्रतिषेधाच्च ॐ।३।२।१६।३१॥

"एकमेवाद्वितीयम् । नेह नानास्ति किंचन" इति भेदस्य ।

'एकमेवाद्वितीयम्, नेह नानास्ति किंचन" श्रुतियों में भेद का निषेध किया गया है उससे भी परमात्मा को उभयरूपता प्रमाणित होती है।

१६ अधिकरण

ॐ परमतः सेतून्मानसंबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॐ।३।२।१६।३२॥

न चानन्दादित्वाल्लोकानन्दादिवत् । एष सेतुर्विधृतिर्य एष आनन्दः परस्यैष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्येति सेतुत्वं ह्युच्यते । "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इत्युन्मानत्वम् । "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" इति सम्बन्धः ।

"अन्यज्ज्ञानं तु जीवानामन्यज्ज्ञानं परस्य च ।
नित्यानन्दाव्ययं पूर्णं परज्ञानं विधीयते ॥"

इति भेदः । अतोऽलौकिकत्वात् परमेव ब्रह्मानन्दादिकम् ।

परमात्मा का आनंदादिका लौकिक आनन्द आदि की तरह नहीं है। "यह धारक सेतु है, यह परमात्मा का आनन्द है, यह नित्य महिमा ब्रह्म की ही है" इत्यादि श्रुति में उसका सेतुत्व बतलाया गया है। "जहां से वाणी लौट आती है" इत्यादि श्रुति में उसका उन्मानत्व बतलाया गया है। "इसी के आनन्द की मात्रा से अन्यान्यभूत उपजीवित हैं" इत्यादि श्रुति में उसका सम्बन्ध बतलाया गया है। "जीवों का दूसरा ज्ञान है, परमात्मा का ज्ञान दूसरा है, परमात्मा का ज्ञान नित्यानन्दाव्ययपूर्ण कहा गया है।" इत्यादि में भेद दिखलाया गया है। इस प्रकार की अलौकिकता होने से, ब्रह्मानन्द आदि परम ही हैं।

ॐ दर्शनात् ॐ।३।२।१६।३३॥

दर्शनादेव चान्यानन्दादीनाम् । "अदृष्टमव्यवहार्यमव्यपदेश्यं सुखं ज्ञानमोजो बलम् इति ब्रह्मणस्तस्माद् ब्रह्मेत्याचक्षते तस्माद् ब्रह्मेत्याचक्षते" इति कौण्डिन्यश्रुतिः ।

जीवादिकों के आनन्द आदि दृष्टिगत होते हैं, उससे भी परमात्मा की अलौकिकता सिद्ध होती है। कौण्डिन्य श्रुति में ब्रह्म की अलौकिकता की व्याख्या की गई है—"अदृश्य अव्यवहार्य अव्यपदेश्य सुख ज्ञान ओज बल आदि ब्रह्म के हैं इसीसे उन्हें ब्रह्म कहते हैं।"

अप्रसिद्धस्य कथमानन्द इत्यादिव्यपदेशः ? इत्यतो वक्ति—

आनन्द आदि जब परमात्मा की ही विशेषतायें हैं तो फिर जीव के लिए आनन्द आदि का व्यवदेश क्यों किया गया है ? इसका उत्तर देते हैं—

ॐ बुद्धयर्थः पादवत् ॐ।३।२।१६।३४॥

जीवेश्वरसम्बन्धज्ञापनार्थमप्रसिद्धोऽपि पादो यथा पादशब्देन व्यपदिश्यते "पादोऽस्य विश्वा भूतानि" इति तथा ।

"अलौकिकोऽपि ज्ञानादिस्तच्छब्देनैव भण्यते ।
ज्ञापनार्थाय लोकस्य यथा राजेव देवराट् ॥"

इति च पाद्मे ।

जीव और इश्वर के सम्बन्ध के ज्ञापन के लिए जैसे 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि "इत्यादि में पाद का व्यवदेश किया गया है जो कि अप्रसिद्ध बात है, वैसे ही जीव का ब्रह्म संबंध दिखलाने के लिए उसके आनन्द आदि का वर्णन किया गया है। पद्म पुराण में उसकी पुष्टि करते हैं "जैसे कि—ज्ञान आदि अलौकिक होते हुए भी उनका प्रयोग जीव के लिए किया जाता है, केवल इसलिए किया जाता है कि जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध है, जैसे कि लोक में राजा को इन्द्र के गुणों से विभूषित किया जाता है।"

परानन्दमात्रत्वे कथं ब्रह्माद्यनन्दादीनां विशेष इत्यतो उच्यते

आनन्द आदि को एक दूसरे से विशेष क्यों कहा गया गया है ? इसका समाधन करते हैं—

ॐ स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् ॐ।३।२।१७।३५॥

यथादित्यस्य दर्पणादिस्थानविशेषात् प्रतिबिम्बविशेषः, एवमानन्दादेरपि ।

"ब्रह्मादिगुणवैशेष्यादानन्दादिः परस्य च ।
प्रतिबिम्बत्वमायाति मध्योच्चादिविशेषतः ॥"

इति वाराहे ।

जैसे कि सूर्य का प्रतिबिम्ब, दर्पण आदि स्थान विशेष में विशेष दीखता वैसे ही, परमात्मा का आनन्द भी स्थान विशेष में विशेष होता है। जैसा कि वाराह पुराण में स्पष्ट उल्लेख है—"ब्रह्म आदि के गुण वैशेष्य से परमात्मा के आनन्दआदि विशेष रूप से प्रतिबिम्बित होते हैं।

ॐ उपपत्तेश्च ॐ ।३।२।१७।३६।।

"ऐश्वर्यात्परमाद् विष्णोर्भक्त्यादीनामनादितः ।
ब्रह्मादीनां सूपपन्ना ह्यानन्दादेर्विचित्रता ।।"

इति पाद्मे ।

"भक्ति आदि अनादि तत्त्व हैं किन्तु भगवान् विष्णु के ऐश्वर्य से ब्रह्मआदि देवों का भक्ति आदि गुण अनादि होने के कारण उनके आनन्द आदि की विचित्रता देखी जाती है। "ऐसी पद्म पुराण की उक्ति भी उक्त संशय का समाधान करती है।

१८ अधिकरण

ध्यानकाले यच्चित्ते प्रदृश्यते तदेव ब्रह्मरूपम्, अतः कथमव्यक्तता ? इत्यत आह—

ध्यान के समय जो कुछ भी दीखता है, वही तो ब्रह्म का रूप है फिर उसकी अव्यक्तता का क्या तात्पर्य है ? इसका उत्तर देते हैं—

ॐ तथान्यत् प्रतिषेधात् ॐ ।३।२।१८।३७।।

यथा जीवानन्दादेरन्यद् ब्रह्म तथोपासकृतादपि ।

"यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।"
पश्यन्ति परमं ब्रह्म चित्ते यत् प्रतिबिम्बितम् ।
ब्रह्मैव प्रतिबिम्बे यदतस्तेषां फलप्रदम् ।।
"तदुपासनं च भवति प्रतिमोपासनं यथा ।
दृश्यते त्वापरोक्ष्येण ज्ञानेनैव परं पदम् ।।"
उपासना त्वापरोक्ष्यं गमयेत् तत्प्रसादतः ।

इति ब्रह्मतर्के ।

जैसे कि जीव के आनन्द आदि परमात्मा की आनन्द रूपता से भिन्न हैं, वैसे ही उपासना में दृष्ट तेज पुञ्ज परमात्मा से भिन्न है। 'जो मन से मन्तव्य नहीं है, फिर भी जिसे मन से मननीय कहा गया है, उसी विलक्षण के ब्रह्म जानो जिसकी उपासना कर रहे हो वह ब्रह्म नहीं है। "चित्त में जो परब्रह्म को प्रतिबिम्बित देखते हैं वह परमात्मा का ही प्रतिबिम्ब है इसलिए उससे परमात्मदर्शन का फल मिल जाता है। "जैसे कि प्रतिमा की उपासना से उसकी उपासना हो जाती है वैसे ही प्रतिबिम्ब से भी हो जाती है, वह ज्ञान से ही प्रत्यक्ष रूप में दीखने लगता है, उपासना तो अपरोक्ष की ओर ले जाती ही भगवत् कृपा से। "इत्यादि ब्रह्मतर्क का वचन है।

१९ अधिकरण

देशकालान्तरेऽन्यतोऽपि सृष्ट्यादिर्युक्त इत्यतो ब्रूते—

भिन्न स्थान भिन्न काल में ब्रह्म छोड़कर दुसरे से भी सृष्टि होती होगी ? इसका समाधान करते हैं—

ॐ अनेन सर्वगतत्वमायामयशब्दादिभ्यः ॐ ।३।२।१९।३८।।

सर्वदेशकालवस्तुष्वनेनैव सृष्ट्यादिकं प्रवर्त्तते । "एष सर्व एष सर्वगत एष सर्वेश्वर एषोऽचिन्त्य एष परमः" इति भाल्लवेयश्रुतिः ।

"सर्वत्र सर्वमेतस्मात् सर्वदा सर्ववस्तुषु ।
स्वरूपभूतया नित्यशक्त्या मायाख्यया यतः ।।
अतो मायामयं विष्णुं प्रवदन्ति सनातनम् ।"

इति चतुर्वेदशिखायाम् । आदिशब्दादन्यत्र प्रमाणाभावाच्च ।

सर्वदेश काल में सर्व वस्तुओं का इस परमात्मा से ही सृष्टि आदि होती है जैसा कि भाल्लवेय श्रुति से स्पष्ट है—"यही सर्व, यही सर्वगत, यही सर्वेश्वर, यही अचिन्त्य और परम है।" चतुर्वेदशिखा में भी इसकी पुष्टि की गई है—"हर जगह हर समय सारी वस्तुओं में स्थित परमात्मा, अपनी स्वरूप भूत मायानामक नित्य शक्ति से इस सारे जगत का सृष्टि करते रहते हैं इसीलिए इन सनातन विष्णु को मायामय कहते।"

२० अधिकरण

कर्मापेक्षत्वात् फलदानस्य तदेव ददाति इति न वाच्यम् । कुतः-

जीव कर्म करता है अतः फल उस कर्म से ही मिल जाता है ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि—

ॐ फलमत उपपत्तेः ॐ ।३।२।२०।३९।।

अत एवेश्वरात् फलं भवति, न ह्यचेतनस्य स्वतः प्रवृत्तिर्युज्यते।
फल ईश्वर द्वारा ही प्राप्त होता है, कर्म कोई चेतन पदार्थ तो है नहीं जो फल दे सके।

ॐ श्रुतत्वाच्च ॐ ।३।२।२०।४०।।

"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिः दातुः परायणम्" इति।
यज्ञ में हवि देने वाले को फल देने वाला ब्रह्मज्ञानी को परमप्रिय, ज्ञान और आनन्द स्वरूपवाला ब्रह्म है।

ॐ धर्मं जैमिनिरत एव ॐ।२०।३।२।४१।।

यतः फलं तदेव कर्मेश्वराद् भवति "एष ह्येव साधु कर्म कारयति" इति श्रुतेरिति जैमिनिः।

जैमिनि आचार्य कहते हैं कि "यही साधु कर्म कराता है" इत्यादि श्रुति से ज्ञात होता है कि--कर्म का फल, ब्रह्म ही धर्म देता है।

ॐ पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॐ ।३।२।२०।४२।।

परस्य कर्मणश्चोभयोः फलकारणत्वेऽपि न कर्म परप्रवर्त्तकम्। पर एव कर्मणः प्रवर्त्तकः। "पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापं" इति हेतुव्यपदेशात् "द्रव्यं कर्म च कालश्च" इति च।

परमात्मा कर्म के दोनों पहलुओं पाप और पुण्य का फल प्रदान करते हैं, इस विशेषता से भी निश्चित होता है कि वे ही फल देते हैं, कोई और नहीं देता। "पुण्य से पुण्य लोक देते हैं पाप से पाप लोक देते हैं।" इस व्यपदेश से तथा "द्रव्य, काल कर्म स्वभाव" आदि श्रुति से परमात्मा का फलदातृत्व निश्चित होता है।

तृतीय अध्याय—द्वितीयपाद समाप्त

समष्टिर्महातेजाः परब्रह्म सनातनः।
जयताज्ज्ञानमो नाथो वेदवेद्यो महामतिः॥

तृतीय अध्याय तृतीय पाद

१ अधिकरण

उपासनास्मिन् पाद उच्यते। सर्वपरिज्ञानं प्रथमत उच्यते—
इस पाद में उपासना पर विचार करते हैं। सर्वप्रथम सर्व (वेद) परिज्ञान की महत्ता बतलाते हैं—

ॐ सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॐ ।३।३।१।१।।

अन्तो निर्णयः। "उभयोरपि दृष्टोऽन्तः" इति वचनात्। सर्ववेदविनिर्णयोत्पाद्यज्ञानं ब्रह्म। "आत्मेत्येत्रोपासीत्" इत्यादिविधीनां तदुक्तयुक्तीनां चाविशिष्टत्वात्।

"उभयोरपि दृष्टोऽन्तः" वचन से "अन्त" पद निर्णयार्थक ज्ञात होता है। इसलिए वेदान्त प्रतिपाद्य ब्रह्म का तात्पर्य हुआ, समस्त वेदवाक्यों के विनिर्णय से होने वाला ज्ञानविषय ब्रह्म ही है। "आत्मा की ही उपासना करनी चाहिए" इत्यादि विधियों में जो युक्तियाँ दी गई हैं वे सभी बराबर हैं।

ॐ भेदान्नेति चेदकस्यामपि ॐ ।३।३।१।२।।

"विज्ञानमानंदं ब्रह्म" सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म "इत्यादिप्रतिशाखामुक्तिभेदान्नैकाधिकारिविषयाः सर्वशाखा इति चेन्न, एकस्यामपि शाखायां "आत्मेत्येवोपासीत् कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इत्यादिभेददर्शनात्।

"ब्रह्म विज्ञान आनन्द स्वरूप है "ब्रह्म सत्यज्ञान अनन्तस्वरू है" इत्यादि विभिन्न श्रुतियों में किया गया लक्षण, एक से संबधित नहीं ज्ञात होता, समस्त शाखायें एक से सम्बद्ध नहीं ज्ञात होती, इत्यादि शंका भी अनर्गल है, एक शाखा में तो "आत्मेवोपासीत कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इत्यादि में इससे भिन्न भी उपास्य कहा गया है। पर इससे क्या होता है।

ॐ स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च ॐ ।३।३।१।३।।

"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इति सामान्यविधेः। हिशब्दाद् "वेदः कृत्स्नोऽधिगंतव्यः सरहस्यो द्विजन्मना" इति स्मृतेः।

"सर्ववेदोक्तमार्गेण कर्म कुर्वीत नित्यशः।
आनन्दो हि फलं यस्माच्छाखाभेदो ह्यशक्तिजः॥

सर्वकर्मकृतौ यस्मादशक्ताः सर्वजन्तवः ।
शाखाभेदं कर्मभेदं व्यासस्तस्मादचीक्लृपत् ॥"

इति समाचारे सर्वेषामधिकाराच्च ।

"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः "श्रुति में वेदाध्ययन की सामान्य विधि का उल्लेख है "ब्राह्मण को रहस्यों सहित सम्पूर्ण वेद का अध्ययन करना चाहिए" इत्यादि स्मृति विशेष विधि बतलाती है । "समस्तवेद में कहे गए नियमों से जो नित्य कर्म करते हैं, उनको आनन्द फल प्राप्त होता है, किन्तु वेदोक्त समस्त कर्मों को करना सभी जीवों के वश की बात नहीं इसलिए भगवान व्यास ने शाखा भेद के अनुसार कर्मभेद का निर्धारण कर दिया है जिससे सभी जीव अपनी शक्ति के अनुरूप वैदिक कर्मों का अनुष्ठान सरलता से कर सकें ।

ॐ सलिलवच्च तन्नियमः ॐ।३।३।१।४॥

यथा सर्वं सलिलं समुद्रं गच्छति, एवं सर्वाणि वचनानि ब्रह्मज्ञानार्थानि इति नियमः । आग्नेये च--

"यथा नदीनां सलिलं शक्ये सागरगं भवेत् ।
एवं वाक्यानि सर्वाणि पुंशक्त्या ब्रह्मवित्तये ॥" इति ।

जैसे कि सारे जल समुद्र में ही जाते हैं वैसे ही सारे वैदिक शब्द ब्रह्मज्ञान के ही प्रतिपादक हैं, ऐसा नियम है । अग्नि पुराण मे स्पष्ट कहा भी है--"जैसे कि नदियों का जल समुद्र में ही जाता है, वैसे ही सारे वेद वाक्य ब्रह्मज्ञान के लिए ही हैं ।"

ॐ दर्शयति च ॐ ।३।३।१।५॥

"सर्वैश्च वेदैः परमो हि देवो ।
जिज्ञास्योऽसौ नाल्पवेदैः प्रसिद्धचेत् ॥
तस्मादेनं सर्ववेदानधीत्य ।
विचार्य च ज्ञातुमिच्छेन्मुमुक्षुः ॥"

इति चतुर्वेदशिखायाम् । "सर्वान् वेदान् सेतिहासान् सपुराणान् सयुक्तिकान्, सपञ्चरात्रान् विज्ञाय विष्णुर्ज्ञेयो न चान्यथा" इति ब्रह्मतर्के ।

सारे वेदों से एकमात्र परमात्मा ही उपास्य निर्णय होते हैं, इसलिए मुमुक्षु लोग सारे वेदों का अध्ययन कर और विचार कर परमात्मा को जानने की इच्छा करते हैं । "ऐसा चतुर्वेद शिखा में स्पष्ट उल्लेख है । ब्रह्म तर्क में भी इसी का समर्थन किया गया है--"इतिहास, पुराण, पाञ्चारात्र और युक्ति सहित सारे वेदों को पढ़कर, ज्ञानी होता है एकमात्र वही विष्णु को जानता है दूसरा नहीं ऐसा निश्चित होता है ।"

२ अधिकरण

ॐ उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत् समाने च ॐ ।३।३।२।६॥

सर्ववेदोक्तान् गुणान् दोषाभावांश्चोपसंहृत्यैव परमात्मोपास्यः ।

"उपास्य एकः परतः परो यो
वेदैश्च सर्वैः सह चेतिहासैः ।
सपञ्चरात्रैः सपुराणैश्च देवः
सर्वैर्गुणैस्तत्र तत्र प्रतीतैः ॥"

इति भाल्लवेयश्रुतिः । आग्नेये च--

"विधिशेषाणि कर्माणि सर्ववेदोदितान्यपि ।
यथा कार्याणि सर्वैश्च सर्वाण्येवाविशेषतः ॥
एवं सर्वगुणान् सर्वदोषाभावांश्च यत्नतः ।
योजायित्वैव भगवानुपास्यो नान्यथा क्वचित् ॥"

इति समानविषये चोपसंहारः न तु "सोऽरोदीत्" इत्यादीनाम् ।

"गुणैरेव स तूपास्यो नैव दोषैः कथंचन ।
गुणैरपि न तूपास्यो ये पूर्णत्वविरोधिनः ॥"

इति बृहत्तंत्रे ।

समस्त वेदों में कहे गए गुण दोषों का विवेचन करने पर अन्त में यही निर्णय होता है कि वेदों में एकमात्र परमात्मा को ही उपास्य बतलाया गया है । जैसा कि भाल्लवेय श्रुति कहती भी है--"इतिहास पञ्चरात्र पुराण सहित सारे वेदों में एकमात्र परमात्मा का ही गुणानुवाद प्रतीत होता है जिससे निर्णय होता है कि परात्पर ब्रह्म ही उपास्य है । "अग्नि पुराण भी इसी का समर्थन करता है--"वेदों की सभी विधियों, कर्मों, गुण और दोषों की युक्तिपूर्ण विवेचना

करने पर यही निर्णय होता है, एकमात्र भगवान ही उपास्य हैं और कोई नहीं है। "समान विषयक श्रुतियों का ही समन्वय करना चाहिए" सोऽरोदीत् "इत्यादि का समन्वय नहीं करना चाहिए जैसा कि बृहत्तंत्र में स्पष्ट कहा है— "गुणविधायक श्रुतियों में ही उसे उपास्य कहा गया है, दोष विधायक श्रुतियों में नहीं। उन गुण विधायक श्रुतियों में भी उन्हें उपास्य नहीं कहा गया जो कि पूर्णत्व की विरोधी हैं।"

ॐ अन्यथात्वं च शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॐ।३।३।२।७।।

"आत्मेत्येवोपासीत्" इति शब्दादुपसंहारस्यान्यथात्वं इति चेन्न, एते गुणा नोपास्या इति विशेषवचनाभावात्। 'सर्वैर्गुणैरेक एवेशितासावुपासितव्यो न तु दोषैः कदाचित्" इति विशेषवचनाच्च। आत्मेत्येवेत्यवधारणमनात्मत्वनिवृत्त्यर्थम्।

"आत्मेत्येवोपासीत" इस उपसंहार वाक्य से तो परमात्मा से तो परमात्मा भिन्न उपास्य की प्रतीति हो रही है, ऐसी धारणा नहीं बनानी चाहिए क्योंकि "एते गुणा नोपास्य" ऐसा विशेष वचन उक्त उपास्य का निषेध कर रहा है। "समस्त गुणों से इस ईश को उपासना करनी चाहिए, दोषों से नहीं करनी चाहिए" ऐसा विशेष नियम निर्धारक वचन भी है। "आत्मेत्येव" पद में जो निर्धारण किया गया है वह अनात्मत्व के निवारण की दृष्टि से किया गया है।

ॐ न वा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिवत् ॐ।३।३।२।८।।

प्रकरणभेदान्नवोपसंहारः कार्यः। परोवरीयस्त्वादिषु तावदेव ह्युक्तम्।

प्रकरण के भेद से उपास्य के गुणों का उपसंहार नहीं करना चाहिए उत्कृष्टता अवकृष्टता की ज्ञापक श्रुतियों के लिए ऐसा ही कहा गया है।

ॐ संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि।३।३।२।९।।

सर्वविद्या उक्त्वा "सोऽहं नामविदेवास्मि नात्मविदः" इति वचनात् सर्वस्य ब्रह्मनामत्वात्तदुपसंहारः कार्यः।

"नामत्वात् सर्वविद्यानां गुणानामुपसंहृतिः।
कार्यैव ब्रह्मणि परे नात्र कार्या विचारणा।।"

इति ब्रह्मतर्के इति चेत्सत्यम्। उक्तो ह्युपसंहारः, तत्प्रमाणमप्यस्त्येव। "नाम वा एता ब्रह्मणः सर्वविद्यास्तस्मादेकः सर्वगुणैर्विचिन्त्यः" इति कौण्डिन्यश्रुतौ।

सनकादि मुनि से नारद ने समस्त विद्याओं का उल्लेख करके अन्त में कहा—"मैं नाम का ज्ञाता भी हूँ किन्तु आत्मवेत्ता नहीं हूँ" इससे भी यही निश्चित होता है कि—सारे नाम ब्रह्म के ही हैं, अतः समस्त ब्रह्मविद्याओं का एकत्र उपसंहार करना चाहिए। "सारे नाम ब्रह्म ही के हैं इसलिए समस्त विद्याओं में कहे गए उपास्य गुणों का ब्रह्म में ही बिना विचारे उपसंहार करना चाहिए "इत्यादि जो ब्रह्मतर्क में कहा गया है वह ठीक ही है, इस उपसंहार का कौण्डिन्य श्रुति में स्पष्ट उल्लेख भी है—"ये सारे नाम ब्रह्म के हैं, समस्त विद्याओं से एकमात्र उसी के समस्त गुणों का चिन्तन करना चाहिए।"

३ अधिकरण

ॐ प्राप्तेश्च समञ्जसम् ॐ।३।७।३।१०।।

युज्यते चोपसंहारोऽनुपसंहारश्च योग्यताविशेषात्।

"गुणैस्सर्वैरुपास्योऽसौ ब्रह्मणा परमेश्वरः।
अन्यैर्यथाक्रमं चैव मानुषैः कैश्चिदेव तु।।"

इति भविष्यत्पर्वणि।

समस्त उपास्य गुणों का एकत्र उपसंहार अनुपसंहार करना उचित ही है, परमात्मा में ऐसी विशेष योग्यता भी है। भविष्यत पर्व में स्पष्ट कहते हैं—

४ अधिकरण

ॐ सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॐ।३।३।४।११।।

सर्वगुणयुक्तत्वेनोपासनादन्यत्रैव फले ब्रह्मादयो भवन्ति।

"सम्पूर्णोपासनाद् ब्रह्मा सम्पूर्णानन्दभाग्भवेत्।
इतरे तु यथायोगं सम्यङ्नुक्तो भवन्ति हि।।"

इति पाद्मे।

समस्त गुणों से युक्त उपासना करने से ब्रह्मा आदि को अनोखा ही फल मिलता है जैसा कि पद्मपुराण का वचन है—"सम्पूर्ण उपासना करने से ब्रह्मा, सम्पूर्ण आनन्द प्राप्त करते हैं और लोग तो अपनी अर्हता के अनुरूप आनन्द पाते है।"

સમ્પ્રીતિર્મહાતેજાઃ પરબ્રહ્મ સનાતનઃ।
જયતાજ્જ્ઞાનનો નાથો વેદવેદ્યો મહામતિઃ॥

५ अधिकरण

सर्वेषां मुमूक्षूणां कियन्नियमेनोपास्यम् ? इत्यत आह -

सभी मुमुक्षुओं के लिए उपास्य का नियम क्या है ? इसका उत्तर देते हैं—

ॐ आनन्दादयः प्रधानस्य ॐ ।३।३।५।१२।।

प्रधानफलस्य मोक्षस्यार्थे आनन्दो ज्ञानं सदात्मेत्युपास्य एव ।

"सच्चिदानन्द आत्मेति ब्रह्मोपासा विनिश्चिता ।
सर्वेषां तु मुमुक्षूणां फलसाम्यादपेक्षता ॥"

इति ब्रह्मतर्के ।

प्रधान फल मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञानानंदसत् स्वरूप ब्रह्म ही उपस्य हैं। जैसा कि ब्रह्मतर्क में कहा गया है —"सच्चिदानन्द ब्रह्म की उपासना ही, समस्त मुमुक्षुओं का फलसाम्य की दृष्टि से करनी चाहिए।"

६ अधिकरण

ॐ प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॐ ।३।३।६।१३।।

फलभेदार्थमुपचयापचयोर्भावान्न सर्वेषां प्रियशिरस्त्वादिगुणोपासाप्राप्तिः ।

"नैव सर्वगुणाः सर्वैरुपास्याः मुक्तिभेदतः ।
विरिञ्चस्यैव सम्पूर्णतानन्दस्य सुपूर्णता ॥".

इति वाराहे ।

उपास्य की जहाँ हंस रूप से वर्णन किया गया है वहाँ शिर, पक्ष, पुच्छ इत्यादि की ऊँचा-नीचा भाव दिखलाया गया है जो कि उपासना के तारतम्य का द्योतक है। हरेक को प्रियशिर आदि उत्तम स्वरूप की उपासना का अधिकार नहीं है, ऐसा ज्ञान होता है। जैसा कि वाराह पुराण के वचन से भी निश्चित होता है - "सब गुणों की उपासना सबके लिए नहीं है, ऐसा मुक्ति के संबध में किए गए भेदों से ही ज्ञात होता है, ब्रह्म में ही पूर्ण मुक्ति के आनन्द की प्राप्ति देखी जाती है।"

७ अधिकरण

ॐ इतरेत्वर्थसामान्यात् ॐ ।३।३।७।१४।।

इतरे गुणाः फलसाम्यापेक्षयोपसंहर्त्तव्याः ।

उपास्य के जो सामान्य गुण हैं उनके फलसाम्य की दृष्टि से एकत्र उपसंहार करना चाहिए।

८ अधिकरण

उपसंहार और अनुपसंहार के विषय में प्रमाण देते हैं -

ॐ आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॐ ।३।३।८।१५।।

आध्यानार्थं हि, सर्वे गुणा उच्यन्ते, प्रयोजनान्तराभावात् ।

"ज्ञानार्थमथ ध्यानार्थं गुणानां समुदीरणा ।
ज्ञातव्याश्चैव ध्यातव्या गुणास्सर्वेऽप्यतो हरेः ॥
नान्यत् प्रयोजनं ज्ञानाद् ध्यानात्कर्मकृतेरपि ।
श्रवणाच्चाथ पाठाद्वा विद्याभिः किंचिदिष्यते ॥"

इति परमसंहितायाम् ।

"गुणाः सर्वेऽपि वेत्तव्या ध्यातव्याश्च न संशयः ।
नान्यत् प्रयोजनं मुख्यं गुणानां कथने भवेत् ॥
ज्ञानध्यानसमायोगाद् गुणानां सर्वशः फलम् ।
मुख्यं भवेन्न चान्येन फलं मुख्यं क्वचिद् भवेत् ॥"

इति बृहत्तन्त्रे ।

श्रुतियों में उपास्य के जितने भी गुणों का बखान किया गया है वह ज्ञानपूर्वक ध्यान करने की दृष्टि से ही है और कोई दूसरे प्रयोजन से नहीं है। जैसा कि परम संहिता और बृहत्तन्त्र के वचनों से भी निश्चित हो जाता है — "ज्ञान और ध्यान के लिए समस्त गुणों का व्याख्यान किया गया है, इसलिए हरि के समस्त गुणों को जानना चाहिए और ध्यान करना चाहिए। नाम श्रवण, नामस्तोत्र इत्यादि का पाठ करने वाले साधकों के लिए भी ज्ञान और ध्यान ही एकमात्र प्रयोजन है और दूसरा कुछ नहीं है। परमात्मा के सारे ही गुण ज्ञातव्य और ध्यातव्य हैं, इसके अतिरिक्त परमात्मा के गुणानुवाद का कोई और दूसरा प्रयोजन नहीं है। गुणानुवाद का पूर्ण फल ज्ञान ध्यान से ही मिलता है। केवल गुणानुवाद से मोक्ष नहीं मिल सकता वह तो ज्ञान और उपासना से ही मिल सकता है।"

ॐ आत्मशब्दाच्च ॐ ।३।३।८।१६।।

आत्मा शब्द से समस्त गुणों का ग्रहण हो जाता है और शब्द तो अधिकारी के अनुसार हैं। उनमें समस्त गुणों का ग्रहण नहीं होता।

ॐ दर्शयति ॐ।३।३।१३।२३॥

"सर्वान्गुणानात्मशब्दो ब्रवीति ब्रह्मादीनामितरेषां न चैव" इति भाल्लवेयश्रुतिः।

"आत्म शब्द से सारे गुणों का बोध होता है अन्य ब्रह्म आदि शब्दों में ऐसा नहीं है" ऐसी भाल्लवेय श्रुति भी है।

१४ अधिकरण

ॐ सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॐ।३।३।१४।२४॥

सम्भृतिद्युव्याप्ती अपि देवादीनामुपसंहर्त्तव्ये नान्येषाम्। अत एव योग्यताविशेषात्।

"देवादीनामुपास्यास्तु भूतिव्याप्त्यादयोः गुणाः।
आनन्दाद्यास्तु सर्वेषामन्यथानर्थकृद् भवेत्॥"

इति ब्रह्मतर्के।

सम्भृति (पोषण) धु और व्याप्ति शब्द ही देवताओं के उपास्य गुण हैं क्यों कि उनमें इसकी अर्हता है, किन्तु आनन्द आदि उनके गुण नहीं वे तो एक मात्र परमात्मा के ही हैं। जैसा कि ब्रह्मतर्क में कहा गया है—"भूतिव्याप्ति आदि ही देवताओं के उपास्य गुण हैं, आनन्द आदि गुणों को उनका मानना अनर्थ कारी होता है।"

१५ अधिकरण

यस्यां विद्यायां महागुणा उच्यन्ते सोत्तमानामितराऽन्येषामिति चेन्न।

जिस विद्या में महान् गुणों का उल्लेख है, वही विद्या उत्तम है और विद्यायें उत्तम नहीं हैं ऐसा नहीं कह सकते।

ॐ पुरुषविद्यायामपि चेतरेषामनाम्नानात् ॐ।३।३।१५।२५॥

पुरुषसूक्तोक्तविद्यायामपि केषाञ्चिद्गुणानामनाम्नानात्।

"सर्वतः पौरुषे सूक्ते गुणा विष्णोरुदीरिताः।
तत्रापि नैव सर्वेपि तस्मात्कार्योपसंहृतिः॥"

इति ब्रह्मतर्के।

पुरुष सूक्तोक्त विद्या में ही कुछ गुणों का उल्लेख नहीं है किन्तु उस विद्या के विष्णु से संबद्ध श्रेष्ठ विद्या मानने में कोई प्रतिपत्ति नहीं की जाती ब्रह्मतर्क में इसके सम्बन्ध में कहते हैं कि—"समस्त पुरुष सूक्त में विष्णु के गुणों का व्याख्यान किया गया है, उसमें भी सभी गुणों का उल्लेख नहीं है, उसमें भी अन्य गुणों की संहृति करनी चाहिए।"

१६ अधिकरण

ॐ वेधाद्यर्थभेदात् ॐ।३।३।१६।२६॥

"भिन्धि-विद्धि-श्रृणीहीति फलभेदेन सर्वशः।
यत्यादीनां तेष्वयोगान्नाधिकारैकता भवेत्॥"

अयोग्योपासनादोयुरनर्थं चार्थनाशनम् इतिबृहत्तंत्रे।

उपासना यदि अनधिकारी व्यक्ति करता है अथवा अनधिकृत ढंग से उपासना की जाती है तो नाशकारी भी हो सकती है। "जो विद्या संसार के बन्धन को काटती है, ज्ञान देती है, वही विनाशकारी भी हो जाती है, सन्यासी आदि काजिन में आधिकार नहीं है वह विपरीत फल ही देती है, अयोग्य उपासना आदि से अनर्थ और अर्थनाश होता है।" ऐसा बृहत्तंत्र में स्पष्ट उल्लेख है।

१७ अधिकरण

मुक्तस्योपासना कर्त्तव्या न वेति? अतो ब्रवीति—

जो ग्रहस्थ आदि बन्धनों से मुक्त होकर संन्यास ले चुके हैं उन्हें उपासना करनी चाहिये या नहीं? उसका उत्तर देते हैं—

ॐ हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ॐ ।३।३।१६।२७॥

नियतस्वाध्यायानन्तरं स्वेच्छया कुशाग्रहणस्तुत्युपगानवदेव मोक्ष उपासनादि। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति मोक्षवाक्यशेषत्वादितरेषाम्। तच्चोक्तम्—"एतत्सामगायन्नास्ते" इत्यादि। ब्रह्मतर्के च

"मुक्ता अपि हि कुर्वन्ति स्वेच्छयोपासनं हरेः।
नियमानन्तरं विप्राः कुशाद्यैरप्यधीयते॥" इति
"कृष्णो मुक्तैरिज्यते वीतमोहैः॥" इति च भारते।

नियत शास्त्राभ्यास करने के बाद भी जैसे स्वेच्छा से लोग कुशाग्रहण करके स्तुति उपगान आदि ब्रह्मचारियों के आचार में उपस्थित होते हैं वैसे ही संन्यास लने के बाद भी स्वेच्छा से उपासना करने का विधान है। "ब्रह्मवेत्ता परम की प्राप्ति करता है" इस अंतिम मोक्ष वाक्य से भी उपासना की आवश्यकता सिद्ध होती है। ब्रह्मतर्क में और महाभारत में स्पष्ट उल्लेख है, कि— "संन्यासी भी स्वेच्छा से हरि को उपासना करते हैं, जैसे कि अध्ययन काल समाप्त करने के बाद स्वेच्छा से कुशादि लेकर पुनः अध्ययन कार्यों में सम्मिलित होते हैं। वीतराग संन्यासी भी यज्ञ करते हैं।"

ॐ साम्पराये तर्त्तव्याभावात्तथ ह्यन्ये ॐ।३।३।१७।२८॥

स्वेच्छयेत्यङ्गीकर्त्तव्यम्, मुक्तस्य तीर्णत्वात्। "तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान्हृदयस्य भवति" इति ह्यन्ये पठन्ति। "वायुप्रोक्ते च—

"स्थितप्रज्ञत्वमाप्ताय ज्ञानेन परमात्मनः।
ब्रह्मलोकं गतास्सर्वे ब्रह्मणा च परंगताः॥
तीर्णतर्त्तव्यभागाश्च स्वेच्छयोपासते परम्॥" इति

संसार से पार होने के लिए संन्यासियों को स्वेच्छा से उपासना का आश्रय लेना भी चाहिए।" उस समय वे समस्त शोकों से रहित हृदय वाले हो जाते हैं" ऐसी श्रुति भी है। वायुपुराण में भी आता है—"स्थित प्रज्ञता की प्राप्ति के लिए ज्ञान से परमात्मा को जानने वाले वे सब ब्रह्मलोक और ब्रह्मा से मिलने के बाद भी सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने के लिए स्वेच्छा से परमात्मा की उपासना करते हैं।"

१८ अधिकरण

कर्माणि कुर्वन्ति न वा? इत्याह—

संन्यासी कर्म करते हैं या नहीं? इसका उत्तर देते हैं—

ॐ छन्दत उभयाविरोधात् ॐ।३।३।१८।२९॥

स्वेच्छया कुर्वन्ति न वा, बंधप्रत्यवाययोरभावात्।

संन्यासी स्वेच्छा से कर्म करते हैं और नहीं भी करते। उनको कर्म करने से न कोई बन्धन होता है और न करने से कोई प्रत्यवाय पाप ही होता है।

ॐ गतेरर्थवत्वमुभयथान्यथा हि विरोधः ॐ।३।३।१८।३०॥

बन्धप्रत्यवायाभावे हि मोक्षस्यार्थवत्वम्, अन्यथा मोक्षत्वमेव न स्यात्।

"कदाचित् कर्म कुर्वन्ति कदाचिन्नैव कुर्वते।
नित्यज्ञानस्वरूपत्वान्नित्यं ध्यायन्ति केशवम्॥"
"तीर्णतर्त्तव्यभागा ये प्राप्तानन्दाः परात्मनः।
प्रत्यवायस्य बन्धस्याप्यभावात्स्वेच्छया भवेत्॥"

इति ब्रह्माण्डे।

बन्धन और प्रत्यवाय न होने से ही उनके संन्यास की चरितार्थता है अन्यथा वह संन्यास है ही नहीं। ब्रह्माण्ड पुराण में स्पष्ट कहते हैं कि—"कभी कर्म करते हैं कभी नहीं करते, नित्यज्ञान स्वरूप होने से केशव का निरन्तर ध्यान करते हैं, संसार के बंधनों से मुक्त होने की इच्छावाले वे परमात्मानन्द को प्राप्त कर प्रत्यवाय और बन्धन रहित होकर स्वच्छन्द हो जाते हैं।"

ॐ उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॐ।३।३।१८।३१॥

उपपन्नश्चैवं भावः। प्राप्तत्वाल्लक्षणस्य फलस्य। यथा लोके-वध्यर्थत्वेन विष्णुक्रमणादिकं कृत्वा समाप्तकर्मेच्छया करोति न किरोति च।

संन्यास लेने के बाद भगवद् चिन्तन करने से वे कृतार्थ हो जाते हैं, फल का जो लक्षण है उसकी प्राप्ति तो उन्हें हो ही जाती है जैसे कि लोक में विधि पूर्ण करने के लिए विष्णु क्रमण आदि करने के बाद अन्तिम कृत्य स्वेच्छा से किए भी जाते हैं और नहीं भी किए जाते, वैसे ही संन्यास लेने के वाद कर्म करना न करना स्वेच्छा पर निभर है।

१९ अधिकरण

ॐ अनियमः सर्वेषामविरोधाच्छब्दानुमानाभ्याम् ॐ।३।३।१९।३२॥

प्राप्तज्ञानानामपि केषांचिन्मुक्तिप्राप्तिः केषांचिन्न। यथोपसंहारनियम इति न मंतव्यम्।

"सर्वे गुणा ब्रह्मणैव ह्युपास्या नान्यैर्देवैः किमु सर्वैः मनुष्यैः॥"

इत्युपसंहारे विरोधादन्यत्राविरोधात् । "न कश्चिद् ब्रह्मवित् सृतिमनुभवति मुक्तो ह्येव भवति तस्मादाहुः सृतिहेति" इति कौण्डिन्यश्रुतेश्च यथा केषांचिन्मोक्षमन्येषाम् इत्यनुमानाच्च ।

ऐसा नहीं मानना चाहिए कि—उपसंहार के नियम से, ज्ञानियों में किसी की मुक्ति होती है और किसी की नहीं होती । "सारे गुण उपास्य ब्रह्म के ही हैं, किसी अन्य देवताओं से सम्बन्ध नहीं हैं, मनुष्यों की तो चर्चा ही क्या है ?" इत्यादि में उपसंहार का विरोध है अन्यत्र विरोध नहीं है । "कोई भी ब्रह्मवेत्ता सृति की अनुभूति नहीं करता मुक्त ही होता है इसलिए उन्हें सृतिहा कहा गया है । "ऐसी स्पष्ट कौण्डिन्य श्रुति है । जैसे कि किसी व्यक्ति के मोक्ष से अन्यों के मोक्ष का भी अनुमान कर लिया जाता है, वैसे ही ज्ञानियों के मोक्ष की बात भी है ।

२० अधिकरण

ॐ यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॐ।३।३।१९।३३।।

यथायथाधिकारो विशिष्यते एवं मुक्तावानन्दो विशिष्यते "मनुष्येभ्यो गन्धर्वाणां, गन्धर्वेभ्य ऋषीणामृषिभ्यो देवानां देवेभ्य इन्द्रस्य इन्द्राद्रुद्रस्य रुद्राद् ब्रह्मण एष ह्येव शतानन्दः" इति चतुर्वेदशिखायाम् अध्यात्मे च ।

"ज्ञानं चोपासनं चैव मुक्तावानन्द एव च ।
यथाधिकारं देवानां भवत्येवोत्तरोत्तरमिति ।।"

जैसे अधिकार की विशेषता है वैसे ही तारतम्यानुसार मुक्ति में आनन्द की भी विशेषता है जैसा कि चतुर्वेद शिखा में स्पष्टोल्लेख है—"मनुष्यों से गन्धर्वों के गन्धर्वों से ऋषियों के, ऋषियों से देवताओं के, देवताओं से इन्द्र के इन्द्र से रुद्र के रुद्र से ब्रह्मा के आनन्द में क्रमशः शतगुण वैशिष्ट्य है ।" अध्यात्म रामायण में भी उसी का समर्थन करते हैं—"ज्ञान, उपासना और मुक्ति के आनन्द में यथाधिकार उत्तरोत्तर वैशिष्ट्य होता है ।"

ॐ अक्षरधियान्त्वविरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ॐ ।३।३।२०।३४।।

न चासमत्वेन विरोधो भवति । ब्रह्मधीत्वाद् दोषाभावसाम्यादुत्तमेभ्योऽन्येषां भावाच्च । औपसदवच्छिष्यवत् । उक्तं चतुरश्रुतौ-

नानाविधा जीवसङ्घा विमुक्तौ न चैवं तेषां ब्रह्मधियां विरोधः, दोषाभावाद् गुरुशिष्यादिभावाल्लोकेऽपि नासौ किमु तेषां विमुक्तेः इति ।

उक्त तारतम्य असमानता की दृष्टि से नहीं है, मनुष्य आदि सभी में ब्रह्म बुद्धि दोषा भाव तथा निकृष्टता आदि का अभाव समान रूप से रहता है । यह तारतम्य तो गुरुशिष्य की तरह है जैसा कि तुर श्रुति में कहा भी गया है—"विमुक्त जीवों के अनेक सत्र हैं, उनको ब्रह्म बुद्धि में कोई तारतम्य नहीं है, दोष रहित उन सब में गुरुशिष्य का सा तारतम्य है उनको विमुक्ति में कोई संशय नहीं है ।"

२१ अधिकरण

ॐ इयदामननात् ॐ ।३।३।२१।३५।।

नामाद्यारभ्य प्राणान्तमुत्तरोत्तरमुत्तमत्वमुक्तम्, न प्राणात् किंचिद् भूय उक्ताम् । तथापि पूर्ववत् स्यादिति न वाच्यम् । प्राणो वाव सर्वेभ्यो भूयान्न हि प्राणाद् भूयान्प्राणो ह्येव भूयांस्तस्माद् भूयान्नामेति" कौण्ठरव्यश्रुतेः ।

श्रुति में नाम से लेकर प्राण तक उत्तरोत्तर उत्तमता बतलाई गई हैं, प्राण से अधिक किसी को नहीं बतलाया गया है, उस प्रसंग में भी पूर्व आनन्दाधिक्य श्रुति की सी व्यवस्था है, ऐसा नहीं कह सकते । "प्राण सबसे श्रेष्ठ है, प्राण से श्रेष्ठ कोई नहीं है, प्राण ही श्रेष्ठ है किन्तु उससे भी श्रेष्ठ नाम है ।" ऐसा कौण्ठरव्य श्रुति में कहा गया है ।

अन्तराभूतग्रामवदिति चेत्तदुक्तम् ॐ ।३।३।२१।३६।।

यथा भूतग्राम एकस्मादेक उत्तमोऽस्त्येव, एवं प्राणादपि परमात्मानमन्तरा विद्यत इति चेन्न । प्राणादुत्तमाभावे प्रमाणमुक्तम् । अन्यत्रोत्तमाभावे न प्रमाणम् । दृश्यते चान्यत्रोत्तमत्वम् ।

जैसे कि—पृथ्वी आदि भूतों में एक से एक उत्तम हैं वैसे ही प्राण से भी परमात्मा श्रेष्ठ है, ऐसा भी नहीं है । प्राण से उत्तम वस्तु के अभाव का तो प्रमाण श्रुति में दिया गया है जबकि भूतादि के प्रसंग में उत्तम के अभाव का प्रमाण नहीं दिया गया है, वहाँ तो उत्तमता बतलाई गई है ।

ॐ अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत् ॐ ।३।३।२१।३७॥

प्राणस्य सर्वोत्तमत्वे परमात्मना भेदानुपपत्तिरिति चेन्न, श्रुत्युपदिष्टवदुपपत्तेः अन्येभ्यः प्राणस्योत्तमत्त्वं तस्मात् परमात्मनो ह्युपदिष्टम् नेति चेन्न ।

प्राण को सर्वोत्तम मानने से, परमात्मा से उसकी भिन्नता नहीं रहजाती, ऐसा कथन भी असंगत है—उसकी भिन्नता तो श्रुति में ही उपदिष्ट है। अन्यों से प्राण को उत्तमता है। उससे श्रेष्ठ परमात्मा का उपदेश नहीं है ऐसा भी नहीं कहसकते।

२२ अधिकरण

ॐ व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ॐ ।३।३।२२।३८॥

उक्तं प्राणात्परमात्मन उत्तमत्वं पूर्वोक्ताध्याहारेण । "एष तु वा अतिवदति" इति विशिषन्ति । यथेतरेषु विशेषणम् ।

"उत्तमत्व हि देवानां 'मुक्तावपि हि मानवात् ।
तेभ्यः प्राणस्य तस्माच्चे नित्यमुक्तस्य वै हरेः ॥"

इति बृहत्तंत्रे ।

प्राण से परमात्मा को उत्तमता तो "एषतु वा अतिवदति" इस पूर्वोक्ति अध्याहार से ही निश्चित हो जाती है। अतिवदति पद से विशेषता बतलाई गई है। जैसे कि औरों में विशेषता का भाव है वैसे ही इस अध्याहार में भो है। बृहत्तंत्र में स्पष्ट कहा गया है—"मुक्त मानव से अधिक देवताओं की उत्तमता है, उनसे प्राण की उत्तमता है, उससे अधिक उत्तमता नित्यमुक्त हरि की है।"

२३ अधिकरण

"कृतिर्निष्ठा विज्ञानम्" इत्यादीनां भेदाद् बहव उत्तमा इति चेन्न ।

"कृतिर्निष्ठा विज्ञानम्" इत्यादि में सबको अलग-अलग उत्तम कहा गया हो सो बात भी नहीं है।

ॐ सैव हि सत्यादयः ॐ ।३।३।२३।३९॥

सत्यादिगुणास्तस्या एव परदेवतायाः स्वरूपभूताः । ब्रह्मतर्के च ।

"नामादिप्राणपर्यन्ताद्यो हि सत्यादिरूपवान् ।
तस्मै नमो भगवते विष्णवे सर्वजिष्णवे ॥" इति ।"
"सत्याद्या अहमात्मान्ता यद्गुणास्समुदीरिताः ।
तस्मै नमो भगवते यस्मादेव विमुच्यते ॥"

इति चाध्यात्मे ।

सत्य आदि समस्त गुण परमात्मा के ही स्वरूपभूतगुण हैं। जैसा कि—ब्रह्मतर्क में कहा गया है—"नाम से लेकर प्राणपर्यन्त सब सत्यादिरूपवान् उन भगवान् विष्णु के हो हैं उन सर्वजिष्णु को प्रणाम है।" अध्यात्म रामायण में भी उसी की पुष्टि की गई है—"सत्य से लेकर अहमात्मा पर्यन्त जिन गुणों का गान किया गया है उन भगवान् को प्रणाम है, उन्हीं की कृपा से मुक्ति होती है।"

२४ अधिकरण

प्रकृतेरपि जन्मादेः संसारप्राप्तेः किमिति नामादिष्वपाठ इत्यत्रोच्यते—

प्रकृति से भी तो जन्मादि होते हैं, संसार की उत्पादि का वह भी तो है फिर उसके नाम आदि का उल्लेख शास्त्रों में क्यों नहीं है? इसका उत्तर देते हैं—

ॐ कामादितरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॐ ।३।३।२४।४०॥

"स्वेच्छयैव मूलस्थाने स्थिताऽन्यत्रावतारान्करोतीश्वरेच्छानुसारेण सर्वायतना सर्वकाला सर्वेच्छा सर्वज्ञा नाऽबद्धा बन्धिका सैषा प्रकृतिरविकृतिः" इति वत्सश्रुतेः ।

"नामादयस्तु बद्धत्वान्मोचकत्वात्परोऽपि च ।
उभयोरप्यभावेन यथाऽव्यक्तं न तूदितम् ।
श्रुतौ तथा जीवपरावुच्येते किंच नेतरत् ॥
नोच्यते च तदा तत्त्वद्वयं वै समुदाहृतम्" इति ब्रह्मतर्के ।

"स्वेच्छा से ही मूल स्थान पर स्थिति वह ईश्वर की इच्छानुसार सर्वत्र अवतारों को धारण करती है वह सर्वायतना, सर्वकाला, सर्वेच्छा, सर्वज्ञाना, उन्मुक्त होते हुए भी सबको बन्धना में डालने वाली प्रकृति विकृति

रूप है।" ऐसा वत्सश्रुति का शक्ति संबन्धी उल्लेख है। ब्रह्मतर्क में भी वैसा ही वचन है—"न यह नाम रूप आदि में बँधती है और न परमात्मा से मुक्त ही होती है, यह अव्यक्त है इसलिए इसको उल्लेख नहीं किया गया, ये दोनों बातें तो श्रुति में जीव के लिए ही कही गई हैं अन्य के लिए नहीं इसलिए उनका उल्लेख इसके लिए नहीं किया गया। केवल जीव और परमात्मा शास्त्रों में इन दोही तत्त्वों का उल्लेख किया गया है।

ॐ आदरादलोपः ॐ।३।३।२४।४१॥

अबद्धत्वेऽपि भक्तिविशेषादेवोपासनाद्यलोपस्या भवति।

"यथा श्रीनित्यमुक्तापि प्राप्तकामापि सर्वथा।
उपास्ते नित्यशो विष्णुमेवं भक्तो हरेर्भवेत॥"

इति ब्रह्मतन्त्रे।

"स्वच्छन्द होते हुए भी इसमें भगवान् के प्रति विशेष भक्ति है इसलिए इसमें उपासना आदि की स्थिति है जैसा कि बृहत्तन्त्र में स्पष्ट है" श्री (लक्ष्मी) नित्यमुक्ता, आप्त कामा होते हुए भी भक्त की तरह भगवान् विष्णु की नित्य उपासना करती है।"

ॐ उपस्थितेस्वद्वचनात् ॐ।३।३।२४।४२॥

अनादिकाले भगवत्संबंधित्वात् युक्तं च नित्यमुक्तत्वम् तस्याः "द्वावेतावनादिनित्यावनादियुक्तौ नित्यमुक्तावनादिकृतौ नित्यकृतौ योऽयं परमो या च प्रकृती रमते ह्यस्यां परमो रमते ह्यस्मिन् प्रकृतिः स्वस्मिन् हि रमते परमो न स्वस्मिन् प्रकृतिरत एनमाहुः परम इति" इति गौपवनश्रुतिवचनात्।

प्रकृति का अनादिकाल से भगवत्संबंध है इसलिए इसकी नित्यमुक्तता स्वाभाविक ही है। गौपवन श्रुति से प्रकृत ब्रह्म संबन्ध का सही परिज्ञान होता है—"ये दोनों अनादिनित्य, अनादियुक्त, नित्यमुक्त, अनादिकृत और नित्यकृत हैं, जो यह परम और प्रकृति हैं परस्पर पूरक हैं इस प्रकृति में परमात्मा रमण करता है परमात्मा में प्रकृति रमण करती है परमात्मा स्वयं में भी रमण करता है, प्रकृति स्वयं में रमण नहीं करपाती, इसी विशेषता से इसे परम कहते हैं।"

२५ अधिकरण

दर्शनार्थं ह्युपासनं, तच्च श्रवणादेरेव भवति, अतः किमर्थम्? इत्यत्रोच्यते—

उपासना दर्शन के लिए होती है, जो कि श्रवण आदि रूपों से होती है, इसका क्या तात्पर्य है सो बतलाते हैं—

ॐ तन्निर्धारणार्थनियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम् ॐ ।३।३।२५।४३॥

तत्त्वनिश्चयो वेदार्थनियमश्च ब्रह्मदृष्टेः पृथगेव। हिशब्देन "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इति श्रुतिं सूचयति। श्रवणादिफलं चाज्ञानविपर्ययादिदर्शनप्रतिबन्धनिवृत्तिः। ब्रह्मतर्के च।

"श्रुत्वा मत्वा तथा ध्यात्वा तदज्ञानविपर्ययौ।
संशयं च पराणुद्य लभते ब्रह्मदर्शनम्॥" इति

ब्रह्म दृष्टि से किए गए वेदार्थ से, तत्त्व निश्चय और नियम में भिन्नता दृष्टिगत होती है। "अरे! आत्मा को देखना चाहिए मनन करना चाहिए अभ्यास करना चाहिए" इत्यादि श्रुति, श्रवणादि का फल तथा अज्ञान और विपरीत दृष्टि आदि प्रतिबन्धों की निवृत्ति को सूचित करती है। ब्रह्मतर्क में भी वही बात कही गई है—"श्रवण, मनन तथा ध्यान द्वारा अज्ञान, विपरीत दृष्टि और संशय को निवृत्ति करके ब्रह्मसाक्षात्कार करते हैं।"

२६ अधिकरण

ॐ प्रदानवदेवेहि तदुक्तम् ॐ।३।३।२६।४४॥

न च श्रवणादिमात्रेण ब्रह्मदृष्टिर्भवति, किन्तु सेतिकर्त्तव्येन, यथा गुरुदत्तं तथैव भवति "आचार्यवान् पुरुषो वेद" इति हि उक्तम्।

केवल श्रवण आदि मात्र से ब्रह्म साक्षात्कार नहीं होता उसके लिए कुछ कर्त्तव्य भी अपेक्षित है, गुरु के द्वारा जैसी आराधना प्रणाली प्राप्त होती है तदनुसार फलावाप्ति होती है "आचार्यवान् पुरुष जानता है" श्रुति गुरु शरणागति की ओर इंगन कर रही है, बिना गुरु किए केवल श्रवणादि साक्षात्कार नहीं करा सकते।

२७ अधिकरण

गुरुप्रसादः स्वप्रयत्नो वा बलवान् इति ? निगद्यते—

गुरु कृपा श्रेष्ठ है अथवा साधक का प्रयत्न श्रेष्ठ है ? इसका उत्तर देते हैं—

ॐ लिङ्गभूयस्त्वात्तद् हि बलीयस्तदपि ॐ।३।३।२६।४५।।

ऋषभादिभ्यो विद्यां ज्ञात्वापि सत्यकामेन "भगवांस्त्वेव मे कामो ब्रूयात्, श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यः, आचार्याद् ध्येव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति" इतिवचनात् "अत्र ह न किञ्चन वीयाय" इत्यनुज्ञानादुपकोशलवचनाच्च लिङ्गभूयस्त्वाद् गुरुप्रसाद एव बलवान्। तर्हि तावतालमिति न मन्तव्यम्। श्रोतव्यो मन्तव्य इत्यादेस्तदपि कर्त्तव्यम्। वाराहे च।

"गुरुप्रसादो बलवान्न तस्माद् बलवत्तरम्।
तथापि श्रवणादिश्च कर्त्तव्यो मोक्षसिद्धये ।।" इति

ऋषभ आदि से विद्या का ज्ञान प्राप्त करलेने पर भी सत्यकाम आचार्य-कुल में पहुँचा और प्रश्नोत्तरों के बाद सत्यकाम ने आचार्य से कहा—"पूज्य-पाद अब आप ही मेरी इच्छानुसार विद्या का उपदेश करें। मैंने श्रीमान् जैसे ऋषियों से सुना है कि आचार्य से जानी गई विद्या ही अतिशय साधुता को प्राप्त होती है" इस प्रकार सत्यकाम के कहने पर आचार्य ने मंत्रोपदेश दिया, "उससे कुछ भी न्यून नहीं हुआ "इत्यादि वर्णन से गुरु कृपा की ही बलवत्ता निश्चित होती है। किन्तु इतने मात्र से संतोष नहीं करना चाहिए, श्रवण मनन आदि नियमों का भी पालन करना चाहिए जैसा कि बाराह पुराण का मत भी है—"गुरु कृपा ही बलवान् है, उससे अधिक कुछ और नहीं है, फिर भी मोक्षसिद्धि के लिए, श्रवण आदि नियमों का पालन करना चाहिए।"

२८ अधिकरण

ॐ पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात् क्रियामानसवत् ॐ।३।३।२८।४६।।

न च पूर्वप्राप्त एव गुरुरिति नियमः। समग्रानुग्रहं चेत् पश्चात्तनः करोति स्वयमेव तदा विकल्पः स्यात्। मानसक्रियावत्। यथोभयोर्ध्यानयोः समयोः।

"पूर्वस्मादुत्तमो लब्धः स्वयमेव गुरुर्यदि।
गृह्णीयादविचारेण विकल्पः समयोर्भवेत् ।।
समग्रानुग्रहाभावात् सत्यकामः स्वकं गुरुम्।
ऋषभाद्यनुज्ञया चैव प्राप तस्माद् हि युज्यते ।।"

इति बृहत्तंत्रे।

"समग्रहानुग्रहं कश्चित् स्वयमेव समो यदि।
कुर्यात्पुनश्च गृह्णीयादविरोधेन कामतः ।।
ध्यानयोः समयोर्यद्वद् विकल्पः कामतो भवेत्।
एवं गुरोर्द्वितीयस्य विकल्पो ग्रहणेऽपि च ।।"

इति बृहत्संहितायाम्।

पूर्व प्राप्त ही गुरु हों ऐसा कोई नियम नहीं है, बाद में मिलने वाले गुरु को यदि पूर्ण कृपा मिल जाय तो उनका ही स्वाभाविक महत्त्व है। जैसा कि मानस क्रिया में होता है कि दो विकल्पों पर विचार करते समय जिसका सही सुसंगत अर्थ प्रतीत होता है उसे ही महत्त्व दिया जाता है, वैसे ही गुरु के चयन का भी नियम है। जैसा कि बृहत्तन्त्र में स्पष्ट उल्लेख है—"यदि पहिले उत्तम गुरु स्वयं ही प्राप्त हो जावे तो उन्हें ही बिना विकल्प के स्वीकार लेना चाहिए जैसे कि सत्यकाम जाबाल ने पूर्व ऋषभ आदि गुरुओं की अनुज्ञा से, पूर्णकृपा प्राप्त करने की इच्छा से अपने योग्य गुरु का चयन किया था, वैसा करना ही उचित है। "बृहत्संहिता में भी ऐसा ही उल्लेख है" यदि किसी योग्यतम गुरु की पूर्ण कृपा स्वतः प्राप्त हो जाय तो इच्छानुसार बिना किसी संकल्प-विकल्प के उन्हें पुनः गुरु कर लेना चाहिए। जैसे कि विचार करते समय दो विकल्पों में से सही सुसंगत अर्थ को इच्छानुसार मान लिया जाता है। वैसे ही पूर्व और बाद में मिलनेवाले गुरु में से यदि बादवाले गुरु सद्गुण सम्पन्न हैं तो उन दूसरे गुरु को ही ग्रहण करना चाहिए।"

ॐ अतिदेशाच्च ॐ।३।३।२८।४७।।

"ब्रह्मोपास्व ब्रह्मोपचरस्व तच्छृणु हि तत्त्वामवतु, यथा ब्रह्मोपचेरेर्यथा मामुपचरेर्येचान्येऽस्मद्विधाः श्रेयसश्च तानुपास्व तानुपचरस्व, तेभ्यः श्रुणुहि ते त्वामवन्तु" इति पौष्यायणश्रुतावतिदेशाच्च।

"ब्रह्म की उपासना करो, ब्रह्म की परिचर्या करो, उनके गुणों का श्रवण करो और तत्त्वज्ञान करो, जैसे ब्रह्म की परिचर्या करो वैसे ही मेरी भी परिचर्या करके, हमारे ऐसे अन्य जो श्रेष्ठ हैं, उनकी भी उपासना और परिचर्या करके उनसे भगवत्त्व को श्रवण करो वे तुम्हें ब्रह्म तत्व बतलावेंगे" इत्यादि पौष्यायण श्रुति के अतिदेश भी उक्त कथन की पुष्टि होती है।

२९ अधिकरण

न च

"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।"

इत्यादिनान्यन्मोक्षसाधनम्।

"जनक आदि ने कर्म से ही संसिद्धि प्राप्त की" इस वाक्यानुसार ऐसा नहीं मानलेना चाहिए कि कर्म आदि अन्य साधन भी मोक्षप्रद हैं।

ॐ विद्यैव तु निर्धारणात् ॐ।३।३।२९।४८॥

"तमेवं विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्थाः विद्यते अयनाय" इति निर्धारणात् विद्ययैव मोक्षः।

"उसे इस प्रकार जानकर ही मृत्यु का अतिक्रमण करता है उसको जानने का इसके अतिरिक्त कोई और साधन नहीं है" इत्यादि श्रुति में किए गए निर्धारण से निश्चित होता है कि-विद्या से ही मोक्ष होता है।

ॐ दर्शनाच्च ॐ।३।३।२९।४९॥

न केवलं विद्यया किन्त्वपरोक्षज्ञानेन च। "सर्वान्परो मायया यं सिनीते दृष्ट्वैव तं मुच्यते नापरेण" इति कौशिकश्रुतेः।

केवल विद्या से ही मुक्ति नहीं होती अपितु अपरोक्ष ज्ञान भी आवश्यक है। "जो अपनी माया से सारे जगत को जकड़ता है उस परमात्मा का साक्षात्कार हो जाने पर ही जीव मुक्त होता है, मुक्त होने का कोई और साधन नहीं है।" ऐसा कौशिक श्रुति से निश्चित होता है।

३० अधिकरण

ॐ श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः।३।३।३०।५०॥

सावधारणा बलवती श्रुतिः। 'इन्द्रोऽश्वमेधांश्छतमिष्ट्वापि राजा ब्रह्मणमीड्यं समुवाचोपसन्नः, न कर्मभिर्न धनैर्नैव चान्यैः पश्ये

सुखं तेन तत्त्वं ब्रवीहि" इति बलवल्लिङ्गम्। नास्त्यकृतः कृतेनेत्युपपत्तिश्च।

"कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः॥"

इति युक्तिमद् भगवद्वचनम्। अतो न प्रमाणान्तरबाधः कर्मणैवेत्ययोगव्यवच्छेदः।

निर्धारण करने वाली श्रुति बलवती होती है—जैसा कि "सौ अश्वमेधयज्ञ करके भी इन्द्र ब्रह्म की प्राप्ति नहीं कर पाता, ऐसा सोचकर राजा प्रशंसनीय ब्रह्म तत्त्व को जानने की इच्छा से गुरु के पास जाकर बोला कि—कर्म, धन या किसी अन्य साधन से सुख नहीं मिलता अतः आप मुझे तत्त्व का उपदेश दें।" इस निर्धारक श्रुति में बड़े जोर के साथ विद्या पर बल दिया गया है। "जीव कर्म से बन्धता और विद्या से विमुक्त होता है, इसलिए यति लोग कर्म नहीं करते।" ऐसा युक्तिपूर्ण निर्धारण भगवान के वचन में ही किया गया है इसलिए किसी भी प्रमाण से यह बात सिद्ध नहीं हो सकती कि कर्म से ही मुक्ति होती है।

३१ अधिकरण

ॐ अनुबन्धादिभ्यः ॐ।३।३।३१।५१॥

न केवलं श्रवणादिभिर्गुरुप्रसादेन च ब्रह्मदर्शनम्। किन्तु भक्त्यादिभिश्च।

"सर्वलक्षणसंपन्नः सर्वज्ञो विष्णुतत्परः।
यद्गुरुः सुप्रसन्नः सन्दद्यात्तन्नान्यथा भवेत्॥
तथाप्यनादिसंसिद्धभक्त्यादिगुणपूगतः।
लभेद् गुरुप्रसादं च तस्मादेव च तद् भवेत्॥" इति।
भक्तिर्विष्णौ गुरौ चैव गुरोर्नित्यप्रसन्नताम्।
दद्याच्छमदमादींश्च तेन चेते गुणाः पुनः॥
तैस्सर्वैर्दर्शनं विष्णोः श्रवणादिकृतं भवेत्।"

इति च नारायणतन्त्रे।

केवल श्रवण आदि विधियों से या गुरु कृपा से ही ब्रह्म साक्षात्कार नहीं हो जाता भक्ति आदि भी अपेक्षित हैं जैसा कि नारायण तंत्र के वचन से निश्चित होता है--"सर्व लक्षण सम्पन्न सर्वज्ञ विष्णु तत्पर गुरु आदि प्रसन्न हो जावें और कुछ भी शिष्य को दे दें तो वह अन्यथा नहीं हो सकता, किन्तु गुरुकृपा भी अनादि संसिद्ध भक्तााथादि गुणों से ही प्राप्त होती है, उसी से भगवत्प्राप्ति भी संभव है।" विष्णु और गुरु में भक्ति होने पर ही गुरु नित्य प्रसन्न होते हैं और फिर शमदम आदि गुण प्रदान करते हैं तब कहीं श्रवण आदि साधनों से भगवत साक्षातकार हो पाता है।"

३३ अधिकरण

ॐ प्रज्ञान्तरपृथक्त्वश्च तदुक्तम् ।३।३।२२।५२॥

उपासनाभेदवत्तद्दर्शनभेदः, तच्चोक्तं कमठश्रुतौ–"अन्तर्दृष्ट्यो बहिर्दृष्ट्योऽवतारदृष्टयः सर्वदृष्टयः" इति । "देवा वाव सर्वदृष्टयः तेषु चोत्तरोत्तरमाब्रह्मणोऽन्येषु यथा योगं यथा ह्याचार्या आचक्षते।" इति । अध्यात्मे च—

"दृष्ट्यैव ह्यवताराणां मुच्यन्ते केचिदञ्जसा ।
दर्शनं नान्तरेणान्ये देवाः सर्वत्र दर्शनात् ॥
तेषां विशेषमाचार्यो वेत्ति सर्वज्ञतां गतः ।" इति ।

उपासना के भेदानुसार प्रभुदर्शन भी विभिन्न प्रकार से होता है जैसा कि कमठ श्रुति में उल्लेख है, "अन्तर्दृष्टि बहिर्दृष्टि अवतार दृष्टि और सर्वदृष्टि।" "देवता सर्वदृष्टि प्राप्त है उक्त चारों प्रकार की दृष्टियों में उत्तरोत्तर अब्रह्मण्य दृष्टि हैं, आचार्य लोग साधक की अर्हता के अनुसार ही साधना बतलाते हैं।" अध्यात्म रामायण में भी जैसे--"कुछ लोग अवतार दृष्टि से ही शीघ्र मुक्त हो जाते हैं, कुछ लोग अन्तरदृष्टि से और कुछ लोग सर्वदृष्टि से मुक्त होते हैं।" "उन सभी से श्रेष्ठ सर्वज्ञता को प्राप्त आचार्य होते हैं।"

३४ अधिकरण

"भक्तिरेवैनं नयति भक्तिरेवैनं दर्शयति, भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसी" इति माठरश्रुतेर्न परमात्मनो दर्शनम् इति चेन्न "तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्म धाम" इति श्रुतेः । कथं तर्ह्येषा श्रुतिः ?

"भक्ति से ही ऐसी प्राप्ति होती है, भक्ति से ही ऐसा दर्शन होता है, वह महापुरुष भक्तिवश है अतः भक्ति ही श्रेष्ठ है।" इस माठर श्रुति से परमात्मा के साक्षात्कार का कोई महत्व समझ में नहीं आता, ऐसा नहीं सोचना चाहिए" यह आत्मा ब्रह्मतेज में प्रविष्ट होता है "इत्यादि श्रुति में स्पष्टतः साक्षात्कार की पुष्टि होती है। फिर उक्त श्रुति का क्या तात्पर्य है सो बतलाते हैं।

ॐ परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ।३।३।२४।५४॥

"परमात्मैव भक्त्या दर्शनं प्राप्य मुक्तिं ददाति" इतिप्रधानसाधनत्वाद् भक्तिः करणत्वेनोच्यते । मायावैभवे च—

"भक्तिस्थः परमो विष्णुस्तयैवैनं वशं नयेत् ।
तयैव दर्शनं यातः प्रदद्यान्मुक्तिमेतया ।
स्नेहानुबन्धो यस्तस्मिन् बहुमानपुरस्सरः ॥
भक्तिरित्युच्यते सैव करणं परमीशितुः ।"

इति । सर्वशब्दानां ब्रह्मणि प्रवृत्तेश्च ।

"परमात्मा ही भक्ति से दर्शन कराकर मुक्ति देते हैं" इत्यादि में प्रधान साधन के रूप से भक्ति का करणत्व बतलाया गया है। जैसा कि माया वैभव ग्रन्थ में भी उल्लेख है--"भक्ति में लगे हुए जीव को, भगवान विष्णु भक्ति साधन से ही वशंगत करते हैं, जिससे उसे दर्शन होता है, उसी से उसे मुक्ति भी देते हैं।" अति आदर पूर्वक परमात्मा में किए गए स्नेह को ही भक्ति कहते हैं, वही परमात्मा की प्राप्ति का साधन है।" सारेशब्द ब्रह्म में ही प्रवृत्त होते हैं इससे भी उक्त भक्ति का महत्व निश्चित होता है।

३५ अधिकरण

जीवांशानां पृथगुत्पत्तेर्नानादियोग्यतापेक्षेति न मन्तव्यं कुतः-

ॐ एक आत्मनः शरीरे भावात् ।३।३।३५।५५॥

अंशांशिनोरेकत्वमेव । अंशिकर्मविनिर्मिते शरीर एवांशस्य भावात् ।

अंश और अंशी की एकता है। अंशी द्वारा कर्मानुसार बनाए गए शरीर में अंश का जन्म होता है।

ॐ व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॐ ।३।३।३५।५६।।

ज्ञानादिभेदे विद्यमानेऽपि नांशांशिनोः पृथग्भाव एव । तदुपासनादिभोगादंशस्य । परमसंहितायां च—

"अंशिनस्तु पृथग्जाता अंशास्तस्यैव कर्मणा ।
पुनरैक्यं प्रपद्यन्ते नात्र कार्या विचारणा ।।" इति ।

ज्ञान आदि में भेद होते हुए भी अंश और अंशी में भिन्नता नहीं है। अंशी उपासना करने से अंश की उससे अभिन्नता हो जाती है। जैसा कि परम संहिता में स्पष्ट उल्लेख है—"अंश अपने कर्म के बंधनवश अंशी से भिन्न हो जाता है शरणागत होकर पुनः ऐक्य भी प्राप्त कर लेता है इसमें संदेह नहीं है।"

३६ अधिकरण

ॐ अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ।३।३।३६।५७।।

ब्रह्माद्यंगदेवतावबद्धोपासनादि प्रतिशाखं प्रतिवेदं च नोपसंह्रियते । हिशब्दात् समत्वाद् वोत्तमत्वाद् वा नाङ्गदेवाद्युपासनम् । उपसंहार्यमित्याहुर्वेदसिद्धान्तवेदिनः । इतिब्रह्मतर्कवचनात् ।

ब्रह्म आदि अंग देवताओं से संबद्ध उपासना आदि का वेद की विभिन्न शाखाओं में उल्लेख है, उनका ब्रह्म की उपासना में उपसंहार नहीं हो सकता।" अंग देवताओं की उपासना ब्रह्म उपासना की न तो समता प्राप्त कर सकती है न उत्तम ही हो सकती है अतः वेद सिद्धान्त के ज्ञाता उन्हें ब्रह्म विद्या में उपसंहार्य नहीं मानते।" ऐसा ब्रह्मतर्क के वचन से निश्चित होता है।

ॐ मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॐ ।३।३।३६।५८।।

सर्वदेवतामन्त्रा यथाऽधीयन्ते एवमविरोधो वा,

उपासनाङ्गदेवानां परमाङ्गतया भवेत् ।
उपसंहृतिर्विशेषे तु फलानामन्यथा न तु ।।
पुरुषाणां विशेषाद् वा यथायोगं भविष्यति।"

इति बृहत्तन्त्रे ।

"समस्त देवताओं के मंत्रों को उपासना परमात्मा के अंगरूप से की जाय तो वह अविरुद्ध होगी, यदि उन उपासनाओं से भगवत्प्राप्ति की ही कामना की जाय तो, उन उपासनाओं का पुरुषों की अर्हता के अनुसार और भगवत् उपासना के अनुसार ही उपसंहार हो सकता है।" ऐसा बृहत्तंत्र का वचन है। [जैसे कि श्री राम की प्राप्ति के लिए राम की उपासना के साथ ही हनुमान जी की उपासना भी अंग रूप से की जाए तो कोई विरुद्धता न होगी, उसका सामञ्जस्य होगा।]

३७ अधिकरण

ॐ भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा च दर्शयति ॐ ।३।३।३७।५९।।

सर्वगुणेषु भूमगुणस्य ज्यायस्त्वं क्रतुवत्, सर्वत्र सह भावात् । दीक्षाप्रायणीयोदयनीयसवनत्रयावभृतात्मकः क्रतुः । "भूमैव देवः परमो ह्युपास्यो नैवाभूमाफलमेषां विधत्ते, तस्माद् भूमा गुणतो वै विशिष्टो यथा क्रतुः कर्ममध्ये विशिष्टः" इति गौपवनश्रुतिः ।

जैसे कि—यज्ञ, दीक्षायन उदयनीय अवभृतात्मक तीन सवन आदि बहु क्रियात्मक होने से श्रेष्ठ माना जाता है वैसे ही भूमा की भी गुणों के बाहुल्य से श्रेष्ठता कही गई है। जैसा की गौपवन श्रुति का वचन है—"भूमा ही परम उपास्य देव हैं, भूमा के समान किसी अन्य की विशेषता नहीं है, भूमा वैसे ही गुणों से विशेष है जैसे कर्मों में यज्ञ विशेष होता है।"

३८ अधिकरण

ॐ नानाशब्दादिभेदात् ॐ ।३।३।३८।६०।।

"शब्दोऽनुमा तथैवाद्यो योग्यता भेदतः सदा ।
ब्रह्मादीनामेकमर्थं बहुधा दर्शयन्ति हि ।।
अतः पूर्णत्वमीशस्य नानैवैषां प्रदृश्यते ।
अतः फलस्य नानात्वं नानैवोपासनं यतः ।।"

इति ब्रह्मतर्के । अतो भूमत्वमपि नानैवोपास्यते ।

अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार ही सदा, शब्द के अर्थ का ज्ञान किया जाता है, प्रायः सामान्य लोग ब्रह्म आदि सभी शब्दों का एक ही अर्थ बतलाते हैं। ईश की पूर्णता यही है कि अनेक रूपों से उसकी उपासना की जाती है। अनेक उपासनाओं के अनुसार फल भी भिन्न होते हैं। एक ही भूमा के अनेक गुणों को अलग-अलग उपासना का जाती है।

३९ अधिकरण

ॐ विकल्पो विशिष्टफलत्वात् ॐ ।३।३।३९।६१।।

स्वभोग्योपासनानन्तरं सामान्यस्यापि कस्यचिदुपासनं विकल्पेन भवति विशिष्टफलापेक्षया। मुक्त्यर्थमात्मयोग्यं हि कार्यमेव ह्युपासनम्।

"नृसिंहादिकमन्यच्च दुरितादिनिवृत्तये।
उपास्यते यथाभोगं न वा फलविभेदतः।।"

इति ब्रह्मतर्के।

कभी-कभी अपनी अभीष्ट उपासना के अतिरिक्त विशिष्ट फल की दृष्टि से विकल्प से किसी सामान्य भगवद् रूप की उपासना भी हो सकती है उपासना मुक्त्यर्थक तो होती ही है, अपने अभीप्सित कार्य के अनुरूप भी होती है। जैसा कि ब्रह्मतर्क में स्पष्ट उल्लेख है—"कष्टों की निवृत्ति के लिए नृसिंह आदि अन्य रूपों की उपासना भी विहित है, इन उपासनाओं के अनुरूप विभिन्न प्रकार के फल मिलते हैं।"

४० अधिकरण

ॐ काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वाभावात् ॐ ३।३।४०।६२।।

"यस्य यस्य हि यः कामस्तस्य तस्य ह्युपासनम्।
तादृशानां गुणानां च समाहारं प्रकल्पयेत्।।
अकामत्वान्मुमुक्षूणां न वा तेषामुपासनम्।
तुष्ट्यर्थमीश्वरस्यैव नं चोपासा विदुष्यति।।"

इति बृहत्तंत्रे।

"जिस-जिस की जो-जो कामनायें होती हैं, उसी के अनुसार वे उपासना करते हैं, परमात्मा के विभिन्न प्रकार के गुणों में उन उपास्य रूपों की यदि एकता हो तो उनका समाहार उसी के अनुसार किया जा सकता है। जो लोग निष्काम भाव से मोक्ष की भावना से उपासना करते हैं, वे लोग उन विभिन्न सकाम उपासनाओं को चाहते ही नहीं, उनकी उपासना तो विशुद्ध ईश्वर की-प्रसन्नता के लिए ही होती है। अतः उसमें कोई दोष नहीं होता।"

४१ अधिकरण

ॐ अंगेषु यथाश्रयभावः ॐ।३।३।४१।६३।।

अंगदेवतानां यथा यथा परमेश्वराङ्गाश्रयत्वम् "चक्षोः सूर्यो अजायत" इत्यादि तथा भावना कर्त्तव्या।

देवताओं की, अंगों के अनुसार परमेश्वर के अंगों को आश्रयता है जैसा कि "नेत्र से सूर्य हुआ" इत्यादि ऋचा से सिद्ध है। अतः अंग रूप से उपासना हो सकती है।

ॐ शिष्टेश्च ॐ ३।३।४१।६४।।

"यस्मिन् यस्मिन् यो हि चाङ्गे निविष्टः परस्य चिन्त्यः स तथा तथा वा" इति पौत्रायणश्रुतेः।

"जिस-जिस अंग में जो देवता का निवास है, उस-उस के अनुसार परमात्मा का चिन्तन करना चाहिए" इस पौत्रायण श्रुति से उक्त कथन की पुष्टि होती है।

ॐ समाहारात् ॐ ।३।३।४१।६५।।

"अङ्गैः परार्धे हि देवा निसृष्टास्तद्गुणान्परमे संहरेत, तांश्चापि तत्रैव विचिन्त्य देवस्थानं मुमुक्षुः परमं व्रजेत्" इति कषायणश्रुतौ संमाहारवचनाच्च।

"परमात्मा के जिन-जिन अंगों से जो-जो देवता निकले है उन-उन के अनुरूप गुणों का, परमात्मा के गुणों में उपसंहार करना चाहिए, उनका उनगुणों के रूप में ही चिन्तन करके मुमुक्षु लोग परमात्मप्राप्ति करते हैं।" इस काषायण श्रुति में किए गए समाहार के उल्लेख से भी उक्त बात का समर्थन होता है।

ॐ गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॐ ।३।३।४१।६६।।

"साधारण्यात् सर्वगुणाः परस्य समाहार्यास्तत्त्वदृशो मुमुक्षोः" इति माण्डव्यश्रुतेश्च।

"तत्त्वदर्शी मुमुक्षु साधारण से साधारण गुणों का परमात्मा का मानकर समाहार करते हैं।" इस माण्डव्य श्रुति से भी उक्त कथन पुष्ट होता है।

४२ अधिकरण

ॐ न वा अतत् सहभावश्रुतेः ॐ ।३।३।४२।६७।।

न वाङ्गदेवतोपसंहारः कार्यः । उपसंहारस्य सहाश्रवणात् ।

अंग देवता की उपासना का उपसंहार नहीं करना चाहिए ऐसा भी मत है क्यों कि उपसंहार संबन्धी कोई श्रुति नहीं मिलती ।

ॐ दर्शनाच्च ॐ ।३।३।४२।६८।।

"सत्यो ज्ञानः परमानन्दरूप आत्मेत्येवं नित्यदोपासनं स्यात्, नान्यत् किंचिद् समुपासीत धीरः सर्वैर्गुणैर्देवगणा उपासते" इति कमठश्रुतौ ।

"सत्यज्ञान परमानन्द रूप परमात्मा की ही नित्य उपासना करनी चाहिए धीर लोग किसी अन्य की थोड़ी भी उपासना नहीं करते, देवगण सभी गुणों से उपासना करते हैं ।" इत्यादि कमठश्रुति में अनन्योपासना का ही समर्थन किया गया है ।

तृतीय अध्याय तृतीयपाद समाप्त

तृतीय अध्याय—चतुर्थपाद

१ अधिकरण

ज्ञानसामर्थ्यमस्मिन्पाद उच्यते—

इस पाद में ज्ञान सामर्थ्य का वर्णन करते हैं—

ॐ पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ॐ ।३।४।१।१।।

यद्दर्शनार्थमुपासनोक्ता तस्माद् दर्शनात् सर्वपुरुषार्थप्राप्तिः; इति बादरायणो मन्यते ।

जिसके दर्शन के लिए उपासना का उपदेश किया गया, इसके दर्शन से समस्त पुरुषार्थ मिल जाते हैं, ऐसी बादरायणाचार्य की मान्यता है ।

"यं यं लोकं मनसा संविभाति, विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्, तं तं लोकं जयते तांश्च कामान् तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः इति शब्दात् ।

"उपासना से शुद्धान्तःकरण महात्मा, जिन-जिन लोकों का मन में विचार करते हैं, और जो भी कामनायें करते हैं, उन-उन लोकों को जीत लेते हैं तथा उनकी कामनायें पूर्ण हो जाती हैं, इसलिए आत्मज्ञ पुरुष को कल्याण की कामना से परमात्मा की अर्चना करनी चाहिए ।"

ॐ शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ॐ ।३।४।१।२।।

अस्त्येव मोक्षसाधनत्वं ज्ञानस्य । स्वर्गादिषु तत्साधनकर्मशेषत्वेन । "स्वर्गं धनाद् देहतो वै गृहाच्च प्राप्स्यन्ति धीरा नत्वधीराः कुतश्चिद्" इति वदति जैमिनिः ।

ज्ञान मोक्ष का साधन है किन्तु स्वर्गादि के साधन यज्ञ आदि कर्मों के बाद ही ज्ञान का महत्त्व है । "स्वर्ग, धन से देह से और गृहस्थ आश्रम से ही धीर लोग प्राप्त करते हैं अधीर लोग नहीं पाते ।" ऐसा जैमिनि का मत है ।

ॐ आचारदर्शनात् ॐ ।३।४।३।।

ज्ञानिनामेव देवादीनामाचारदर्शनात् ।

बड़े से बड़े ज्ञानी भी तथा देवता, नित्य शास्त्रोय यज्ञादि कर्मों को करते देखे जाते हैं, इससे उक्त कथन की पुष्टि होती है ।

ॐ तच्छ्रुतेः ॐ ।३।४।१।४।।

"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इति शेषत्वश्रुतेः ।

"जो कुछ भी कर्म ज्ञान पूर्वक किया जाता है वही प्रबलतर होता है" ऐसी ज्ञान पूर्वक कर्म का उपदेश करने वाली श्रुति भी, इससे भी उक्त कथन की पुष्टि होती है ।

ॐ समन्वारम्भणात् ॐ ।३।४।१।५।।

कर्मैव देहं दैविकं मानुषं वाप्यन्वारभेन्नापरस्तत्र हेतुः भोगांस्तदीयांश्च यथा विभागं ददाति कर्मैव शुभाशुभं यद्" इति माठरश्रुतेश्च । संशब्दः प्राधान्यं दर्शयति ।

"दैविक या मानुष देह का प्रारंभ कर्म से ही होता है, कर्म के अतिरिक्त दूसरा और कोई हेतु नहीं है, शुभा-शुभ कर्म ही भिन्न-भिन्न भोगों को शरीर से भोग करता है" इत्यादि माठर श्रुति तथा सूत्रस्थ सम् शब्द कर्म की प्रधानता दिखला रहे हैं ।

ॐ तद्वतो विधानात् ॐ ।३।४।१।६।।

"ज्ञानी च कर्माणि सदोदितानि कुर्यादकामः सततं भवेत" इति कमठश्रुतौ ज्ञानवतोऽपि विधानात् ।

"ज्ञानी भी सदा ऊँचे कर्म करें वे निरन्तर कृतकर्म निष्काम हो जाते हैं" इत्यादि कमठ श्रुति में, ज्ञानवान के लिए कर्म का स्पष्ट विधान है।

ॐ नियमाच्च ॐ ३।४।१।७।।

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः, एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे" इति ।

"कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीवित रहने की अभिलाषा करनी चाहिए, इस प्रकार कर्म तुझे बन्धन में नहीं डालेंगे, इस प्रकार मनुष्य कर्म में नहीं बन्धता" इत्यादि नियम भी है।

ॐ अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॐ ।३।४।१।८।।

"ज्ञानादेव स्वर्गो ज्ञानादेवापवर्गो ज्ञानादेव सर्वे कामाः संपद्यन्ते, अथापि यथा यथा कर्म करोति तथा तथाधिको भवति" इति कौण्ठव्यश्रुतेः। युधिष्ठिरादीनां राजसूयादिना फलाधिक्यदर्शनाच्च इति बादरायणस्य मतम् ।

"ज्ञान से ही स्वर्ग, ज्ञान से ही अपवर्ग और ज्ञान से ही सब काम संपन्न होते हैं, जो-जो भी कर्म ज्ञान पूर्वक किए जाते हैं, वे अधिक फलदायी होते हैं।" इस कौण्ठरव्य श्रुति के अनुसार तथा, युधिष्ठिर आदि द्वारा किए गए ज्ञानपूर्वक राजसूय आदि यज्ञों से मिले अधिक फल से ज्ञान पूर्वक किए गए कर्म की ही विशेषता निश्चित होती है, ऐसी बादरायण जी का मत है।

ॐ तुल्यं तु दर्शनम् ॐ । ।४।१।९।।

राजसूयादिकृतावकृतौ च सममेव तेषां विज्ञानम् ।

"विज्ञातमेतत् सर्वेषां मुनीनां ब्रह्मदर्शनात् ।
स्यादेव मोक्षो नान्यस्यादिति तत्रापि चित्रता।।
स्वर्गादयः कर्मणैव नान्येत्यपरे विदुः ।
ज्ञानेनाधिक्यमित्याहुर्जैमिन्याद्यास्तु केचन ।।
अदृष्टमेव ज्ञानेन दृष्टं नैवोपलभ्यते ।

इति केचिद् विदः प्राहुर्व्यासशिष्या इमेऽखिलाः ।
यस्मात् व्यासमतं सर्वं सत्यमेव ततोऽखिलम् ।।
यथाकाशस्त्वनन्तोऽपि व्यामोहस्तावधिस्तथा ।
प्रादेशोऽपि हि सत्येन तथैतेषां मतानि तु ।।
स्वयं तु भगवान्व्यासो व्याप्तज्ञानमहांशुमान् ।
अनन्ताकाशवत् पश्यन्निखिलं पुरुषोत्तमः ।।
ज्ञानेवाप्यते सर्वं कर्मणा त्वधिकं भवेत् ।
इति प्राह महायोगी पुमर्थानां विनिर्णयम् ।।"

इति भविष्यतपर्वणि ।

"ज्ञानिनामपि देवानां विशेषः कर्मभिर्भवेत् ।
चीर्णेऽकृते वा ज्ञानस्य न विशेषोऽस्ति कर्मणि ।।"

इति ब्रह्मतर्के ।

राजसूय आदि किए जायें या न किए जायें इससे कोई अन्तर नहीं आता। "सभी मुनियों ने ज्ञान से ब्रह्मदर्शन किया, इससे यह निश्चित होता है कि इसके अतिरिक्त किसी अन्य साधन से मोक्ष संभव नहीं है, किन्तु फिर भी विचारों में वैमत्य है, कुछ लोग कहते हैं कि कर्म से ही स्वर्ग आदि मिलते हैं, जैमिनि आदि कुछ विचारक कहते हैं कि ज्ञान से किए गए कर्म का अधिक फल है। व्यास के अन्य सभी शिष्य ऐसा कहते हैं कि अदृष्ट ज्ञान से दृष्ट फल की प्राप्ति संभव नहीं है। इसलिए व्यास का मत ही पूर्णरूप से सही है, जैसे कि आकाश अनंत होते हुए भी प्रादेश मात्र में सीमित है, यह मत सही है वैसे ही सारे ही मत सही माने जा सकते हैं। भगवान व्यास देव साक्षात् पुरुषोत्तम हैं अनन्त आकाश की तरह उनका ज्ञान का प्रकाश सर्वत्र व्याप्त है वे सब कुछ जानते हैं, उन्होंने निश्चित कर दिया है कि ज्ञान से ही भगवत्प्राप्ति होती है, कर्म से उसमें विशेष उत्कर्ष होता है।" ऐसा भविष्यत् पर्व में स्पष्ट उल्लेख हैं, ब्रह्मतर्क भी इस सिद्धान्त का समर्थन करता है। "अत्यन्त ज्ञानी देवताओं में भी कर्म से उत्कृष्टता आती है, ज्ञान के बिना कर्म में विशेषता नहीं आती न बिना कर्म के ज्ञान में ही विशेषता होती है।"

२ अधिकरण

सर्वेषां पुरुषार्थापेक्षित्वात् ज्ञानाधिकारितेत्यत आह—

मोक्ष तो सभी चाहते हैं, इस लिए सभी को ज्ञान का अधिकार है, या नहीं, इस पर विचार करते हैं—

ॐ असार्वत्रिकी ॐ ।३।४।२।१०।।

न सर्वेषामधिकारः ।

सामान्यतः सभी को अधिकार नहीं है ।

ॐ विभागः शतवत् ॐ ।३।४।२।११।।

"नव कोट्यो हि देवानां येषां मध्ये शतस्य तु ।
सोमाधिकारो वेदोक्तो ब्रह्मणी द्वे शताधिके ।।
यथा तथैवासंख्ययोः प्रजास्तासु कियाञ्जनः ।
ज्ञानाधिकारी संप्रोक्तो विष्णुपादैकसंश्रयः ।।"

इति वचनात् सुखापेक्षासाम्येपि विभाग इष्यतेऽधिकारार्थम् ।

"नौ कोटि देवताओं में केवल सौ देवताओं को और ब्रह्माविष्णु को ही सोमपान का अधिकार वेदों में कहा गया है, वैसे ही असंख्य मनुष्यों में कुछ भगवद् भक्तों को ही ज्ञानाधिकारी कहा गया है।" इस वचन से, समान रूप से सुखाभिलाषी होते हुए भी सबका ज्ञान का अधिकार नहीं सिद्ध होता।

कस्याधिकारः ? फिर किनको अधिकार है ? सो बतलाते हैं—

ॐ अध्ययनमात्रवतः ॐ ।३।४।२।१२।।

अवैष्णवस्य वेदेऽपि ह्यधिकारो न विद्यते ।
"गुरुभक्तिविहीनस्य शमादिरहितस्य च ।।
न च वर्णावरस्यापि तस्मादध्ययनान्वितः ।
ब्रह्मज्ञाने तु वेदोक्ते ह्यधिकारी सतां मतः ।।"

इति ब्रह्मतर्के । "पठेद्वेदानथार्थानधीयेताथ विचार्य ब्रह्मविन्देत्" इति कौषारवश्रुतिः ।

अवैष्णव का वेद में भी अधिकार नहीं है। "गुरुभक्ति रहित, शम दम आदि रहित तथा नीचे जाति को वेद का अधिकार नहीं है, ब्रह्मज्ञान में तो एक मात्र भगवत् चिन्तन करने वालों को ही वेदों में अधिकारी कहा गया है।" ऐसा विष्णुतर्क का वचन है। "वेद के रहस्य को जानकर और विचार का ब्रह्म को प्राप्त करते हैं" ऐसी कौषारव श्रुति भी है।

३ अधिकरण

ॐ नाविशेषात् ॐ ।३।४।३।१३।।

न सामान्येनाधिकारो देवादीनाम् । "अथ पुमर्थसाधनान्यर्थो धर्मो ज्ञानमित्युत्तरोत्तरम्, तत्राधिकारिणो मनुष्या ऋषयो देवा इत्युत्तरोत्तरम्" इति कौण्डिन्यश्रुतिः ।

देवता आदि किसी को भी सामान्यतः अधिकार नहीं है जैसा कि कौण्डिन्य श्रुति से निश्चित होता है—"पुरुषार्थ के अर्थ, धर्म और ज्ञान उत्तरोत्तर श्रेष्ठ साधन हैं, मनुष्य, ऋषि और देवता, इसके उत्तरोत्तर श्रेष्ठ अधिकारी हैं।"

४ अधिकरण

"अथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः स ब्रह्मणः केन स्याद् येन स्यात्तेनेदृश एवेति ज्ञानिनो यथेष्टाचरणं विधीयते" इत्यत आह—

मुनि, मौन अमौन की स्थिति से उठकर ब्राह्म होता है, वह ब्राह्मण किस साधना से होता है ? जो कि इन स्थितियों से परे हो जाता है इत्यादि श्रुति में तो ज्ञानियों का यथेष्टाचार बतलाया गया है। इसका समाधान करते हैं—

ॐ स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॐ ।३।४।४।१४।।

न विधिर्ज्ञानिनः स्तुतयेऽनुमतिमात्रं वा । युज्यते च ।

उक्त वाक्य ज्ञानियों की स्तुति और विशेषता मात्र का दिग्दर्शन कर रहा है जो कि उचित भी है। विधि परक नहीं है :

ॐ कामकारेण चैके ॐ ।३।४।४।१५।।

"कामचाराः कामभक्षाः कामवादाः कामेनैवेमं देहमुत्सृज्याथ परात्परमीयुरनारम्भणम्" इति चैके पठन्ति ।

"इच्छानुसार आचरण करके, इच्छानुसार भक्षण करके इच्छानुसार भाषण करके, इच्छानुसार ही इस शरीर को छोड़कर आवागमन रहित परात्पर गति को प्राप्त करते हैं।" ऐसी स्वेच्छाचारिता की स्पष्ट पोषक श्रुति है जो कि—प्रशंसा मात्र ही है।

ॐ उपमर्दं च ॐ ।३।४।४।१६।।

"ओमित्युच्चार्यान्तिरिममात्मानमभिपश्योपमृद्य पुण्यं च पापं च काममाचरन्तो ब्रह्मानुव्रजन्ति" इति चतुरश्रुतौ ।

"ओम का उच्चारण करते हुए अन्तर्यामी आत्मा को देखकर पुण्य पाप का उपमर्दन करके स्वेच्छाचरण करते हुए ब्रह्म की प्राप्ति करते हैं।" इस तुर श्रुति में पुण्य पाप के नष्ट हो जाने पर स्वेच्छाचरण की बात कही गयी गई है जिससे संशय की निवृत्ति हो जाती है।

ॐ ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्देति ॐ ।३।४।४।१७।।

न तावता कामचाराणां ज्ञानेऽधिकारः । "य इमं परमं गुह्यं ऊर्ध्वरेतस्सु भाषयेत् न तथाविद्यते भूयेन्यं प्राप्यान्येऽपि भूयसः" इति माठरश्रुतेः ।

स्वेच्छाचारियों को तो ज्ञान का अधिकार दिया ही नहीं गया है। "इस परम गुह्य भगवत्तत्व को ऊर्ध्व रेतसों को ही बतलाना चाहिए" इत्यादि माठर श्रुति से पूर्ण रूप से संशय निवृत्त हो जाता है।

ॐ परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॐ ।३।४।४।१८।।

"प्राथरुत्थाय सन्ध्यामुपासते ब्रह्मैव तदुपासतेऽथ देवान्नमेज्जुहुयाद् वेदानावर्तयीत नान्यत्किंचिदाचरेत् न सुरां पिबेन्न पलाण्डुं भक्षयीत न भृशं वदेन्न विस्मरेदात्मानं सोमं पिबेत् हुतशेषेण वर्तयेत् "इत्युक्ताचारपरामर्शेन विधिबन्धवर्जितत्वेन कामत एव तस्य चरणं कामचारः, इति जैमिनिर्मन्यते । "न च निषिद्धं कर्म कर्त्तव्यम्" एवेति चोदना "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" इत्याद्यपवादश्च ।

"प्रातः काल उठकर सन्ध्योपासन करना चाहिये, जो सन्ध्योपासन करता है वही ब्रह्मोपासना करता है देवताओं को नमन करता है, यज्ञ करता है, वेदों की आवृत्ति करता है उसे स्वेच्छाचरण नहीं करना चाहिये न सुरापान करना चाहिये न प्याज खाना चाहिये, न अधिक बोलना ही चाहिये, सोम पान करके अपने को भुला देना चाहिये, भगवन्निवेदित पदार्थों को ही काम में लाना चाहिये" इत्यादि इत्यादि में आचार पालन का परामर्श दिया गया है जिससे विधि बन्धन का निषेध प्रतीत होता है उससे निश्चित होता है कि कामना पूर्वक किए गये आचरण को ही शास्त्रों में कामचार कहा गया है, ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं। "निषिद्ध कर्म नहीं करना चाहिये ऐसा आदेश दिया गया है।" ब्राह्मण की हिंसा नहीं करनी चाहिये ऐसा निषेध भी किया गया है।

ॐ अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॐ ।३।४।४।१९।।

अनुष्ठेयानां मध्य एव कामतश्चरणं कामतो निवृत्तिः, इति बादरायणो मन्यते । "केन स्याद् येन स्यात्तेनेदृश एव" इति साम्यश्रुतेः ।

"यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं विद्यते ।।"
इति भगवद्वचनाच्च ।

बादरायणाचार्य के मत से अनुष्ठेय कर्मों में से किसी का पालन किया जाय किसी को छोड़ा जाय ऐसा स्वेच्छाचार अर्थ, कामचार शब्द में निहित है। "केन स्याद् येन स्यात्तेनेदृश एव" इत्यादि साम्य श्रुतिका यही तात्पर्य है। "जिसे आत्म से प्रेम है, वह मनुष्य तृप्त है, वह आत्मा में ही सन्तुष्ट है उसके लिये कार्य का बन्धन नहीं है।" इस भगवद्वचन से भी बादरायणाचार्य की बात पुष्ट होती है।

ॐ विधिर्वा धारणवत् ॐ ।३।४।४।२०।।

"केन स्याद् येन स्यात्" इति विधिर्वा । यथावेदधारणं त्रैवर्णिकानां विहितं नान्येषाम् । एवं स्वमतानुसारिणी प्रवृत्तिर्ज्ञानिनां विहिता न तत्राधर्मशङ्का कार्या नान्येषामिति वा । स्वेच्छयैव प्रवृत्तिस्तु ब्रह्मणा विधिचोदिता । नाशयं तन्मतं क्वापि विष्णोः प्रत्यक्षचोदना, इतरेषां न विहिता स्वेच्छावृत्तिः कथंचन ।" इति ब्राह्मे ।

"केन स्याद् येन स्यात्" ऐसी विधि उसी प्रकार है जैसे कि वेदों का धारण त्रैवर्णिकों के लिये ही विहित है अन्य के लिये नहीं वैसे ही अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति ज्ञानियों के लिये ही विहित है अन्यों के लिये नहीं है, इसलिए अधर्म की आशंका नहीं करनी चाहिये। "भक्तों के लिए स्वेच्छावृत्ति का उपदेश ब्रह्मा द्वारा वेदों में दिया गया है, भगवान विष्णु ने उसका प्रत्यक्ष समर्थन किया है इसलिए ब्रह्मा के मत पर शंका नहीं करनी चाहिये, स्वेच्छावृत्ति औरों के लिए विहित नहीं है।" ऐसा ब्रह्मपुराण का वचन भी है।

ॐ स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॐ ३।४।४।२१।।

स्तुतिमात्रमेव स्वेच्छाचरणं न विधिः । तैरपि सामान्यविधि-स्वीकारादिति चेन्न, अपूर्वत्वात्, परवशत्वात् । सर्वविध्यतिक्रमेण स्तुतिमात्रविषयत्वं परब्रह्मण एव हि । विधीनां विषयास्त्वन्ये ब्रह्मणः स्वेच्छया कृतौ, परस्य ब्रह्मणो ह्येव सर्वविध्यतिदूरता'' इति ब्रह्मतर्के ।

स्वेच्छाचरण केवल प्रशंसा मात्र है, कोई विधि नहीं है । उसे सामान्य विधि के रूप में स्वीकारना ठीक नहीं है न तो वैसा आज तक किसी ने किया है और न जीव शास्त्र के शासन से विमुख ही हो सकता है । वैसा करने से जीव का पतन ही होगा सर्वविधि अतिक्रमण की बात का समर्थन पर ब्रह्म की स्तुति मात्र है, जैसा की ब्रह्मतर्क का वचन है– "विधियों के विषय तो ब्रह्मा ने स्वेच्छा से और लोगों के लिये बनाये हैं, परब्रह्म परमात्मा तो विधियों से अतिदूर हैं ।"

ॐ भावशब्दाच्च ॐ ।३।४।४।२२।।

यथा विधानमपरे विधिर्भावि प्रजापतेः ।
ब्रह्मणः परमस्यैव सर्वविध्यतिदूरता ।।''

इति चतुरश्रुतौ ।

ॐ पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॐ ।३।४।४।२३।।

"केन स्याद् येन स्यात्'' इत्यादयः स्थिरत्वनिवृत्यर्था इति चेन्न ।'' त्रेधा ज्ञानिनो ह वाव भवन्ति, विधिनियता, अनियताः स्वेच्छानियता इति । विधिनियता मनुष्याः, अनियता हि देवाः, ब्रह्मैव स्वेच्छानियतः'' इति गौपवनश्रुतौ विशेषितत्वाच्च ।

ऐसा भी नहीं कह सकते कि–"केन स्याद् येन स्यात्'' इत्यादि स्थिरनिवृत्यर्थक वचन हैं । गौपवन श्रुति में ज्ञानियों की विशेष श्रेणी बतलाई गई है— "ज्ञानी तीन प्रकार के होते हैं, विधि, देवता, अनियत और स्वेच्छा से नियत । मनुष्य विधि से नियत है, देवता अनियत हैं एक मात्र ब्रह्म ही स्वेच्छा से नियत हैं ।''

ॐ तथा चैकवाक्योपबन्धात् ॐ ।३।४।४।२४।।

एवं सति विधिवाक्यानां स्वेच्छावृत्तिवाक्यानां च संबंधो भवति ।

इस प्रकार विधि वाक्यों और स्वेच्छावृत्ति वाक्यों को सम्बन्ध का ताल मेल बैठता है ।

ॐ अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॐ ।३।४।४।२५।।

अत एव ज्ञानस्य मोक्षदाने नाग्निहोत्राद्यपेक्षा । बहुतर्के च—

"येषां ज्ञानं समुत्पन्नं तेषां मोक्षो विनिश्चितः ।
शुभकर्मभिराधिक्यं विपरीतैर्विपर्ययः ।।
स्वेच्छानुवृत्यैव भवेद् ब्रह्मणः प्रायशस्तथा, देवानामपि सर्वेषां विशेषादुत्तरोत्तरम्'' इति ।

ज्ञान से जो मोक्ष मिलता है उसमें अग्निहोत्र की अपेक्षा नहीं होती जैसा कि—ब्रह्मतर्क में कहते हैं—"जिसकी मनोवृत्ति भगवद् ज्ञान से पूर्ण हो जाती है, उसका मोक्ष निश्चित ही होता है, उसे शुभ कर्म करने की विशेष रुचि हो जाती, अशुभ कर्मों से विरति हो जाती है, उसकी वृत्ति कर्मों के बन्धनों से मुक्त होकर ब्रह्म की ओर लगजाती है, देवता आदि में ये विशेषतायें उत्तरोत्तर होती हैं ।"

ॐ सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॐ ।३।४।४।२६।।

सर्वधर्मापेक्षा च ज्ञानस्योत्पत्तौ विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन'' इति श्रुतेः । यथा गतिनिष्पत्त्यर्थमश्वादयोऽपेक्ष्यन्ते न निष्पन्नगतेर्ग्रामादिप्राप्तौ ।

'यज्ञ दान तप और व्रत से उसको जानने की इच्छा करते हैं'' इत्यादि श्रुति से ज्ञानोत्पत्ति में सर्वधर्मों के पालन की अपेक्षा निश्चित होती है । जैसे कि यात्रापूर्ण करने के लिए घोड़ा आदि सवारी की अपेक्षा होती है, बिना उसके गन्तव्य स्थान तक पहुँचना कठिन होता है वैसे ही ज्ञानोत्पत्ति में यज्ञ दान आदि की अपेक्षा होती है ।

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदंगतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ।

यद्यपि ज्ञानेनैव मोक्षो नियतस्तथापि ॐ ।३।४।४।२७।।

ज्ञानी शमदमाद्युपेतः स्यात् । "आचार्याद् विद्यामवाप्यैतमात्मानं अभिपश्यन् शान्तो भवेद् दान्तो भवेदनुकूलो भवेदाचार्यं परि-

चरेत् परिचरेदाचार्यम्" इति माठरश्रुतौ ज्ञानिनोऽपि तद्विधेः । "ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति तस्मै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनं यो वा एतामुपनिषदमेवं वेदेति" ज्ञानाङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् । "यस्य ज्ञानं तस्य मोक्ष इति नात्र विचारणा, तस्य शान्त्यादयोऽङ्गानि तस्मात्तेषामनुष्ठितिः । अवश्यकरणीयास्यादन्यथाल्पफलं भवेत्" इति चाग्नेये । तुशब्दः पूर्णफलार्थत्वं सूचयति ।

यद्यपि ज्ञान से ही मोक्ष नियत है फिर भी ज्ञानी शमदम आदि साधनों से संपन्न होता है। "आचार्य से विद्या प्राप्त कर इस आत्मा को जानने के लिए शान्त होता है दान्त होता है, अनुकूल भाव से आचार्य की परिचर्या करता है, आचार्य की परिचर्या करता है।" इत्यादि माठर श्रुति में ज्ञानी के लिए भी उनविधियां का उपदेश दिया गया है। "ब्राह्मी उपनिषद श्रद्धा रूप है, तप दम, कर्म में ही उसकी प्रतिष्ठा हैं, जो इसे इस प्रकार जानता है वह अंगों सहित वेद और सत्य का आयतन हो जाता है।" इत्यादि श्रुति में ज्ञानाङ्ग रूप से तप आदि को अनुष्ठेय बतलाया गया है। "जिसे ज्ञान है उसका मोक्ष निश्चित ही है, इसमें संदेह नहीं हैं, ज्ञान के शान्त आदि अंग हैं, इस लिए वे भी अनुष्ठेय हैं। इनका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए अन्यथा अल्पफल होता है।" ऐसा अग्निपुराण का वचन भी है। सूत्र में तुशब्द पूर्णफलार्थता का सूचक है।

ॐ सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॐ ३।४।४।२८॥

"यदि ह वा अप्येवं विन्निखिलं भक्षयीतैवमेव न भवति" इति सर्वान्नानुमतिः प्राणात्ययविषया । "न वा अजीविष्यमिमानखादन् इति होवाच कामोम उदपानम्" इति दर्शनात् ।

"यदि ऐसा जानकर सब कुछ खाता है तो पाप का भ.गी नहीं होता" इत्यादि श्रुति सभी को सर्वभक्षण की अनुमति नहीं दे रही है अपितु प्राणात्यय काल का उल्लेख कर रही है। जैसा कि—न वा अजीविष्यमिमानखादन्" इत्यादि श्रुति में स्पष्ट हो जाता है।

ॐ अबाधाच्च ॐ ।३।४।४।२९॥

अन्याय्याचारणाभावे न हि ज्ञानस्य बाधनम्, "अतो विद्वानपि न्याय्यं वर्त्ततोत्कर्षसिद्धये" इति ब्रह्मतर्के ।

यदि अन्याय आचारण न किया जाय तो ज्ञान साधना में कोई बाधा नहीं आती। जैसा कि ब्रह्मतर्क का वचन है—"नियम के उत्कर्ष के लिए विद्वान् न्याय्य आचरण करते हैं।"

ॐ अपि स्मर्यते ॐ ।३।४।४।३०॥

"अतीतानागतज्ञानी त्रैलोक्योद्धरणक्षमः ।
एतादृशोऽपि नाचारं श्रौतं स्मार्त्तं परित्यजेत् ॥"

इति हरिवंशेषु ।

'ज्ञानी व्यक्ति, त्रिलोकी के अतीत और अनागत जीवों का उद्धार करने में समर्थ होते हुए भी श्रौत और स्मार्त्त आचार को नहीं छोड़ते।" ऐसा हरिवंश पुराण का स्पष्ट वचन है।

ॐ शब्दश्चातोऽकामचारे ॐ ।३।४।४।३१॥

"स य एतदेवं विदेवं मन्वान एवं पश्यन् कामचरितं चरेन्न कामं भक्षयीत न काममनुवर्त्तेत्" इति कौण्डिन्यश्रुतौ । अत इत्यल्पफलत्वं सूचयति—"न निषिद्धानि वर्त्तेत पूर्णज्ञानफलेच्छया" इति पाद्मे ।

"जो इसे जानना चाहता है मनन करना चाहता है, देखना चाहता है, उसे स्वच्छन्द आचरण नहीं करना चाहिए, मनमाना ढंग से अभक्ष्य भक्षण नहीं करना चाहिए, मनमाना व्यवहार नहीं करना चाहिए।" ऐसा कौण्डिन्य श्रुति में स्वेच्छाचार का स्पष्ट खण्डन किया गया है। स्वेच्छाचरण से ज्ञान में अल्पता भी बतलाते हैं—"पूर्णज्ञान चाहने वालों को निषिद्ध आचरण नहीं करना चाहिए" पद्मपुराण।

ॐ विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॐ ।३।४।४।३२॥

न केवलं निषिद्धाकरणेन पूर्यते । कर्त्तव्यं च वर्णाश्रमविहितं कर्म । "पश्यन्नपीममात्मानं कुर्यात् कर्माविचारयन्, यदात्मनः सुनियतमानन्दोत्कर्षमाप्नुयात्" इति कौषारवश्रुतौ विहितत्वाच्च । अपिशब्दो वर्णधर्मसमुच्चयार्थः ।

केवल निषिद्ध आचरण के त्याग से ही ज्ञान पूर्ण नहीं होता अपितु वर्णाश्रम विहित कर्म के करने से भी पूर्ण होता है। जैसा कि कौषारव श्रुति में स्पष्ट

कहते हैं—"इस आत्मा को जानलेने के बाद भी कर्मों का आचरण करना चाहिए, ऐसा करने से आत्मदर्शन में विशेष आनन्द की अनुभूति होती है।" सूत्र में अपि शब्द समुच्चय अर्थ का बोधक है जो कि आश्रम के साथ वर्ण धर्म की ओर इंगन कर रहा है।

ॐ सहकारित्वेन च ॐ ।३।४।४।३३।।

"यथा राज्ञः सहकार्येव मंत्री तथाप्यृते न क्षितिपः कार्यमृच्छेत् ।। एवं ज्ञानं कर्म विनापि कार्यं सहायभूतं न विचारः कुतश्चित्" इति कमठश्रुतौ सहकारित्वोक्तेश्च ।

"ज्ञानान्मोक्षो भवत्येव सर्वाकार्यकृतोऽपि तु ।
आनन्दो ह्रसतेऽकार्यात् शुभं कृत्वा तु वर्धते ।।"

इति ब्रह्माण्डे । "सर्वदुःखनिवृत्तिश्च ज्ञानिनो निश्चितैव हि, उपासया कर्मभिश्च भक्त्या चानन्दचित्रता" इति बृहत्तंत्रे ।

"धर्मस्वरूपचित्रत्वाद्यो यो देवमनोगतः ।
स एव धर्मो विज्ञेयो न ह्येते लोकसम्मिताः ।।"

इति पाद्मे ।

"जैसे कि राजा का सहकारी मंत्री होता है, राजा उसके बिना कुछ भी कार्य नहीं करता वैसे ही ज्ञान, कर्म के बिना चल जायगा ऐसा विचार कभी नहीं करना चाहिए वह ज्ञान का अभिन्न सहयोगी है।" इस कमठ श्रुति में कर्म की सहकारिता का स्पष्ट उल्लेख है। "बिना कार्य किए भी ज्ञान से मोक्ष तो होता ही है किन्तु अकार्य करने से साधक के आनन्द में ह्रास होता है, शुभाचरण से उत्थान होता है" ऐसा ब्रह्माण्ड पुराण का भी वचन है। "ज्ञानी" का समस्त दुःखों से निश्चित ही छुटकारा मिल जाता है, किन्तु कर्म के आचरण और भक्ति से अभूत पूर्व आनन्द की प्रतीति होती है।" ऐसा बृहत्तंत्र भी कहता है। "धर्म का स्वरूप बड़ा विचित्र है, जो देव सम्मत (शास्त्र सम्मत) है उसे ही धर्म मानना चाहिए, लोक सम्मित धर्म को धर्म नहीं मानना चाहिए।" ऐसा पद्मपुराण का स्पष्ट मत है।

९ अधिकरण

ॐ सर्वथापि तु त एवोभयलिङ्गात् ॐ ।३।४।५।३५।।

"सर्वप्रकारेणोत्साहेऽपि ये ज्ञानयोग्यास्त एव ज्ञानं प्राप्नुवन्ति नान्ये" य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः इति श्रुत्याऽऽचार्योपदेशसाम्येऽपि विरोचनो विपरीतज्ञानमापेन्द्रः सम्यग् ज्ञानमित्युभयविधलिङ्गात् ।

"समस्त प्रयासों के कर लेने पर भी जो ज्ञान योग्य हैं, उन्हीं से ज्ञान प्राप्त हो सकता है अन्य से नहीं जैसा कि—" निष्पाप, जरा मृत्यु, शोक भूख, प्यास रहित सत्यकाम सत्य संकल्प आत्मा का ही अन्वेषण करना चाहिए उसे ही जानना चाहिए "इस श्रुति के अनुरूप ही आचार्य का उपदेश प्राप्त करके भी विरोचन ने विपरीत ज्ञान लाभ किया जब कि इन्द्र ने सही ज्ञान प्राप्त किया इससे ही उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है।

ॐ अनभिभवं च दर्शयति ॐ।३। ।५।३५।।

"दैवीमेव सम्पत्तिं देवा अभिगच्छन्ति आसुरीमेव चासुराः नैतयोरभिभवः कदाचित् स्वभाव एव ह्यवतिष्ठते" इति स्वभावानभिभवं च दर्शयति ।

"देवता दैवीसंपत्ति की ओर ही झुकते हैं, असुर आसुरी की ओर ही झुकते हैं, इन दोनों की संपत्तियों में कमी ह्रास नहीं होता वे स्वभावानुसार ही व्यवहार करते हैं" इसमें स्पष्ट रूप से स्वभाव की प्रबलता दिखलाई गई है। इससे उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है।

ॐ अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॐ ।३।४।५।३६।।

सम्यग्ज्ञानविपरीतज्ञानयोरन्तरास्थितानामपि देवासुरभावयोर्दार्ढ्यदृष्टेः ।

सम्यग्ज्ञान और विपरीत ज्ञान में स्थित होते हुए भी देव और असुरभावों की दृढता के उल्लेख से उक्त बात सुपुष्ट हो जाती है।

ॐ अपि स्मर्यते ॐ ।३।४।५।३७।।

"असुरा आसुरेणैव स्वभावेन च कर्मणा ।
ज्ञानेन विपरीतेन तमो यान्ति विनिश्चयात् ।।
देवा दैवस्वभावेन कर्मणा चाप्यसंशयम् ।
सम्यग् ज्ञानेन परमां गतिं गच्छन्ति वैष्णवीम् ।।
नानयोरन्यथाभावः कदाचित् क्वापि विद्यते ।
मानुषा मिश्रमतयो विमिश्रगतयोऽपि च ।।"

इति स्कान्दे ।

"असुर, आसुरी स्वभाव और कर्म से विपरीत ज्ञान होकर निश्चित ही अन्धकार में डूबते हैं। देवता, दैवी स्वभाव और कर्म से सही ज्ञान होकर परम वैष्णवी गति को प्राप्त करते हैं, इनमें कभी भी उलट फेर नहीं होता। मनुष्य, दोनों प्रकार के स्वभाव कर्म और ज्ञान वाले होते हैं इसलिए उनकी दोनों प्रकार की गति होती है।" ऐसा स्कन्द पुराण का स्पष्ट वचन हैं।

ॐ विशेषानुग्रहं च ॐ ।३।४।५।३८।।

"शृण्वे वीर उग्रमुग्रं दमायन्नन्यमन्यमति नेनीयमानः। एधमानद्विलुभस्य राजा चोकूष्यते विश इन्द्रो मनुष्यान् ।" इति विशेषानुग्रहं च दर्शयति देवेषु परमेश्वरस्य ।

"असुरान्दमयन् विष्णुः स्वपदं च सुरान्नयन् ।
पुनः पुनर्मानुषांस्तु सृतावावर्तयत्यसौ ।।"

इति भविष्यत्पर्वणि ।

(देवों पर भगवान् का) विशेष अनुग्रह (श्रुति में कहा है)। (योग्यता के बिना उन्नति पाने वालों पर द्वेष करने वालों देवदैत्यों का स्वामी अपना निश्चय को सिद्ध करने वाले ऐसे भगवान् सब दुष्टों का दमन कर दूसरों को (देवों को) (संसार से) पार करा कर अपने स्थान को ले जाते हैं। इस तरह वेद में कहा है। वही भगवान् मध्यमाधिकारी मनुष्यों को (संसार में) डालता है। देवों पर भगवान् का विशेष प्रेम रहता है इस प्रकार इस श्रुति में कहा है विष्णुभगवान् दैत्यों का दमन कर देवताओं को अपने स्थान को ले जाता है। और मनुष्यों को संसार में बार-बार डालता है। इस भविष्य पर्व में कहा है।

ॐ अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ॐ ।३।४।५। ९।।

देवभागादसुरभाग एव बहुलः। तस्मान्न जनतामियादिति लिङ्गात्। च शब्दात्ततः "कनीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः" इति श्रुतेश्च "असुरा बहुला यस्मात्तस्मान्न जनतामियात्" इति च ब्राह्मे।

देवभाग से असुरभाग ही अधिक है, "देवता कम हैं असुर ज्यादा हैं" इस श्रुति से ऐसा ही निश्चित होता है, ब्रह्म पुराण भी ऐसा ही कहता है—"असुर अधिक हैं इसलिए वे हो समूह में हैं।"

ॐ तद्भूतस्य तु तद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः ॐ ३।४।५।४०।।

असुरजातेरेवासुरत्वं देवजातेरेव देवत्वं जैमिनेरपि सिद्धमेव। "नासुरा दैवीं न देवा आसुरीं न मनुष्या दैवीमासुरीं च गतिमीयुरात्मीयामेव जातिमनुभवन्ति" इति नियमश्रुतेः। नासुराणां दैवं रूपं न देवानामासुरं चोभयं मनुष्याणां यो यद्रूपः स तद्रूपो निसर्गो ह्येष भवति" इति अतद्रूपत्वश्रुतेः। "तं भूतिरिति देवा उपासां चक्रिरे ते बभूवुस्तस्माद्धाऽप्येतर्हि सुप्तो भूर्भूरित्येव प्रश्वसित्यभूरित्यसुरास्तेह पराबभूवः" इति देवासुराणां भावाभावश्रुतेश्च।

"देवानां भूतिरित्येव मनो विष्णौ स्वभावतः ।
असुराणामभूतित्वे न तन्नियमतोऽन्यथा ।"
"देवाः शापाभिभूतत्वात्प्रह्लादाद्या बभूविरे ।
अतः सुगतिरेतेषां नान्यथा व्यत्ययो भवेत् ।।"

इति चाध्यात्मे ।

असुरजाति की असुरता और देवजाति का देवत्व जैमिनि भी मानते हैं।" न असुर दैवी गति को न देव आसुरी गति को और न मनुष्य दैवासुर गति को प्राप्त करते हैं, अपनी जाति के अनुसार ही प्राप्त करते हैं।" इत्यादि नियम श्रुति से उक्त कथन पुष्ट होता है। "न असुर देव रूप को न देव असुर रूप को, मनुष्य दोनों रूपों को प्राप्त करता है, जो जिसका स्वाभाविक रूप है वही रहता है।" इत्यादि श्रुति स्वभाव परिवर्तन का निषेध करती है तथा "तं भूतिरिति देवा उपासां चक्रिरे" इत्यादि श्रुति भाव अभाव देवासुरों का बतलाती है उससे

भी उक्त कथन की पुष्टि होती है। "देवताओं का कल्याण इसीलिए होता है कि वे स्वभाव से ही अपने मन को विष्णु में लगाए रहते हैं, असुर ऐसा नहीं करते इसलिए पराभूत होते हैं। शाप से अभिभूत होकर देवता ही प्रह्लाद इत्यादि दैत्य हुए थे, इसीलिए उनकी सुगति हुई अन्यथा दुर्गति होती।" ऐसा अध्यात्म का भी वचन है।

६ अधिकरण

ॐ न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ॐ ।३।४।६।४१।।

न च परमात्मैश्वर्यादिकमाकांक्ष्यम्। ब्रह्मादीनामपि नाकांक्ष्यम् किमु परस्येति सूचयितुमपिशब्दः। चशब्दस्तु ज्ञानार्थिनां पूर्वोक्तादित्थंभावान्तरसूचकः। अयोग्यमारोढुं प्रयतन्प्रपतन् हि दृश्यते। एवमयोग्यस्य परमात्मैश्वर्यस्य ब्रह्मादिपदस्य चाकांक्षायां पतनमनुमीयते।

"न देवपदमप्यन्विच्छेत् कुत एव हरेर्गुणान्।
इच्छन्पतति पूर्वस्मादधस्ताद् यत्र नोत्थितिः।।"

इति ब्रह्माण्डे।

"स्वकीयमिच्छमानं तु राजाद्याः पातयन्ति हि।
एवमेव सुराद्याश्च हरिश्च स्वपदेच्छुकम्।।"

इत्याद्यनुमानरूपवाक्याच्च।

"मायाभिरुत् सिसृप्सत इन्द्राद्यामारुरुक्षतः।
अवदस्यूँरधूनुथा" इति श्रुतिः।

परमात्मा के ऐश्वर्य आदि की आकांक्षा उपासकों को नहीं करनी चाहिए। जब ब्रह्मा आदि ही उसकी आकांक्षा नहीं करते तो औरों की क्या मिसाल है। ज्ञानार्थियों को ऐसा करने से भावान्तर होगा वे ध्येय से च्युत हो जायेंगे। सामर्थ्य से अधिक पद पर चढ़ने के प्रयास में प्रायः लोगों को गिरते ही देखा जाता है। परमात्मा के ऐश्वर्य या ब्रह्मादि पद की आकांक्षा निश्चित ही नीचे गिरा देगी जैसा कि ब्रह्माण्ड आदि का वचन है—"देव पद की आकांक्षा भी नहीं करनी चाहिए, हरि के गुणों की बराबरी का तो कोई प्रश्न ही क्या है, यदि ऐसी आकांक्षा करने से पतन हो जाता है, पहिले से भी अधिक नीचे चले जाओगे जहाँ से उठ नहीं सकोगे।" जब अपनी बराबरी करने वालों को राजा

आदि नीचा दिखलाते हैं, तो फिर देवता और भगवान तो अपने पद के इच्छुक को निश्चित ही नीचे गिरावेंगे।" मायाभिरुत्सिसृप्सत" इत्यादि श्रुति में यही दिखलाया गया है।

ॐ उपपूर्वमपीत्येके भावशमनवत्तदुक्तम् ॐ ।३।४।६।४२।।

"उपदेवपदं च नाकांक्ष्यम्" इत्येके। भावशमनवद् ऋषिपदवदेव। तच्चोक्तं इन्द्रद्युम्नश्रुतौ—"यथर्षीन्प्रजापतीन् नाकांक्षेदेवं न गन्धर्वान्न विद्याधरान्न सिद्धान्" इति। बृहत्संहितायां च—

"न दैवानभिकांक्षेत कुत एव हरेर्गुणान्।
प्राजापत्यान्न चार्षांश्च गान्धर्वादीनपि क्वचित्।।"
"ऋष्यादिषु विशेषे तु दोषो नैवाविशेषतः।।"

इति विशेषदर्शनार्थमेक इत्युक्तम्।

"उपदेवपद की भी आकांक्षा नहीं करनी चाहिए" ऐसा भी एक श्रुति है। जैसा कि—इन्द्रद्युम्न श्रुति में स्पष्ट कहते हैं "जैसे ऋषि और प्रजापतित्व की आकांक्षा नहीं करते वैसे ही गन्धर्व विद्याधर और सिद्धत्व की भी आकांक्षा नहीं करनी चाहिए।" बृहत्संहिता में भी इसी का समर्थन किया गया है—"देव पद की भी आकांक्षा मत करो फिर हरि के गुणों की बराबरी का प्रश्न ही क्या है, प्रजापति, ऋषि गन्धर्व आदि की बराबरी का प्रयास भी नहीं करना चाहिए।" ऋषि आदि की बराबरी विशेष लोगों के लिए दोष नहीं है। सामान्य लोगों के लिए करना दोष है" ऐसा भी एक मत है।

ॐ बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॐ ।३।४।६।४३।।

देवर्षिगन्धर्वादिपदेभ्योऽन्यत्र शुभविषय आकांक्षायां च न पतनम्।

"देवर्षिगन्धर्वाणां पदाकांक्षी पतेद् ध्रुवम्।
अन्यत्र शुभमाकांक्षन्न पतेदविरोधतः।।"

इति स्मृतेः।

"नानात्वमेव कामानां नाकामः क्व च दृश्यते।
अतोऽविरुद्धकामः स्यादकामस्तेन भण्यते।।"

इत्याचाराच्च।

देवर्षि गन्धर्व पद की आकांक्षा के बिना यदि शुभ विषय की आकांक्षा से इन रूपों को चाह है तो पतन नहीं होगा। जैसा कि स्मृति का वचन है—

"देवर्षि गन्धर्व पद की आकांक्षा करने वाला निश्चित गिरेगा, यदि शुभ कार्य की आकांक्षा है तो नहीं गिरेगा।" अनेक प्रकारों की कामना वाला निष्काम कैसे हो सकता है, जो कामना शुभ दृष्टि से होती है उसे अकाम कहते हैं।" ऐसा आचार का नियम है, इससे भी उक्त बात पुष्ट होती है।

ॐ स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॐ ।३।४।६।४४।।

"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादिफलं स्वामिनां देवानामेव भवति "यद्रु किं चेमाः प्रजाः शुभमाचरन्ति देवा एव तदाचरन्ति यद्रु किं चेमाः प्रजा विजानते देवा एतद् विजानते देवा ह्येतद् भवति स्वामी हि फलमश्नुते नास्वामी कर्म कुर्वाणः" इति माध्यन्दिनायन-श्रुतेरित्यात्रेयो मन्यते।

"ब्रह्मवेत्ता परमात्मा प्राप्ति करता है "इत्यादि फल स्तुति देवताओं से सम्बद्ध है ऐसी आत्रेय आचार्य की मान्यता है, अपने मत की पुष्टि के लिए वे माध्यन्दिनायन श्रुति को प्रस्तुत करते हैं—'यह प्रजा क्या शुभाचरण करती है देवता ही सही आचरण करते हैं, यह प्रजा क्या ब्रह्म को जानती है, देवता ही सही रूप से जानते हैं, देवता ही वास्तविक समर्थ स्वामी ही फल प्राप्त कर सकते हैं, अस्वामी नहीं।"

ॐ आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रियते ॐ ।३।४।६।४५।।

सत्रयागेष्वृत्विजानामपि फलदर्शनादल्पं फलं प्रजानामपि भवती-त्यौडुलोमिर्मन्यते। तदर्थं देवैः क्रियमाणत्वात्।

सत्र और यागों में कुछ फल ऋत्विग् और प्रजा को भी प्राप्त हो जाता है ऐसी औडुलोमि आचार्य की मान्यता है। देवता ही उन लोगों को कुछ फल दे देते हैं।

ॐ सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॐ ।३।४।६।४६।।

तृतीयः स्वपक्षः देवानां ज्ञानादिकर्मणि सहकार्यन्तरत्वेन प्रजा विधीयन्ते। यथा प्रजावन्तो राज्ञः प्रजा सहकारित्वेन विधीयन्ते। यथा वाचार्यस्य शिष्याः। वाराहे च-

"ज्ञानादिदान देवानां विष्णुना साधु चोदितम्।
वेदेषु तेषां विहितं तत्राचार्यो महत्तरः।।
विहितः सहकारित्वे सहकार्यन्तरं प्रजाः।
पातृत्वेन यथा राज्ञो तथा शिष्या गुरोरपि।।
तस्माद्भुतं फलं तासामाचार्याणां महत्तरम्।
ततो महत्तरं प्रोक्तं देवानामुत्तरोत्तरम्।।" इति।

अब तीसरा अपना मत सूत्रकार बतलाते हैं कि—जैसे कि राजा प्रजा के सहयोग से कार्य करके फलावाप्ति करते हैं या गुरु शिष्य के सहयोग से करते हैं वैसे ही देवता प्रजा के सहयोग से ज्ञानआदि में फलावाप्ति करते हैं। जैसा कि बाराह पुराण में कहते भी हैं—"विष्णु की शुभ प्रेरणा से देवताओं में ज्ञान आदि की प्राप्ति होती है, वेदों में उनका विधान है, इसलिए ज्ञान आदि के सर्व-श्रेष्ठ आचार्य तो वे ही हैं। जैसे कि राजा अपनी प्रजा के एवं गुरु अपने शिष्य के सहयोग से कार्य संपादन करते हैं वैसे ही देवता के ज्ञानादि कार्मों में प्रजा का भी साहचर्य रहता है, इसलिए फल उन महान् आचार्यों को ही प्राप्त होता है ऐसा कहते हैं उनमें भी श्रेष्ठ देवता हैं, उन्हें सर्वश्रेष्ठ फल प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रजा, ऋत्विग् और देवता उत्तरोत्तर श्रेष्ठ फल के भागी हैं।"

ॐ कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॐ।३।४।८।४७।।

"कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान् विदधत्" इत्युक्त्वा "न च पुनरावर्तते" इति गृहिणोपसंहारः क्रियते, तस्माद् गृहस्थस्यैवोत्तमत्वमिति न वाच्यम्, यतः कृत्स्नगृहस्थान् देवानपेक्ष्यै-वोपसंहारः क्रियते। "कृत्स्ना ह्येते गृहिणो देवाः कृत्स्ना ह्येते यत-योऽत एतेषां न पुत्रा दायमुपयन्ति न चैते गृहान् विसृजन्त्यरागा अद्वेषा अलोभाः सर्वभोगाः सर्वज्ञाः सर्वकर्त्तारः" इति पौत्रायणश्रुतिः।

"कुटुम्ब में पवित्रापूर्वक भगवद्भजन करते और पुत्र शिष्यों को कराते हुए धार्मिक बनाओ" ऐसा कहकर "वह पुनः नहीं लौटते" ऐसा गृहस्थ में ही उपसंहार किया गया है इसका तात्पर्य यह नहीं है कि—गृहस्थाश्रम ही सर्व-श्रेष्ठ है, पूर्ण ग्रहस्थ देवताओं की दृष्टि से यह उपसंहार किया गया है जैसे पौत्रायण श्रुति से निश्चित होता है—"ये देवता ही पूर्ण ग्रहस्थ हैं ये ही पूर्ण

यति हैं, इन लोगों के पुत्र तो दाय भाग प्राप्त करते नहीं, न ये गृहों को त्यागते ही हैं, फिर ये अराग, अद्वेष, अक्षोभ, सर्वभोग, सर्वज्ञ और सर्वकर्ता है।"

ॐ मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॐ ।३।४।८।४८।।

न चाश्रमद्वयमेव देवानाम् । "देवा एव ब्रह्मचारिणो, देवा एव गृहस्था देवा एव वनस्था यथा ह्येतेऽमुत्र य एवं सर्ववर्णाः सर्वाश्रमाः सर्वं ह्येते कर्म कुर्वन्ति" इति कौण्डरव्यश्रुतौ यतित्वदृष्टान्तेनान्येषामप्युपदेशात् ।

देवताओं के दो आश्रमों का ही वर्णन नहीं है अपितु –"देवता ब्रह्मचारी हैं, देवता गृहस्थ हैं, देवता वनस्थ हैं, जैसे ये मुनि कर्म करते हैं वैसे ही वे भी सर्ववर्ण और सर्वाश्रम के कर्म करते हैं "इत्यादि कौण्डरव्यश्रुति में सभी आश्रम और वर्णों का उल्लेख किया गया है।

९ अधिकरण

ॐ अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॐ ।३।४।९।४९।।

"एतां विद्यामधीत्य ब्रह्मदर्शी बाव भवति" स एतां मनुष्येषु विब्रूयात् । "यथा यथाह वै ब्रूयात्तथा तथाधिको भवति" इति माठरश्रुतौ विद्यादानं श्रूयते । तच्च बहूनां स्वीकरणधर्माविष्कारेणेति न मन्तव्यम् । अन्वयाद्युक्तेः आविष्कारेऽयोग्यानामपि स्वीकारप्राप्तिः । तच्च निषिद्धम् । "मानस्तेनेभ्यो ये अभिद्रुहस्पदे निरामिणो रिपवोऽन्नेषु जागृधुः । येषां नैतन्नापरं किञ्च नैक ब्रह्मणस्पते ब्रूहि तेभ्यः कदाचित् । अथोपशमेनोपरता मनुष्या ये धर्मिणो ब्रूहि तेभ्यः सदा नः । आदेवानामोहते विक्रमो हृदि बृहस्पते न परः साम्नो विदुरिति विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि । अनार्यकायानृजवे शठाय न मां ब्रूया ऋजवे ब्रूहि नित्यम्" इति च ।

१० अधिकरण

ॐ ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॐ ।३।४।९।५०।।

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इति दर्शनार्थं श्रवणादि विधीयते । तच्च दर्शनमैहिकमेव प्रारब्धप्रतिबन्धाभावे । "श्रुत्वात्मानं भति पूर्वं ह्युपास्य इहैव दृष्टिं परमस्य विदेत्, यद्यारब्धं कर्म निबन्धक स्यात्प्रेत्यव पश्येद्या गमेत्त्वान्वेक्ष्य" इति सौपर्णश्रुतौ तद्दर्शनात् ।

"अनादिजन्मसम्बद्धं निर्भेत्तुं पापपञ्जरम् ।
यावत्या सेवया शक्यं तावत् कार्यं न संशयः ।।
यावद् दूरे स्थितो गम्यात्तावद् गंतव्यमेव हि ।
इह जन्मान्तरे वापि तावत्यैव तु दर्शनम् ।।
श्रवणं मननं चैव निदिध्यासनमेव च ।
परे गुरौ च या भक्तिः परिचर्यादिकं हरेः ।।
एषां सेवेति संप्रोक्ता यया तद्दर्शनं भवेत् ।"

इति बृहत्संहितायाम् ।

"अरे आत्मा ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मंतव्य और निदिध्यासितव्य है" इस श्रुति में दर्शन के लिए ही श्रवणादि का विधान किया गया है। दर्शन प्रारब्ध बन्धन के नष्ट हो जाने पर इस लोक में ही मिल सकता है जैसा कि सौपर्णश्रुति में स्पष्ट कहा गया है "आत्मा के माहात्म्य को सुनकर दत्तचित होकर उपासना करके यहो परमात्मा का दर्शन पाना चाहिए। यदि प्रारब्ध कर्म निबन्धक रूप शेष रह जाएँ तो शरीर त्यागकर दर्शन करे, या योग से करे।" बृहत्संहिता में उसी का समर्थन करते हैं--"अनादि जन्मों के पाप पञ्जर को काटने के लिए, जितनी परिचर्या आवश्यक हो उतनी अवश्य करनी चाहिए। गम्य स्थान जितनी दूर हो उतनी दूर तक अवश्य जाना चाहिए, इस जन्म में या जन्मान्तर में उसका दर्शन होगा ही। श्रवण, मनन, निदिध्यासन, परमात्मा और गुरु में भक्ति, भगवत्सेवा, ये ही भगवत् साक्षात्कार के साधन बतलाए गए हैं।"

११ अधिकरण

ॐ एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ॐ ।३।४।५१।

एवमेव प्रारब्धकर्माभावे शरीरपातनानन्तरमेव मोक्षः । तदभावे जन्मान्तराणीत्यनियमः । "धर्मी स्वर्गं विधर्मी निरयमेत्येव ब्रह्मसंस्थो अमृतमेत्यव ब्रह्मसंस्थममृतमेत्येव" इति ब्रह्मसंस्थस्य मोक्षस्यैव धारणात् ।

"विद्वानमृतमाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ।
अवसन्नं यदारब्धं कर्म तत्रैव गच्छति ॥
न चेद् बहूनि जन्मानि प्राप्यैवान्ते न संशयः ।"

इति नारायणाध्यात्मे ।

इसी प्रकार प्रारब्ध कर्म के नष्ट हो जाने पर शरीर पात के बाद ही मोक्ष होता है। नष्ट न होने पर अन्यजन्मों में होगा, कोई निश्चित नहीं है। "धर्मी स्वर्ग जाता है विधर्मी नरक जाता है, भगवद् भक्त अमर होता है, भगवद् भक्त अमर होता है "इत्यादि में भगवद् भक्ति के मोक्ष को निश्चित कहा गया है भगवत् स्वरूप का ज्ञाता निःसंदेह मुक्त होता है "जिस समय आरब्ध कर्म नष्ट हो जाते हैं तभी भगवद् प्राप्ति हो जाती है, यदि नष्ट होने में कुछ कमी रह जाती है तो, अनेक जन्मों में निःसंदेह प्राप्ति होती है" ऐसा नारायणाध्यात्म का वचन है।

तृतीय अध्याय चतुर्थपाद समाप्त

चतुर्थ अध्याय—प्रथमपाद

१ अधिकरण

फलं निगद्यतेऽस्मिन्नध्याये । कर्मनाशाख्यं फलमस्मिन् पादे । नित्यशः कार्यं सर्वथा भाव्यं साधनं प्रथमत उच्यते । प्रायिकत्वाच्चाध्यायानां पादानां च न विरोधः ।

इस अध्याय में फल का निरूपण करते हैं। इस पाद में कर्मनाश नामक फल का निरूपण करेंगे। सर्व प्रथम नित्य करने वाले साधनों का निरूपण करते हैं, जिनसे फलप्राप्ति होती है। प्रायः अध्यायों और पादों का विरोध नहीं होता, एक दूसरे के पूरक ही होते हैं।

ॐ आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॐ ।४।१।१।१॥

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादिना नाग्निष्टोमादिवदेकवारेणैव फलप्राप्तिः । किन्त्वावृत्तिः कर्त्तव्या । "एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वम्" इत्याद्यसकृदुपदेशात् ।

"अरे ! आत्मा को देखना चाहिए, सुनना चाहिए मनन करना चाहिए, निदिध्यासन करना चाहिए" इत्यादि साधनों को अग्निष्टोम आदि की तरह एक बार करने मात्र से फल प्राप्ति नहीं होती, किन्तु बार-बार करना चाहिए। "यह अणिमा है यह सारा जगत आत्म्य है" इत्यादि में बार-बार उपदेश दिया गया है।

ॐ लिङ्गाच्च ॐ ।४।१।१।२॥

"स तपोऽतप्यत पुनरत्र वरुणं पितरमुपससारेत्याद्यावर्त्तनलिङ्गाच्च ।

"नित्यशः श्रवणं चैव मननं ध्यानमेव च ।
कर्त्तव्यमेव पुरुषैर्ब्रह्मदर्शनमिच्छुभिः ॥"

इति बृहत्तंत्रे ।

"उसने तप किया पुनः वरुण पिता के पास आया। इत्यादि में आवृत्तन का उल्लेख किया गया है इससे भी आवृत्ति की बात निश्चित होती है। बृहत्तंत्र में भी इसी का समर्थन किया गया है। "श्रवण, मनन, ध्यान इत्यादि साधन, भगवद् दर्शनाभिलाषी को नित्य करने चाहिए।"

२ अधिकरण

ॐ आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॐ ।४।१।२।३॥

आत्मेत्युपदेश उपासनं च मोक्षार्थिभिः सर्वथा कार्यमेव "नान्यं विचिन्तय आत्मानमेवाहं विजानीयामात्मानमुपास आत्मा हि ममैष भवतीति" ह्युपगच्छन्ति । "आत्मेत्येवोपास्स्व आत्मेत्येव विजानीहि नान्यत् किञ्चन विजानीथ आत्मा ह्येवैष भवतीति" ग्राहयन्ति च ।

"आत्मेत्युपासनं कार्यं सर्वथैव मुमुक्षुभिः ।
नानाक्लेशसमायुक्तोऽप्येतावन्नैव विस्मरेत ॥"

इति भविष्यत्पर्वणि ।

"आत्मा विष्णुरिति ध्यानं विशेषणविशेष्यतः ।
सर्वेषां च मुमुक्षूणामुपदेशाच्च तादृशः ॥

कर्त्तव्यो नास्य हानेन कस्य चिन्मोक्ष इष्यते ।"

इति ब्राह्मे ।

मोक्षार्थियों के लिए आत्मा की उपासना का उपदेश दिया है उसकी उपासना अवश्य करनी चाहिए जैसा कि श्रुतियों में स्पष्ट कहते हैं—"अन्य का चिन्तन मत करो, मैं आत्मा को ही जानता हूँ, इसलिए आत्मा की ही उपासना करो" आत्मा को ही उपासना करो, आत्मा को ही जानो किसी अन्य को जानने की चेष्टा मत करो "इत्यादि । भविष्यत् पर्व में भी ऐसा ही कहते हैं—"मुमुक्षुओं को एकमात्र आत्मा की ही उपासना करनी चाहिए, अनेक कष्टों को सहते हुए भी इसे नहीं भुलाना चाहिए।" आत्मा, साक्षात् विष्णु है, आत्मा उसका विशेषण है वह विशेष्य है इसी भाव से उसका ध्यान करना चाहिए सभी मुमुक्षुओं के लिए ऐसा ही उपदेश दिया गया है । इसको भुलाकर किसी का मोक्ष नहीं हो सकता ।" इत्यादि ब्रह्म पुराण का भी वचन है ।

३ अधिकरण

ॐ प्रतीके न हि सः । ।४।१।३।४।।

"नामब्रह्मेत्युपास्ते" इत्यादिना शब्दभ्रान्त्या न प्रतीके ब्रह्मदृष्टिः कार्या, किन्तु तत्स्थत्वेनैवोपासनं कार्यम् । ब्रह्मतर्के च—

"नामादिप्राणपर्यन्तमुभयोः प्रथमात्वतः ।
ऐक्यदृष्टिरिति भ्रान्तिरबुधानां भविष्यति ॥
नामादिस्थितिरेवात्र ब्रह्मणो हि विधीयते ।
सर्वार्था प्रथमा यस्मात्सप्तम्यर्था ततो भवेदिति ॥"

"नाम ब्रह्म की उपासना करते हैं" इत्यादि में कहे गये शब्द की भ्रान्ति से प्रतीक में ब्रह्मदृष्टि नहीं करनी चाहिए अपितु उसमें स्थित ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए जैसा कि ब्रह्मतर्क में स्पष्ट कहते भी हैं—"नाम से लेकर प्राण पर्यन्त विशेष्य विशेषण में प्रथमा विभक्ति (कर्त्ताकारक) का प्रयोग किया गया है, इसलिए अज्ञानियों को भ्रान्ति हो जाती है और वे ऐक्यदृष्टि कर बैठते हैं, नाम आदि में स्थित ब्रह्म की उपासना की ही उपदेश दिया गया है जहाँ सर्वार्थ प्रथमा विभक्ति होती है, उसे सप्तम्यर्थ मानना चाहिए ।

४ अधिकरण

ॐ ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ।४।१।४।५।।

ब्रह्मदृष्टिश्च सर्वथा कार्यैव परमेश्वरे, उत्कृष्टत्वात् ।

"ब्रह्मदृष्ट्या सदोपास्यो विष्णुः सर्वैरपि ध्रुवम् ।
महत्त्ववाची शब्दोऽयं महत्त्वज्ञानमेव हि ॥
सर्वतः प्रीतिजनकमतस्तत्सर्वथा भवेत् ।
आत्मेत्येव यदोपासा तदा ब्रह्मत्वसंयुता ।
कार्यैव सर्वथा विष्णोर्ब्रह्मत्वं न परित्यजेत् ॥"

इति ब्रह्मतर्के ।

ब्रह्मदृष्टि, एकमात्र परमेश्वर में ही करनी चाहिए क्योंकि वे ही सर्वोत्कृष्ट हैं, जैसा कि ब्रह्मतर्क के वचन से स्पष्ट हो जाता है—"ब्रह्म की दृष्टि से एकमात्र विष्णु की ही, सबको उपासना करनी चाहिए क्योंकि ब्रह्म शब्द महत्त्ववाची है, महत्त्वज्ञान के लिए ही इसका प्रयोग आता है । परमात्मा, प्राणिमात्र को आनन्दित करने वाले हैं इसलिए इस शब्द का प्रयोग उन्हीं के लिए उपयुक्त है, जहाँ आत्मा की उपासना का उल्लेख किया गया है वहाँ ब्रह्मत्व जुड़ा हुआ है, इसलिए विष्णु में एकमात्र ब्रह्मत्व दृष्टि करना चाहिए उसे नहीं भूलना चाहिए ।"

५ अधिकरण

ॐ आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॐ ।४।१।५।६।।

"चक्षोः सूर्यो अजायत" इत्याद्युपासनं च देवानां कार्यमेव स्वोत्पत्तिस्थानत्वात् स्वाश्रयत्वान्मुक्तौ तत्र लयस्यापेक्षितत्वात् चोपपन्नं तेषां तथोपासनम् । नारायणतन्त्रे च—

"आधिव्याधिनिमित्तेन विक्षिप्तमनसोऽपि तु ।
गुणानां स्मरणाशक्तौ विष्णोर्ब्रह्मत्वमेव तु ॥
स्मर्त्तव्यं सततं तत्तु न कदाचिद् परित्यजेत् ।
अत्र सर्वगुणानां च यतोऽन्तर्भाव इष्यते ।।

स्वोत्पत्त्यङ्गं च देवानां विष्णोश्चिन्त्यं सदैव तु ।
तेषां तत्र प्रवेशो हि मुक्तिरित्युच्यते बुधैः ॥
तदाश्रिताश्च ते नित्यं ततश्चिन्त्यं विशेषतः ।'' इति

"नेत्र से सूर्य हुआ" इत्यादि में जो स्वरूप वर्णन किया गया है उसकी उपासना देवताओं को करनी चाहिए, क्योंकि वह उनका उत्पत्ति स्थान और आश्रय है, अतः वे ही उसमें लीन होते हैं अतः उन्हें ही उपासना करनी चाहिए। जैसा कि नारायण तंत्र में कहते हैं—"आधिव्याधि से व्यग्र मन को शान्त करने के लिए विष्णु के ब्रह्मत्व और गुणों के स्मरण से बड़ी शक्ति मिलती है, यदि गुणों का स्मरण करने में असमर्थता प्रतीत हो तो ब्रह्मत्व को कभी नहीं भुलाना चाहिए उसका निरन्तर स्मरण करना चाहिए, इसमें सारे गुण समाए हुए हैं। देवता भगवान के जिस अंग से उत्पन्न हुए हैं, उन्हे तदनुसार ही विष्णु का चिन्तन करना चाहिए, उसमें प्रविष्ट हो जाना ही देवताओं की मुक्ति कही गई है। वे सब परमात्मा के ही आश्रित, हैं, इसलिए उन्हें विशेष रूप से आराधना करनी चाहिए।"

६ अधिकरण

ॐ आसीनः सम्भवात् ॐ ।४।१।६।७॥

सर्वदोपासनं कुर्वन्नप्यासीनो विशेषतः कुर्यात् । तदा विक्षेपाल्पत्वे न संभवात् ।

सर्वदा उपासना करते रहना चाहिये किन्तु जब विशेष उपासना करें तो बैठकर ही करें, उससे विक्षेप कम होता है।

ॐ ध्यानाच्च ॐ ।४।१।६।८॥

"स्मरणोपासनं चैव ध्यानात्मकमिति द्विधा ।
स्मरणं सर्वदा योग्यं ध्यानोपासनमासने ॥''
नैरन्तर्यं मनोवृत्तेर्ध्यानमित्युच्यते बुधैः ।
आसीनस्य भवेत्तत्तु न शयानस्य निद्रया ॥
स्थितस्य गच्छेतो वापि विक्षेपस्यैव संभवात् ।
स्मरणात् परमं ज्ञेयं ध्यानं नास्त्यत्र संशयः ॥''

इति नारायणतंत्रे अतो ध्यानत्वाच्च ।

"स्मरण और ध्यान ये उपासना के दो रूप हैं। स्मरण चलते फिरते, उठते बैठते, खाते, पीते, सोते, हर अवस्था में करना चाहिए। किन्तु ध्यान आसन लगाकर ही करना चाहिए। मन की वृत्ति का निरन्तर एक ओर लगना ही ध्यान कहा जाता है, जो कि बैठकर ही संभव है सोकर या लेटकर नहीं हो सकता, खड़े होकर या चलकर करने से विक्षेप हो सकता है। स्मरण से ध्यान श्रेष्ठ है इसमें संदेह नहीं।" ऐसा नारायण तंत्र में कहा गया इसलिए ध्यान से भगवत्प्राप्ति को सूत्रकार महत्व देते हैं।

ॐ अचलत्वं चापेक्ष्य ॐ ।४।१।६।९॥

"अचलं चेच्छरीरं स्यान्मनसस्याप्यचालनम् ।
चलने तु शरीरस्य चञ्चलं तु मनो भवेत् ॥''

इति ब्रह्माण्डे ।

"शरीर की अचलता से मन भी स्थिर हो जाता है, शरीर के चलने से मन भी चंचल हो जाता है" ऐसा ब्रह्माण्ड पुराण का वचन भी है।

ॐ स्मरन्ति च ॐ ।४।१।६।१०॥

"समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥'' इत्यादि ।

"काय, शिर, गर्दन को सीधे करके स्थिर कर लेना चाहिए फिर इधर-उधर से देखकर अपनी नासिका के अग्रभाग को ही देखते हुए ध्यान करना चाहिए" इत्यादि स्मृति वचन भी हैं।

ॐ यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॐ ।४।१।६।११॥

देशकालावस्थादिषु यत्रैकाग्रता भवति तत्रैव स्थातव्यम्

"तमेव देशं सेवेत तं कालं तामवस्थितम् ।
तामेव भोगान् भुञ्जीत मनो यत्र प्रसीदति ॥
न हि देशादिभिः कश्चिद्विशेषः समुदीरितः ।
मनःप्रसादनार्थं हि देशकालादिचिन्तनम् ॥''

इति बाराहे ।

जिस स्थान, जिस काल और जिस अवस्था में एकाग्रता हो उसी जगह उसी समय उसी अवस्था में ध्यान करना चाहिए। जैसा कि वाराह पुराण में कहते हैं—"उसी स्थान, उसी काल और उसी स्थिति में ध्यान करना चाहिए और उन्हीं भोगों को भोगना चाहिए, जिससे मन प्रसन्न होता हो। स्थान विशेष आदि का कोई विशेष नियम नहीं है, मन की प्रसन्नता की दृष्टि से ही देश काल आदि पर विचार करना चाहिए।"

७ अधिकरण

ॐ आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॐ ।४।१।७।१२।।

यावन्मोक्षस्तावदुपासनादि कार्यम्। "स यो ह वै तद् भगवन् मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत" इति हि श्रुतिः। "सर्वदैनमुपासीत यावद् विमुक्तिर्मुक्ता अपि ह्येनमुपासते" इति सौपर्णश्रुतिः।

"श्रृणु यावदज्ञानं मतिर्यावद्युक्तता।
ध्यानं च यावदीक्षा स्यान्नेक्षा क्वचन बाध्यते।।
दृष्टतत्त्वस्य च ध्यानं यदा दृष्टिर्न विद्यते।
भक्तिश्चानन्तकालीना परमे ब्रह्मणि स्फुटा।।
आविमुक्तेर्विधिर्नित्यं स्वत एव ततः परम्।"

इति ब्रह्माण्डे।

जब तक मोक्ष न हो तब तक उपासना आदि करनी चाहिए। जैसी कि श्रुति भी है—"भगवन्! यह वही है, जिसे मनुष्य मोक्ष पर्यन्त ओंकार रूप से ध्यान करते है?" इसकी उपासना सदैव करनी चाहिए जब तक शरीर न छूट जाय, शरीर के बाद शरीरान्तर में भी उपासना करनी चाहिए। "ऐसी सौपर्ण श्रुति भी है।" तब तक भगवत्तत्त्व का श्रवण करो जब तक अज्ञान और विपरीत मति, नष्ट न हो जाए, ध्यान तब तक करो जब तक तुम्हारी वैषयिक इच्छाएँ तुम्हें सताती रहें। ध्यान में, जब तक दृष्ट तत्त्व दृष्टिगत न हो जाए तब तक करना चाहिए, अनन्त कालीना परमात्मा कि की गई भक्ति से ही, तत्त्व का प्रकाश होता है, दृष्टि खुलती है। "इसलिए मुक्ति पर्यन्त उपासना की विधि स्वाभाविक हैं, तभी परमात्व प्राप्ति संभव है।" इत्यादि ब्रह्माण्ड पुराण का वचन उक्त कथन को ही पुष्ट कर रहा है।

८ अधिकरण

ॐ तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॐ
।४।१।८।१३।।

ब्रह्मदर्शने उत्तराघस्याश्लेषः पूर्वाघस्य विनाशश्च "तद् यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवं विदि पापं न श्लिष्यते" "तद्यथैषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हैवास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" इति तद्व्यपदेशात्।

ब्रह्म साक्षात् हो जाने पर होने वाले पापों के श्लेष की संभावना नहीं रहती तथा पूर्वकृत पापों का नाश हो जाता है। जैसा कि—"जैसे कि कमल के पत्ते में जल का श्लेष नहीं होता, उसी प्रकार परमात्मा को जान लेने पर पापों का श्लेष नहीं होता" जैसे कि तिनके और रुई अग्नि में गिरकर भस्म हो जाते हैं वैसे ही उपासक के सारे पाप भस्म हो जाते हैं।" इत्यादि उपदेश से निश्चित होता है।

ॐ इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॐ ।४।१।८।१४।।

पुण्यस्याप्येवमसंश्लेषः पाते। तुशब्दोऽनुत्थानवाची।

"यथाऽश्लेषो विनाशश्च मुक्तस्य तु विकर्मणः।
एवं सुकर्मणश्चापि पततस्तमसि ध्रुवम्।।" इत्याग्नेये।

पुण्य का भी असंश्लेष और विनाश हो जाता है! सूत्र में तुशब्द अनुत्थानवाची है। अग्नि पुराण में स्पष्ट उल्लेख हैं कि—"जैसे कि मुक्त व्यक्ति के पापकर्मों का अश्लेष विनाश होता है उसी प्रकार पुण्यकर्म भी अन्धंतम में जानेवालों का हो जाते हैं।"

ॐ अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॐ ।४।१।८।१५।।

अनारब्धकार्ये एव पूर्वे पुण्यपापे विनश्यतः। "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्यते" इति तदवधेः। तुशब्दः स्मृतिद्योतकः।

"यदनारब्धपापं स्यात्तद् विनश्यति निश्चयात्।

पश्यतो ब्रह्मनिर्द्वन्दं हीनं च ब्रह्म पश्यतः ॥
द्विषतो वा भवेत् पुण्यनाशो नास्त्यत्र संशयः ।
तस्याप्यारब्धकार्यस्य न विनाशोऽस्ति कुत्रचित् ॥
आरब्धयोश्च नाशः स्यादल्पयोः पुण्यपापयोः ।''
इति च नारायणतन्त्रे ।

जिनका भोग प्रारम्भ नहीं हुआ है उन्हीं पूर्व पुण्यपापों का नाश होता है, प्रारब्ध का तो भोग हो जाने पर ही नाश होता है. जैसा कि—"उसकी मुक्ति में तभी तक का विलम्ब है जब तक शरीर पात नहीं होता" इत्यादि श्रुति में स्पष्ट कहा गया है। इस सूत्र में तुशब्द स्मृति का द्योतक है। नारायण तंत्र में इसे और स्पष्ट करते है—"जो पाप भोग के लिए प्रारम्भ नहीं होते उनका नाश तो निश्चित ही हो जाता है, ब्रह्म को देखकर निर्द्वन्द्व हो जाता है, तथा ब्रह्म दर्शन से व्यक्ति हल्का हो जाता है, निश्चित ही उसके शत्रु पुण्य और पाप का नाश हो जाता है, किन्तु उसके प्रारब्ध भोगों का नाश नहीं होता, किन्तु प्रारब्ध पुण्यपाप का भोग हल्का अवश्य हो जाता है।"

ॐ अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॐ ।४।१।८।१६॥

अग्निहोत्राद्यपि मोक्षानुभवार्थं, तुशब्दाद्ब्रह्मदर्शनवतः । "स एनमविदितो न भुनक्ति यथा वेदो वा अननूक्तोऽन्यद्वा कर्माकृतम् यदि ह वा अप्यनेवं विन्महत्पुण्यं कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एवात्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयतेऽस्माद् ह्येवात्मनो यद् यद् कामयते तत्तत्सृजते'' इति दर्शनात् ।

अग्निहोत्र आदि भी मोक्ष के सहयोगी साधन हैं। ब्रह्म द्रष्टा के लिए सहयोगी है ऐसा तु शब्द से सूत्रकार बतलाते हैं। "जो इन्हें नहीं जानता वह नहीं भोगता।

ॐ अतोऽन्यदपीत्येकेषामुभयोः ॐ ।४।१।८।१७॥

मुक्तावनुभवकारणाद्यन्यत्तत्पुण्यमपि विनश्यति । अप्रारब्धमनभीष्टं च । तथा ह्येकेषां पाठ उभयोस्त्यागेन । "तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति, सुहृदः साधु कृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्'' इति ।

"अनभीष्टमनारब्धं पुण्यमप्यस्य नश्यति ।
किमु पापं परं ब्रह्म ज्ञानिनो नात्र संशयः ॥''
इति पाद्मे ।

मुक्ति में अनुभव के कारण जो पुण्य होता है वह भी नष्ट हो जाता है, अप्रारब्ध और अनभीष्ट का भी नाश हो जाता है। एक श्रुति में दोनों पुण्यकर्म मित्रों को तथा पापकर्म शत्रुओं को प्राप्त होते हैं। "पद्म पुराण में भी इसका समर्थन करते हैं—"मुक्त पुरुष के अनारब्ध और अनभीष्ट पुण्य भी नष्ट हो जाते. हैं, पाप की तो चर्चा ही क्या है।"

ॐ यदेव विद्ययेति हि ॐ ।४।१।८।१८॥

ब्रह्मदर्शिकृतमल्पमपि पुण्यं महत्तममनन्तं च भवति । "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति'' इति श्रुतेः । न हास्य कर्म क्षीयते इति च ।

"अल्पमात्रकृतो धर्मो ह्यज्ञानां निष्फलो भवेत् ।''
इति च भारते ।

ब्रह्मदर्शी के थोड़े किए गए पुण्य भी महान और अनन्त होते हैं जैसा कि—"जो कुछ विद्या श्रद्धा और भक्ति से करते हैं वह अति प्रबल होते हैं "श्रुति से निश्चित होता है। इसके कर्म नष्ट भी नहीं होते। "भगवद् ज्ञान रहित व्यक्ति का किया हुआ कर्म थोड़ा भी नहीं लगता व्यर्थ हो जाता है। "ऐसा महाभारत का स्पष्ट वचन है।

ॐ भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ सम्पत्स्यते ॐ ।४।१।८।१९॥

आरब्धपुण्यपापे भोगेन क्षपयित्वा ब्रह्म सम्पत्स्यते ।
"प्राप्नोत्येव तमो घोरं ब्रह्म वा नात्र संशयः ।
ब्रह्मणां शतकालात्तु पूर्वमारब्धसंक्षयः ॥
नियमेन भवेन्नात्र कार्या काचिद् विचारणा ।''
इति च नारायणतंत्रे ।

साधक प्रारब्ध पुण्य पाप के भोग हो जाने के बाद ब्रह्म प्राप्ति करता है।

चतुर्थ अध्याय प्रथमपाद समाप्त

चतुर्थ अध्याय—द्वितीयपाद

१ अधिकरण

देवानां मोक्ष उत्क्रान्तिश्चास्मिन् पाद उच्यते—

ॐ वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॐ।४।२।१।१।।

वागभिमानिन्युमा मनोभिमानिनि रुद्रे विलीयते । वाचो मनोवशत्वदर्शनात् । "तस्य यावन्न वाङ्मनसि संपद्यते" इति शब्दाच्च ।

"उमा वै वाक् समुद्दिष्टा मनो रुद्र उदाहृतः ।
तदेतन्मिथुनं ज्ञात्वा न दाम्पत्याद् विहीयते ।।"
इति स्कान्दे ।

देवताओं के मोक्ष और उत्क्रान्ति का इस पाद में वर्णन करते हैं—
वाणी की अभिमानी देवता उमा, मन के अभिमानी रुद्र में विलीन होती है, वाणी को मन के वशंगत कहा गया है तथा "इसकी वाणी जब तक मन में नहीं मिलती" इत्यादि श्रुति से उक्त कथन की पुष्टि होती है। स्कन्द पुराण में भी इसका समर्थन है—"उमा को वाणी तथा मन को रुद्र कहा गया है, जो इन दोनों को जानता है, वह इन दोनों से विहीन नहीं होता।

ॐ अत एव च सर्वाण्यनु ॐ।४।२।१।२।।

अत एव च शब्दात् "सर्वाणि दैवतानि यथानुकूलं विलीयन्ते, अग्नौ सर्वे देवा विलीयन्ते, अग्निरिन्द्रे इन्द्र उमायां उमा रुद्रे विलीयते एवमन्यानि दैवतानि यथानुकूलमिति" च गौपवनश्रुतिः ।

इसी प्रकार गौपवन श्रुति से ज्ञान होता है कि—"सारे देवता यथानुकूल विलीन होते हैं, अग्नि में सारे देवता विलीन होते हैं, अग्नि इन्द्र में, इन्द्र उमा में, उमा रुद्र में विलीन होता है, वैसे ही अन्यान्य देवता यथानुकूल विलीन होते हैं।"

२ अधिकरण

ॐ तन्मनः प्राण उत्तरात् ॐ।४।२।२।३।।

मनः प्राण इत्युत्तराद् वचनान्मनोऽभिमानी रुद्रः प्राणे वायौ

विलीयते । "वायोर्वाव रुद्र उदेति वायौ विलीयते तस्मादाहुर्वायुर्देवानां श्रेष्ठः" इति कौण्डिन्यश्रुतिः ।

मन के बाद प्राण का उल्लेख है अतः मन के अभिमानी रुद्र प्राण के अभिमानी वायु में लीन होते हैं जैसा कि कौण्डिन्य श्रुति का वचन है—"वायु से रुद्र प्रकट होते हैं वायु में ही लीन होते है, इसीलिए देवताओं में वायु को श्रेष्ठ कहा गया है।"

३ अधिकरण

ॐ सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॐ।४।२।३।४।।

स प्राणः परमात्मनि विलीयते "सर्वे प्राणमुपगच्छन्ति, प्राणः परममुपगच्छति, प्राणं देवा अनुप्राणन्ति, प्राणः परमनुप्राणिति, तस्मादाहुः प्राणस्य प्राणः" इति प्राणः परस्यां देवतायाम् । "मुक्ताः सन्तोऽग्निमाविश्य देवाः सर्वेऽपि भुञ्जते अग्निरिन्द्रं तथेन्द्रश्च वायुमाविश्य सोऽपि तु । आविश्य परमात्मानं भुंक्ते भोगांस्तु बाह्यकान्, न ह्यानन्दो निजस्तेषां परैर्लभ्यः कथंचन । किमु विष्णोः परानन्दो न ते विष्णु" इति श्रुतेः । "प्राणस्य तेजसि लयो मार्गमात्रमुदाहृतम्, सर्वेशितुश्च सर्वादेस्तस्यान्यत्र लयः कथम्" इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यः ।

वह प्राण परमात्मा में लीन होता है। "सब प्राण का अनुगमन करते हैं, प्राण परमात्मा का अनुगमन करता है, प्राण देवताओं को अनुप्राणित करता है, परमात्मा प्राण को अनुप्राणित करता है, इसीलिए परमात्मा को प्राण का प्राण कहा जाता है।" इससे निश्चित होता है प्राण परमात्मा में लीन होता है। "मुक्त होकर सारे देवता अग्नि में विलीन होकर भोगते हैं अग्नि इन्द्र में इन्द्र वायु में प्रविष्ट होकर भोगते हैं। परमात्मा में प्रविष्ट होकर बाह्य भोगों को भोगते हैं, उन्हें स्वतः आनन्द नहीं मिलता वह तो परमात्मा से ही प्राप्त करते हैं, विष्णु के परानन्द का क्या कहना है।" प्राण की तेज में जो लय कहा गया है वह तो मार्गमात्र बतलाया गया है, सर्वेश सर्वादि के अतिरिक्त अन्यत्र प्राण का लय हो भी कैसे सकता है।" इत्यादि श्रुति से उक्त कथन की पुष्टि होती है।

४ अधिकरण

ॐ भूतेषु तच्छ्रुतेः ॐ ।४।२।४।५।।

भूतेष्वन्येषां देवानां लयः । भूतेषु देवा विलीयन्ते भूतानि परे न पर उदेति नास्तमेत्येकल एव मध्ये स्थातेति'' बृहच्छ्रुतेः ।

भूतों में अन्य देवताओं का लय होता है जैसा कि बृहत् श्रुति से स्पष्ट है — ''भूतों में देवता विलीन होते हैं, भूतों से पर कोइ नहीं है, वह परमात्मा से ही उत्पन्न होते हैं वे अस्त नहीं होते अकेले ही मध्य में स्थित रहते हैं।''

५ अधिकरण

ॐ नैकस्मिन् दर्शयतो हि ॐ।४।२।५।६।।

नैकस्मिन् भूते सर्वेषां देवानां लयः ''पृथव्यामृभवो विलीयन्ते, वरुणे अश्विनावग्नावग्नयो वायाविन्द्रः सोम आदित्यो बृहस्पतिरित्याकाश एव साध्या विलीयन्ते ।'' मृत्यवः पृथिव्यां वरुण आपोऽग्नयस्तेजसि मरुतो मारुत इति आकाशे विनायका विलीयन्ते ।'' इति महोपनिषदि चतुर्वेदशिखायां च दर्शयतः । ''अतोऽग्नौ देवा विलीयन्ते'' इति तत्र निर्दिष्टमेव ।

एक ही भूत में समस्त देवताओं का लय नहीं होता अपितु ''पृथिवी में ऋभु विलीन होते हैं, वरुण में अश्विनी कुमार, अग्नि में अग्नि, वायु में इन्द्र, सोम आदित्य और बृहस्पति आकाश में साध्य गणों के साथ विलीन होते हैं। ''मृत्यु पृथिवी में वरुण जल में, अग्नि तेज में मरुत, मरुत में और आकाश में विनायक विलीन होते हैं। ''ऐसा महोपनिषद और चतुर्वेद शिखा में स्पष्ट उल्लेख है। ''अग्नि में देवता विलीन होते हैं'' ऐसा वहीं निर्देश है।

६ अधिकरण

ॐ समनाचासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॐ।४।२।६।७।।

देशतः कालतश्च व्याप्त्या समो ना परमपुरुषो यस्याः सा समना संसारानुक्रमात् स्वत एवामृतत्वं तस्याः । बृहच्छ्रुतिश्च— ''द्वौ वाव सृत्यनुक्रमौ प्रकृतिश्च परमश्च द्वौ एतौ नित्यमुक्तौ नित्यौ च सर्वगतौ चैतौ ज्ञात्वा विमुच्यते ।'' इति नैतावता साम्यम् ।

देश काल में जो परमपुरुष के समान व्याप्त है उस प्रकृति को समान कहा गया है, संसार की सृष्टि के आदि से ही वह है इसलिए उसकी स्वाभाविक अमरता है। प्रकृति पुरुष की नित्यता का बृहत् श्रुति में स्पष्ट उल्लेख है— ''दो सृष्टि के आदि से ही हैं इन दोनों नित्य-मुक्त नित्य सर्वगत प्रकृति पुरुष को जानकर मुक्त हो जाता है।'' इन दोनों की समता नहीं है।

ॐ तदपीतेः संसारव्यपदेशात् ॐ।४।२।६।८।।

''समावेतौ प्रकृतिश्च परमश्च नित्यौ सर्वगतौ नित्यमुक्तौ असमावेतौ प्रकृतिश्च परमश्च विलीनो हि प्रकृतौ संसारमेति विलीनः परमे हि अमृतत्वमेति'' सौपर्णश्रुतेः ।

''सृष्टि अवस्था में प्रकृति और पुरुष समान रूप से नित्य सर्वगत नित्य मुक्त हैं किन्तु विलय अवस्था में इनकी समता नहीं है, प्रकृति में विलीन होकर संसार पाता है, परमपुरुष में लीन होकर अमृतत्व प्राप्त करता है।'' ऐसा सौपर्णश्रुति का वचन है।

ॐ सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॐ।४।२।६।९।।

सूक्ष्मत्वं चाधिकं ब्रह्मणः प्रकृतेः ज्ञानानन्दैश्वर्यादिप्रमाणाधिक्यं च ''सर्वतः प्रकृतिः सूक्ष्मा, प्रकृतेः परमेश्वरः, ज्ञानानन्दौ तथैश्वर्यं गुणाश्चान्येऽधिकाः प्रभोः'' इति हि श्रुतिः ।

ब्रह्म, प्रकृति से अधिक सूक्ष्म है, किन्तु ज्ञानानन्द आदि उसमें प्रकृति से अधिक हैं। जसा कि श्रुति का वचन है—''सबसे सूक्ष्म प्रकृति है, प्रकृति से सूक्ष्म परमेश्वर हैं, किन्तु प्रभु के ज्ञान आनन्द ऐश्वर्य गुण आदि सबसे अधिक है।''

ॐ नोपमर्देनातः ॐ।४।२।६।१०।।

अतस्तस्य ये विशेषगुणास्तेषामनुपमर्देनैव साम्यम् ।

''देशतः कालतश्चैव समा प्रकृतिरीश्वरे ।
उभयोरप्यबद्धत्वं तदबन्धः परात्मनः ।।
स्वत एव परेशस्य सा चोपास्ते सदा हरिम् ।

प्रकृतेः प्राकृतस्यापि ये गुणास्ते तु विष्णुना ।
नियता नैव केनापि नियता हि हरेर्गुणाः ॥"
इति भविष्यत्पर्वणि ।

परमात्मा के जो विशेष गुण हैं उनका साम्य प्रकृति में जो है भी वह भी स्पमर्द से नहीं है (अर्थात् प्रकृति, परमात्मा से घर्षित होती हैं, इसलिए साम्य हो सो बात नहीं है) जैसा कि भविष्यत् पर्व में स्पष्ट उल्लेख है —"देश और काल की दृष्टि से प्रकृति और ईश्वर में समता है, दोनों ही स्वतन्त्र हैं प्रकृति केवल परमात्मा के ही बंधन में रहती है, वह स्वतः ही परमात्मा की निरन्तर उपासना करती रहती है, प्रकृति के जो प्राकृत गुण है, वह विष्णु से ही उसे प्राप्त हैं, वह किसी से भी नियत नहीं है केवल परमात्मा के गुणों से नियत है ।"

ॐ अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा ॐ।४।२।६।११॥

द्विधा हीदमवदृश्यते ऊष्मावदनूष्मावच्च । "तत्रोष्मावत्परं ब्रह्म यन्न जिघ्रन्ति न पश्यन्ति न शृण्वन्ति न विजानन्ति । अथानूष्मावत् प्रकृतिश्च प्राकृतं च यन्न जिघ्रन्ति च यन्न पश्यन्ति पश्यन्ति च यन्न शृण्वन्ति शृण्वन्ति च यन्न जानन्ति जानन्ति च ।" इति सौपर्णश्रुतेः किंचित्साम्योपपत्तेः ।

जगत, शीतल और उष्ण दो प्रकार का दृष्टिगत होता है । "उसमें जो उष्णता है वह परब्रह्म की है, परमात्मा, न सूंघता है न देखता है, न सुनता है न जानता है, जो शीतलता है वह प्रकृति की और प्राकृत वस्तुओं की स्वाभाविक है, जो नहीं सूँघते और सूंघते भी हैं जो नहीं देखते देखते भी हैं, जो नहीं सुनते सुनते भी हैं जो नहीं जानते जानते भी हैं ।" इस सौपर्ण श्रुति में प्रकृति पुरुष में थोड़ा साम्य दिखलाया गया है ।

ॐ प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॐ।४।२।६।१२॥

असमो वा एष परमो न हि कश्चिदेवं दृश्यते । "सर्वे ह्येतेऽणवो जायन्ते म्रियन्ते च छिद्रा ह्येते भवन्ति, अथ परो न जायते न म्रियते पूर्णश्चैष भवति ।" इति चतुर्वेदशिखायां साम्यप्रतिषेधान्नेति चेन्न शरीराद् हि साम्यं प्रतिषिध्यते ।

यह सारा प्राकृत जगत् विसम है, परमात्मा में वैसी विसमता नहीं है । ये सारे अणु हैं जन्मते मरते हैं, इनमें न्यूनता होती है परमात्मा न मरता है न जन्मता है, परमात्मा से ही यह जगत्पूर्ण होता है ।" इस चतुर्वेद शिखा के वचन में साम्य का प्रतिषेध नहीं है ऐसा नहीं कह सकते । शरीर का दृष्टि से साम्य का प्रतिषेध स्पष्ट किया गया है ।

ॐ स्पष्टो हि एकेषाम् ॐ ।४।२।६।१३॥

अथातः समाश्चासमाश्चाभिधीयन्ते समासमाश्चाथ समानि ब्रह्मणो रूपाणि यैरुत्पत्तिस्थितिर्लयो नियतिरायतिश्चैकं ह्येवैतत् भवत्यथासमाः ब्रह्मेन्द्रो रुद्रः प्रजापतिर्बृहस्पतिर्ये के च देवा गन्धर्वा मनुष्याः पितरो सुरा यत्किंचेदं चरमचरं चाथ समासमा प्रकृतिर्वाव समासमा सैषा हि नित्याऽजरा तद्वशा चेति" स्पष्टो हि माध्यन्दिनायनानां समादिवादः ।

"अब सम असम की व्याख्या करते हैं—उत्पत्ति, स्थिति, लय, नियति और आयति ये ६ ही ब्रह्म के रूप सम हैं, इसी से ब्रह्म इन्द्र रुद्र प्रजापति बृहस्पति इत्यादि विसम देवता होते हैं तथा यह चराचर सम विसम प्रकृति होती है । यह सम-विसम प्रकृति नित्य अजर है और परमात्मा की वशंगता है ।" ऐसा स्पष्ट माध्यन्दिन शाखा में समादिवाद का विवेचन किया गया है ।

ॐ स्मर्यते च ।४।२।६।१४॥

"मत्स्यकूर्मवराहाद्याः समा विष्णोरभेदतः । ब्रह्माद्यास्त्वसमाः प्रोक्ताः प्रकृतिश्च समासमा ।" इति वाराहे । इति कौषारवश्रुतिः ।

"मत्स्यकूर्म वराह आदि अवतार विष्णु के अभिन्न रूप हैं इसलिए सम हैं ब्रह्मा आदि देवता असम हैं तथा प्रकृति सम-असम है ।" ऐसा वाराह पुराण का भी वचन है ।

७ अधिकरण

ॐ तानि परे तथा ह्याह ॐ ।४।२।७।१५॥

प्राणद्वारेण सर्वाणि दैवतानि परमात्मनि विलीयन्ते ।

"सर्वे देवाः प्राणमाविश्य देवे मुक्ता लयं परमे यान्त्यचिन्त्ये ।"
इति कौषाखश्रुतिः ।

प्राण के सकाशसे सारे देवता परमात्मामें विलीन होते हैं, जैसा कि कौषारव श्रुति का कथन है—"सारे देवता प्राण में प्रविष्ट होकर परम अचिन्त्य देव में लीन होकर मुक्त हो जाते हैं ।"

८ अधिकरण

ॐ अविभागो वचनात् ॐ ।४।२।८।१६।।

"एते देवा एतमात्मानमनुविश्य सत्याः सत्यकामाः सत्यसंकल्पा यथा निकाममन्तर्बहिः परिचरन्ति" इति गौपवनश्रुतिः । तत्पर-मेश्वरकामाद्यविभागेनैव तेषां सत्यकामत्वम् "कामेन मे काम आगाद् हृदयाद् हृदयं मृत्योः" इतिवचनात् ।

"मुक्तानां सत्यकामत्वं सामर्थ्यं च परस्य तु ।
कामानुकूलकामत्वं नान्यत्तेषां विधीयते ।।"
इति ब्राह्मे ।

"ये देवता इस परमात्मा में प्रविष्ट होकर सत्य सत्यकाम सत्यसंकल्प होकर इच्छानुसार बाहर भीतर भ्रमण करते हैं" ऐसी गौपवन श्रुति का वचन है। परमात्मा में प्रविष्ट होने के कारण परमेश्वर की कामना आदि से उनका सम्बंध जुड़ जाता है इसी से देवताओं का सत्यकामत्व है। "कामेन मे कामागात्" इत्यादि श्रुति से उक्त कथन की पुष्टि भी हो जाती है। ब्राह्म पुराण में उसे स्पष्ट कहा गया है—"मुक्त जीवों में सत्यकामत्व का सामर्थ्य, परमात्मा का ही है, कामानुकूल कामत्व, सिवा परमात्मा के उनमें और कहाँ से आ सकता है।"

९ अधिकरण

ॐ तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृति-योगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॐ ।४।१।९।१७।।

उत्क्रान्तिकाले हृदयस्याग्रे ज्वलनं भवति "तस्य हैतस्य हृद-स्याग्रं प्रद्योतते" इति श्रुतेः । तत्प्रकाशितद्वारो निष्क्रामति । विद्या-सामर्थ्यात् "यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्, तं तमेवैति

कौन्तेय सदा तद्भावभावितः" इति स्मृतेर्विद्याशेषगत्यनुस्मरणयो-गाच्च । आचार्यस्तु ते गतिं वक्तीति हि लिङ्गम् । "हृदिस्थेनैव हरिणा तस्यैवानुग्रहेण तु उत्क्रान्तिर्ब्रह्मरन्ध्रेण तमेवोपासते भवेत्" इति चाध्यात्मे । "शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तसां मूर्धाभिनिःसृतैका, तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विश्वगन्या उत्क्रमणे भवन्ति" इति च ।

उपासक जीवात्मा की जब शरीर से उत्क्रान्ति होती है तब हृदय के अग्र-भाग में ज्वाला होती है जैसा कि—"तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते ।" श्रुति से ज्ञात होता है। उस प्रकाश द्वारा दिखलाए मार्ग से जीव निष्क्रमण करता है, ऐसा उपासना के सामर्थ्य से ही होता है। "जिन-जिन भावों का स्मरण कर जीव शरीर को छोड़ता है, उन्हीं भावों के अनुसार वह प्राप्त करता है" इत्यादि स्मृति में विद्या के प्रभाव से जो स्मृति का योग दिखलाया गया है उससे भी उक्त कथन की पुष्टि होती है। आचार्य बादरायण उस निष्क्रमण का स्वरूप बतला रहे हैं जैसा कि अध्यात्म में कहा गया है—"हृदय में विराजमान हरि की कृपा से ही परमात्मा के उपासक की ब्रह्मरन्ध्र से उत्क्रान्ति होती है।" यही बात श्रुति में इस प्रकार कही गई है—'हृदय से संबद्ध एक सौ एक नाड़ियों में से ऊपर मूर्द्धा की ओर निकली है उपासक उस विश्वगनी नाड़ी से ऊपर जाकर उत्क्रमण करके अमृतत्व प्राप्त करता है।

ॐ रश्म्यनुसारी ॐ ।४।२।९।१८।

निष्क्रामति। "सहस्रं वा आदित्यस्य रश्मयत्र आसु नाडीष्वातता-स्तत्र श्वेतः सुषुम्नो ब्रह्मयानः सुषुम्नायामाततस्तत्प्रकाशेनैष निर्ग-च्छति ।" इति पौत्रायणश्रुतिः ।

उपासक जो निष्क्रमण करता है तो—"सूर्य की जो हजारों किरणें प्राणों और नाडियों में फैली हुई हैं उनसे प्रकाशित जो सुषुम्ना ब्रह्मयान है, उसमें पहुँचकर उस प्रकाश के सहारे हो निष्क्रमण करता है।" ऐसा पौत्रायण श्रुति का वचन है।

ॐ निशि नेति चेन्न सम्बन्धात् ॐ ।४।२।९।१९।।

रश्म्यभावान्निशि ज्ञानिन उत्क्रमणं न युक्तम् इति चेन्न । सदा सम्बन्धाद्रश्मीनाम् ।

रात्रि के समय तो सूर्य की किरणें रहती नहीं अतः रात्रि में जिस उपासक का उत्क्रमण होगा उसकी तो उक्त गति हो नहीं सकती ऐसा संशय नहीं करना चाहिये, किरणों का तो नाडियों से सदा सम्बन्ध रहता है।

ॐ यावद्देहभावित्वाद् दर्शयति हि ॐ ।४।२।९।२०॥

यावद् देहो विद्यते तावद् रश्मिसम्बन्धो अस्त्येव। "संसृष्टा वा एते रश्मयश्च नाड्यश्च नैषां वियोगा यावदिदं शरीरमत एतैः पश्यन्त्येतैरुत्क्रामत्येतैः प्रवर्त्तते" इति माध्यन्दिनायनश्रुतिः।

जब तक शरीर रहता है तब तक ही सूर्य की किरणों का सम्बन्ध रहता है जैसा कि माध्यन्दिनायन श्रुति में कहा गया है—"जीव के जन्म से ही नाडियों और रश्मियों का संम्बन्ध हुआ है, जब तक शरीर रहता है तब तक इनसे वियोग नहीं होता इन रश्मियों के सहयोग से ही उत्क्रमण काल में जीव मार्ग देखता है।"

ॐ अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॐ ।४।२।९।२१॥

"दक्षिणे मरणाद् याति स्वर्गं ब्रह्मोत्तरायणे" इत्युक्तेऽपि ज्ञानिनो दक्षिणायनोत्क्रान्तिर्युज्यते।

"शतं पञ्चैव सूर्यस्य दक्षिणायनरश्मयः।
तावन्त एव निर्दिष्टा उत्तरायणरश्मयः॥
ते सर्वे देहसंबद्धाः सर्वदा सर्वदेहिनाम्।
महर्लोकादिगन्तार उत्तरायणरश्मिभिः॥
निर्गच्छन्ति इतरैश्चापि यैरेष्टव्येतरा गतिः।
उत्तरं दक्षिणमिति त एव तु निगद्यते॥
न तु कालविशेषोऽस्ति ज्ञानिनां नियमात् फलम्।
ददाति कालेऽनुगुणे फलं किंचिद् विशिष्यते॥
अत्युत्तमानां केषांचिन्न विशेषोऽस्ति कालतः।"

इति नारायणाध्यात्मे।

"दक्षिणायन में मरने से स्वर्ग जाता है, उत्तरायण में ब्रह्म प्राप्त करता है" ऐसी श्रुति है फिर भी उपासक की तो दक्षिणायन में भी उत्क्रान्ति होती है जैसा कि नारायण तंत्र और अध्यात्म का वचन है—"सूर्य की पांच सौ किरणें दक्षिणायन की हैं उतनी ही उत्तरायण की भी हैं, जो कि सभी शरीर धारियों से सदा संबद्ध रहती उत्तरायणरश्मि से महर्लोक आदि में जाने वाले जाते हैं, दूसरे यज्ञ आदि करने वाले दक्षिणायन से जाते हैं। उत्तर दक्षिण की बात तो औरों के लिए ही कही गई है, किन्तु उपासकों के लिए किसी काल विशेष का नियम नहीं है कालानुसार तो सामान्य फल ही मिलता है कोई विशेषता नहीं होती, पर अत्युत्तम फल में काल का कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता।"

१० अधिकरण

ॐ योगिनः प्रतिस्मर्येते स्मार्त्ते चैते ।४।२।१०।२२॥

न केवलं कालादिकृते ब्रह्मचन्द्रगती स्मर्येते। किन्तु ज्ञानयोगिनः कर्मयोगिनश्च।

"अग्निर्ज्योतिरतः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जानाः॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते॥"

इत्यत्र योगी इति विशेषणात् स्मरणनिमित्ते चैते गती।

"गत्यनुस्मरणाद् ब्रह्म चन्द्रं वा गच्छति ध्रुवम्।
अननुस्मरतः काले स्मरणं प्राप्य वै गतिः॥"

इत्यध्यात्मे।

केवल काल की दृष्टि से ही चान्द्रमसी या ब्रह्मगति का वर्णन नहीं किया गया है अपितु ज्ञानयोगी और कर्मयोगी की दृष्टि से है। "अग्नि-ज्योति अह उत्तरायण के छह मास में ब्रह्मवेत्ता, जाकर ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। धूम, रात्रि, कृष्ण और दक्षिणायन के छह मासों में कर्मयोगी चान्द्रमसी गति प्राप्त कर पुनः लौटते हैं।" इत्यादि में योगी विशेषण देकर इन गतियों को गति के स्मरण

का महत्त्व दिखाया गया है। जैसा कि आध्यात्म में कहते हैं—"गति के अनुस्मरण से ब्रह्म या चन्द्र को निश्चित प्राप्त करता है, यदि काल का स्मरण नहीं रहता तो भगवद् स्मरण के अनुसार गति होती है।"

चतुर्थ अध्याय द्वितीय पाद समाप्त

चतुर्थ अध्याय—तृतीयपाद

१ अधिकरण

मार्गो गम्यं चास्मिन् पाद उच्यते।

ॐ अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॐ ।४।३।१।१।।

"तेऽर्चिषमभिसंभवंत्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षम्" इत्यर्चिषः प्राथम्यं श्रूयते। "यदाह वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति" इति वायोः। तत्रार्चिषः प्राप्तिरेव प्रथमा।

"द्वावेव मार्गौ प्रथितावर्चिरादिर्विपश्चिताम्।
धूमादिः कर्मिणां चैव सर्ववेदविनिर्णयात्।।
अग्निर्ज्योतिरिति द्वैधेवार्चिषः सम्प्रतिष्ठितिः।
अग्निं गत्वा ज्योतिरेति प्रथमं ब्रह्म संव्रजन्निति।।
एकस्मिस्तु पुरे संस्थो द्विरूपोऽग्नेः सुतो महान्।"

इति ब्रह्मतर्के।

"वे अर्चि को प्राप्त करते हैं, अर्चि से अह को अह से आपूर्यमाण पक्ष को" इत्यादि में अर्चि की प्राथमिकता कही गई है। 'जब पुरुष इस लोक से जाता है तो वायु को प्राप्त करता है" इसी श्रुति में वायु की प्राथमिकता है वस्तुतः अर्चि की ही प्रथम प्राप्ति होती है जैसा कि ब्रह्मतर्क के इस वचन से निश्चित होता है—"अर्चि आदि दो मार्ग विद्वानों ने बतलाए हैं, कर्मयोगियों के लिए वेद में धूमादिमार्ग का निर्णय किया गया है। अर्चि के दो रूप हैं अग्नि और ज्योति अग्नि को प्राप्त कर ज्योति प्राप्त करता है तब ब्रह्म लोक की ओर अग्रसर होता है, इस प्रकार अग्नि के दो रूप सामने होते हैं।"

२ अधिकरण

ॐ वायुशब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॐ ।४।३।२।२।।

'अर्चिषो वायुं गच्छति स वायुमागच्छति' इति सामान्यवचनात्। "स इतो गतो द्वितीयां गतिं वायुमागच्छति वायोरहरह्न आपूर्यमाणपक्षम्" इति विशेषवचनाच्च।

"अर्चि से वायु को जाता है" ऐसे सामान्य वचन से तथा—"वह वहाँ जाकर दूसरी वायु गति को प्राप्त करता है वायु से अह, अह से आपूर्यमाण को प्राप्त करता है।" इस विशेष वचन से वायु की द्वितीया गति निश्चित होती है।

३ अधिकरण

ॐ तडितोऽधिवरुणः सम्बन्धात् ॐ ।४।३।३।३।।

"मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सराद् वरुणलोकं वरुणलोकात् प्रजापतिलोकम्" इति कौण्डिन्यश्रुतिः। "संवत्सरात् तडितमागच्छति तडितः प्रजापतिलोकम्" इति गौपवनश्रुतिः। तत्र तडितो वरुणं गच्छति "तडितो ह्यूर्ध्वं वरुणलोकस्तडिदुपरि मुक्तामयो राजते तत्रासौ वरुणो राजा सत्यानृते विविनक्ति" इत्युपरि सम्बद्धतत्त्वश्रुतेः।

"मास से संवत्सर, संवत्सर से वरुण लोक, वरुण लोक से प्रजापति लोक प्राप्त करता है" ऐसा कौण्डिन्य श्रुति है। "संवत्सर से तडित को प्राप्त करता है तडित से प्रजापतिलोक प्राप्त करता है" ऐसी गौपवन श्रुति है। किन्तु तडित से वरुण लोक जाता है ऐसा इस श्रुति में स्पष्ट कहा गया है—"तडित से वरुण लोक प्राप्त करता है, वह लोक तडित से ऊपर है जहाँ पर वरुण राजा सत्य और अनृत की विवेचना करते हैं।"

४ अधिकरण

ॐ आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॐ ।४।३।४।४।।

पूर्वोक्तस्त्वातिवाहिको वायुः पूर्वगमनलिङ्गात्।

पहिले वायुलोक प्राप्ति की बात कही गई है उससे वायु की आतिवाहिक सिद्ध होता है।

ॐ उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॐ ।४।३।४।५।।

"स वायुमागच्छति" इति प्रथममुच्यते । "उत्क्रान्तो विद्वान् परमभिगच्छन् विद्युतमेवान्तत उपगच्छति द्यौर्वाव विद्युत्तत्पतिं" वायुमुपगम्य तेनैव ब्रह्म गच्छति "इत्यन्तेपि वायुगमनश्रुतेः पूर्वोक्त आतिवाहिकः परो वेति व्यामोहे उत्तरे दिवस्पतिरिति विशेषणात् पूर्वत्रातिवाहिकस्यैव सिद्धेः । ब्रह्मतर्के च—

उत्क्रान्तस्तु शरीरात्स्याद् गच्छत्यर्चिषमेव तु ।
ततो हि वायोः पुत्रं च योऽसौ नाम्नातिवाहिकः ।।
ततोऽहः पूर्वपक्षं चाप्युदक्संवत्सरं तथा ।
तटितं वरुणं चैव प्रजापं सूर्यमेव च ।।
सोमं वैश्वानरं चेन्द्रं ध्रुवं देवीं दिवं तथा ।
ततो वायुं परं प्राप्य तेनैति पुरुषोत्तमम् ।।" इति ।

"वह वायु को प्राप्त करता है" ऐसा पहले कहा गया फिर "उपासक शरीर छोड़कर परम धाम जाता हुआ विद्युत को ही प्राप्त करता है, वहां से विद्युत्पति वायु को प्राप्त होता है, वायु उसे ब्रह्म के पास पहुँचाते हैं।" इस वाक्य में अन्त में वायु लोक के गमन की बात कही गयी है, इस पर व्यामोह होता है कि—पूर्वोक्त वायु आतिवाहक हैं या बाद के ? "दिवस्पति" जो वायु का विशेषण दिया गया है उससे पूर्व वायु ही आतिवाहिक सिद्ध होते हैं। जैसा कि ब्रह्मतर्क के वचन से निश्चित हो जाता है—"शरीर से निकल अर्चिष को ही प्राप्त होता है, वहाँ से वायु पुत्र, जो कि आतिवाहिक कहलाते हैं, वे उपासक को क्रमशः अह, पूर्व पक्ष, संवत्सर, तटित, वरुण, प्रजापति, सूर्य, सोम, वैश्वानर, इन्द्र, ध्रुव, आदि लोकों में घुमाते हुए वायु लोक से उस पुरुषोत्तम को प्राप्त करा देते हैं।"

५ अधिकरण

ॐ वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॐ ।४।३।५।६।।

प्रकारांतरेण तत्र तत्रोच्यमानत्वाद् वायोरपि परतो ब्रह्मणोऽर्वा

गन्तव्योऽस्तीति नाशंकनीयम् । विद्युत्पतिना वायुनैव । "स एनान् ब्रह्म गमयति" इति ब्रह्मगमनश्रुतेः ।

"विद्युत्पतिर्वायुरेव नयेद् ब्रह्म न चापरः ।
कुतोऽन्यस्य भवेच्छक्तिस्तमृते प्राणनायकम् ।।"

इति बृहत्तन्त्रे ।

प्रकारान्तर से लोकों के गमन की बात कहकर अन्त में परब्रह्म लोक के प्रथम वायु की प्राप्ति कही गई है इसलिए उन्हीं विद्युत्पति वायु द्वारा उपासक ब्रह्म लोक पहुँचाया जाता है ऐसा निश्चित है। "वह इसे ब्रह्म प्राप्ति कराते हैं" ऐसी श्रुति भी है। बृहत्तंत्र में एकदम स्पष्ट कहते हैं—"विद्युत्पति वायु ही ब्रह्म के पास ले जाते हैं और कोई दूसरा नहीं ले जाता, उस प्राणनायक वायु के अतिरिक्त और किसमें वहाँ तक पहुँचने की शक्ति है।"

६ अधिकरण

ॐ कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॐ ।४।३।६।७।।

"स एनान् ब्रह्म गमयति" इति कार्यब्रह्म गमयतीति बादरिर्मन्यते ।

"ऋते देवान् परं ब्रह्म कः पुमान् प्राप्नुयात् क्वचित् ।
यद्यपि ब्रह्म दृष्टिः स्याद् ब्रह्मलोकमवाप्नुयात् ।।"

इत्यध्यात्मवचनात् तस्यैव गत्युपपत्तेः ।

"स एनान् ब्रह्म गमयति" इस श्रुति का आचार्य बादरि कार्यब्रह्म परक अर्थ करते हुए कहते हैं कि—"कार्यब्रह्म इस जीव को ले जाते हैं।" अपने कथन की पुष्टि में अध्यात्म का यह वचन प्रस्तुत करते हैं—"श्रेष्ठ देवता ब्रह्म के अतिरिक्त और कौन ऐसा है जो मनुष्यों को ब्रह्मलोक की प्राप्ति करा सके यद्यपि उन्हें भी ब्रह्मदृष्टि से देखा जाता है, पर वे ही परब्रह्म की प्राप्ति कराते हैं।"

ॐ विशेषितत्वाच्च ॐ ।४।३।६।८।।

"यदि ह वाव परमभिपश्यति प्राप्नोति ब्रह्माणं चतुर्मुखं प्राप्नोति ब्रह्माणं चतुर्मुखम्" इति कौषारवश्रुतौ ।

"यदि परमात्मा को देखने की अर्हता प्राप्त करता है तो चतुर्मुख प्राप्त करता है निश्चित ही चतुर्मुख ब्रह्म को प्राप्त करता है" इत्यादि कौषारव श्रुति में विशेष उल्लेख किया गया है जिससे बादरि मत की पुष्टि भी होती है।

ॐ सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॐ ।४।३।६।९॥

"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति व्यपदेशस्तु समीपत एव परमपि प्राप्नोति इत्येतदर्थ एव।

"ब्रह्मविद् परम को प्राप्त करता है" इस व्यपदेश से भी यही निश्चित होता हैं कि—"सामीप्य से ही परमब्रह्म को प्राप्ति करता है," यही अर्थ है।

ॐ कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॐ ।४।३।६।१०॥

"ते ह ब्रह्माणमभिसंपद्य यदैतद् विलीयतेऽथ सह ब्रह्मणा परमभिगच्छन्ति" इति सौपर्णश्रुतेर्महाप्रलये तदध्यक्षेण ब्रह्मणा सह गच्छन्ति।

"वे सब ब्रह्म को प्राप्त कर, जब यह सब कुछ विलीन होता है सब ब्रह्म के साथ परमात्मा में विलीन हो जाते हैं।" इस सौपर्ण श्रुति में स्पष्ट कहा गया है कि महाप्रलय में सृष्टि के अध्यक्ष ब्रह्मा के साथ, परमात्मा की प्राप्ति करते हैं।

ॐ स्मृतेश्च ॐ ।४।३।६।११॥

"ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते परमात्मनः प्रविशन्ति परं पदम् ॥" इति।

"प्रत्येक सृष्टि में, वे सारे जीव ब्रह्म के साथ, परात्पर ब्रह्म के परमपदम को प्राप्त करते हैं।" इत्यादि स्मृति वाक्य भी उक्त कथन का समर्थक है।

ॐ परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॐ ।४।३।६।१२॥

ब्रह्मशब्दस्य तत्रैव मुख्यत्वात् परमेव ब्रह्म गमयति इति जैमिनिर्मन्यते।

ब्रह्म शब्द मुख्य रूप से परमात्मा के ही लिए प्रयोग किया जाता है इसलिए परमब्रह्म ही परमपद प्राप्त कराते हैं, ऐसा जैमिनी मानते हैं।

ॐ दर्शनाच्च ॐ ।४।३।६।१३॥

दृष्टत्वाच्च परब्रह्मणः।

—परब्रह्म की प्राप्ति की बात प्रसिद्ध भी है।

ॐ न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ॐ ।४।३।६।१४॥

न हि कार्ये प्रतिपत्तिः प्राप्तव्यमित्यभिसन्धिः।

"यदुपास्ते पुमाञ्जीवन्यत्प्राप्तुमभिवाञ्छति।
यच्च पश्यति तृप्तः संस्तत् प्राप्नोति मृतेरनु ॥"

इति पाद्मे।

कार्य में प्रतिपत्ति नहीं होती, ऐसी अभिसंधि भी पद्म पुराण के वचन से होती है, 'मनुष्य, जीवन में जिसकी उपासना करता है जिसे पाने की इच्छा भी करता है, जिसे देखकर तृप्त होता है, मरने के बाद उसे ही प्राप्त होता है।"

ॐ अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा च दोषात्तत्क्रतुश्च ॐ ।४।३।६।१५॥

प्रतीकं देह उद्दिष्टो येषां तत्रैव दर्शनम्।
न तु व्याप्ततया क्वापि प्रतीकालम्बनास्तु ते ॥
"अप्रतीका देवतास्तु ऋषीणां शतमेव च।
राज्ञां च शतमुद्दिष्टं गन्धर्वाणां शतं तथा ॥
एतेऽधिकारिणो व्याप्तदर्शनेऽन्ये न तु क्वचित्।
अयोग्यदर्शने यत्नात् भ्रंशः पूर्वस्य चापि तु ॥
अप्रतीकाश्रया ये हि ते यान्ति परमेव तु।
स्वदेहे ब्रह्मदृष्ट्यैव गच्छैतद् ब्रह्म सलोकताम् ॥
ब्रह्मणा सह संप्राप्ते संहारे परमं पदम्।"

इति गारुडवचनात्। उभयत्र उक्तदोषात् चाप्रतीकालम्बनान्परं नयति। "स यथाकामो भवति तत् क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते

यत् कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते'' इति श्रुतेश्च । अत्र कर्मोपासनमेव । अन्यान् कार्यं नयति इति भगवन्मतम् ।

जो लोग प्रतीक-शरीर की दृष्टि से उपासना करते हैं, उन्हें उसमें ही साक्षात्कार होता है। व्याप्त परमात्मा को किसी भी प्रतीक के आश्रय से कोई भी नहीं जान सकता। व्यापक दृष्टि ऋषियों की, राजा की, गन्धर्वों की तो हो सकती है, ये तो अधिकारी हैं, अन्य लोग नहीं हो सकते, यदि इनके अतिरिक्त लोग प्रयास भी करते हैं तो वे अपने पूर्व प्रयास से भी गिर जाते हैं। जो लोग प्रतीकाश्रय नहीं लेते वे परमात्मा की प्राप्ति करते हैं, जो लोग अपने शरीर में ही ब्रह्म दृष्टि करते हैं वे ब्रह्मलोक की प्राप्ति करते हैं अन्त में सृष्टि का संहार होने पर ब्रह्मा के साथ परम पद को प्राप्ति करते हैं। "जो जैसा अभिलाषा करता है वैसा ही कर्म करता है, वैसा हो कर्म करता है, जैसा कर्म करता है, मृत्यु के उपरान्त तदनुरूप ही प्राप्ति करता है।" ऐसी श्रुति भी है। यह कर्मोपासना की चर्चा है, अतः कर्मानुसार अन्य कार्य की प्राप्ति होती है ऐसा भगवान् बादरायण का मत है।

ॐ विशेषं च दर्शयति ॐ ।४।३।६।१६।।

"अन्तःप्रकाशाः बहिः प्रकाशाः सर्वप्रकाशाः, देवा वाव सर्वप्रकाशाः ऋषयोऽन्तःप्रकाशाः मनुष्या एव बहि प्रकाशाः" इति चतुर्वेदशिखायाम् ।

"कुछ लोग अन्तःप्रकाश, कुछ बहि प्रकाश और कुछ सर्व प्रकाश होते हैं। देवता सर्व प्रकाश, ऋषि अन्तः प्रकाश और मनुष्य बहि प्रकाश होते हैं।" ऐसा चतुर्वेद शिखा का वचन है, जिससे उपासना के तारतम्य की प्रतीति होती है।

चतुर्थ अध्याय तृतीयपाद समाप्त

चतुर्थ अध्याय चतुर्थपाद

१ अधिकरण

भोगमाहात्म्यम् पादे- इस पाद में भोग की चर्चा करते हैं।

ॐ सम्पद्याविहाय स्वेन शब्दात् ॐ ।४।४।१।१।।

"स य एवं विदेवंमन्वान एवं पश्यन्नात्मानमभिसंपद्यैतेनात्मना यथाकामं सर्वान् कामाननुभवति" इति सौपर्णश्रुतेः ।

"परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति च "एतं सेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्ननन्धो भवति" इति च । तत्र तरणं नाम तत्प्राप्तये अन्यतरणमेव । "इमां घोरामशिवां नदीं तीर्त्वैतं सेतुमाप्यैतेनैव सेतुना मोदते प्रमोदत आनन्दी भवति" इति मौद्गल्यश्रुतेः ।

"जो उसे इस प्रकार जानता, मनन करता और देखता है, वह उसे आत्मा को प्राप्त कर मनोवाञ्छित कामनाओं का भोग करता है" ऐसा सौपर्ण श्रुति है तथा—"परम ज्योति को प्राप्त कर अपने वास्तविक रूप को प्राप्त करता है" "इस सेतु को पारकर विमूढ़ व्यक्ति सचेष्ट हो जाता है" इत्यादि श्रुतियाँ भी हैं। इस श्रुति में तरण करने का तात्पर्य है उसे प्राप्त करने के लिए अन्य को तरण करना। मौद्गल्यश्रुति में ऐसा स्पष्ट उल्लेख है—"इस घोर अपवित्र नदी को पार कर सेतु को प्राप्तकर उसी सेतु से मुदित, प्रमुदित और आनंदित होता है।"

२ अधिकरण

ॐ मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॐ ।४।४।२।२।।

मुक्त एवात्रोच्यते । अहरहरेनमनुप्रविशत्युपसंक्रमते च न तत्र मोदते न प्रमोदते न कामाननुभवति बद्धो ह्येष तदा भवत्यथ यदैनं मुक्तोऽनुप्रविशति मोदते च प्रमोदते च कामांश्चैवानुभवति इति बृहच्छ्रुतौ प्रतिज्ञानात् ।

मुक्त जीव को ही मोद-प्रमोद आनन्द की प्राप्ति होती है जैसा कि—बृहत् श्रुति से निश्चित होता है—"नित्य प्रति इसमें प्रवेश और निर्गम करता है, न वहाँ प्रविष्ट होने पर मुदित होता है न प्रमुदित न कामनाओं को ही अनुभव करता है, क्योंकि यह जीव बद्ध है, जब यह मुक्त होकर उसमें प्रवेश करता है तब मुदित, प्रमुदित और कामनाओं को भोगता है।"

३ अधिकरण

ॐ आत्मा प्रकरणात् ॐ ।४।४।३।३।।

परं ज्योतिःशब्देन परमात्मैवोच्यते, तत्प्रकरणत्वात् ।

"परं ज्योतिः परं ब्रह्म परमात्मादिका गिरः ।
सर्वत्र हरिमेवैकं ब्रूयुर्नान्यं कथंचन ।।"

इति ब्रह्माण्डे ।

परम् ज्योतिष शब्द से परमात्मा का ही उल्लेख किया गया है ऐसा उसके प्रकरण से ही निश्चित होता है। ब्रह्माण्ड पुराण में स्पष्ट उल्लेख भी है—"परज्योति, परब्रह्म, परमात्मा आदि शब्दों से एक मात्र हरि को ही पुकारना चाहिए किसी और को नहीं।"

४ अधिकरण

ॐ अविभागेन दृष्टत्वात् ॐ ।४।४।४।४॥

ये भोगाः परमात्मना भुज्यन्ते त एव मुक्तैर्भुज्यन्ते । "यानेवाहं शृणोमि, यान् पश्यामि, याञ्जिघ्रामि तानेवैत इदं शरीरं विमुच्यानुभवन्ति" इति दृष्टत्वाच्चतुर्वेदशिखायाम् । भविष्यत्पुराणे च—"मुक्ताः प्राप्य परं विष्णुं तद्भोगांल्लेशतः क्वचित्, बहिष्ठान्भुञ्जते नित्यं नानन्दादीन् कथंचन" इति ।

जो भोग परमात्मा भगोते हैं वे ही मुक्त जीव भी भोगते हैं। जैसा कि चतुर्वेद शिखा में स्पष्ट दिखलाया गया है—"मैं जिन मनोरम शब्दों को सुनता हूँ, जिन सुरम्य वस्तुओं को देखता हूँ, जिन वस्तुओं को सूँघता हूँ, उन्हें ही ये मेरे मक्त शरीर से छूटकर अनुभव करते हैं।" "भविष्यत् पुराण में भी इसकी पुष्टि की गई है—"मुक्त जीव परविष्णु को पाकर उनके भोगों के सहयोग से नित्य थोड़ा आनन्दादि को भोगता भी है ज्यादा बाहर का भोगों को भोगता है।

५ अधिकरण

ॐ ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॐ : ४।४।५।५॥

सर्वदेहपरित्यागेन मुक्ताः सन्तो ब्राह्मेणैव देहेन भोगान् भुञ्जते इति जैमिनिर्मन्यते । "स वा एष ब्रह्मनिष्ठ इदं शरीरं मर्त्यमतिसृज्य ब्रह्माभिसम्पद्य ब्रह्मणा पश्यति ब्रह्मणा शृणोति, ब्रह्मणैवेदं सर्वमनुभवति" इति माध्यन्दिनायनश्रुतावुपन्यासात् । "आदत्ते हरिहस्तेन हरिदृष्ट्यैव पश्यति गच्छेच्च हरिपादाभ्यां मुक्तस्यैषा स्थितिर्भवेत्" इति स्मृतेः । "गच्छामि विष्णुपादाभ्यां विष्णुदृष्ट्या च दर्शनम्, इत्यादिपूर्वस्मरणान्मुक्तस्यैतद्भविष्यति" इति बृहत्तन्त्रोक्तयुक्तेश्च ।

लिङ्गादि समस्त शरीरों से छूटकर मुक्त जीव ब्रह्म के शरीर में सायुज्य प्राप्त कर उन्हीं के शरीर से भोग भोग भोगते हैं, ऐसा जैमिनि मानते हैं। "वह ब्रह्मनिष्ठ उपासक इस शरीर को छोड़कर ब्रह्म शरीर को प्राप्त कर, ब्रह्म की दृष्टि से ही देखता है, उन्हीं के कानों से सुनता है, उन्हीं के शरीर से सब कुछ अनुभव करता है "इस माध्यन्दिनायन के वचन से उनके मत की पुष्टि भी होती है।" हरि के हस्त से ग्रहण करते हैं, हरि की दृष्टि से ही देखता है हरि के पैरों से ही चलता है, मुक्त की ऐसी ही स्थिति हो जाती है।" इत्यादि स्मृति तथा "विष्णु के पैर से जा रहा हूँ, विष्णु की दृष्टि से देख रहा हूँ इत्यादि मुक्त जीव के पूर्वस्मरण से वैसा होता है। 'बृहत्तन्त्रोक्त युक्ति से भी उक्त श्रुति की पुष्टि होती है।

ॐ चितिमात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॐ ।४।४।५।६॥

चितिमात्रो देहो मुक्तानां पृथग्विद्यते तेन भुञ्जते । "सर्वं वा एतदचितरित्यज्य चिन्मात्र एवैष भवति चिन्मात्र एवावतिष्ठते तामेतां मुक्तिरित्याचक्षते" इत्युद्दालकश्रुतेः चिदात्मकत्वादित्यौडुलोमिर्मन्यते ।

मुक्त जीवों का शरीर चैतन्यमात्र होता है और वे भगवान के साथ अलग रह कर ही दिव्य भोगों का सुख प्राप्त है जैसा कि उद्दालक श्रुति से निश्चित होता है-"समस्त इन जागतिक जड़ पदार्थों को छोड़कर यह एकमात्र चैतन्य रूप हो जाता है इसे ही मुक्ति कहते हैं।" यह औडुलोमि आचार्य की मान्यता है।

ॐ एवमप्युपन्यासात्पूर्वं भावादविरोधं बादरायणः ॐ।४।४।५।७॥

"स वा एष एतस्मान्मर्त्याद्विमुक्तश्चिन्मात्री भवत्यथ तेनैव रूपेणाभिपश्यत्यभिशृणोति अभिमनुतेऽभिविजानाति तामाहुर्मुक्तिः" इति सौपर्णश्रुतौ चिन्मात्रेणाप्युपन्यासात् जैमिन्युक्तस्य च भावादुभयत्राप्यविरोधं बादरायणो मन्यते । नारायणाध्यात्मे च—

"मर्त्यं देहं परित्यज्य चितिमात्रात्मदेहिनः ।
चितिमात्रेन्द्रियाश्चैव प्रविष्टा विष्णुमव्ययम् ॥
तदङ्गानुगृहीतैश्च स्वाङ्गैरेव प्रवर्त्तनम् ॥

कुर्वन्ति भुञ्जते भोगांस्तदन्तर्बहिरेव वा ।
यथेष्टं परिवर्तन्ते तस्यैवानुग्रहेरिताः ॥" इति ।

"जब यह जीव इस मर्त्य जगत से मुक्त होकर चिन्मात्री हो जाता है तब उसी रूप से देखता, सुनता, मनन करता, विचार करता है, उसे ही मुक्ति कहते हैं" इस सैपर्ण श्रुति में चिन्मात्र से सब कुछ करने का बात कही गई है; जिसमें जैमिनि का भाव भी आ जाता है, बात औडुलोमि और जैमिनि दोनों की एक ही है, ऐसा भगवान बादरायण मानते हैं। जैसा कि—नारायण अध्यात्म से स्पष्ट है—"मर्त्य शरीर को छोड़कर चैतन्यमात्र शरीर चैतन्यमात्र इन्द्रियों से अव्यय विष्णु में प्रविष्ट होकर उन्हीं के अंगों के द्वारा अपने अंगों का कार्य करते हुए बाह्यान्तर भोगों को भोगते हैं, प्रभु के अनुग्रह से यथेष्ट कामोपभोग करते हैं।"

६ अधिकरण

ॐ संकल्पादेव च तच्छ्रुतेः ॐ ।४।४।६।८॥

न तेषां भोगादिषु प्रयत्नापेक्षा । "स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति" इत्यादिश्रुतेः ।

मुक्त जीव को भोगादि में किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता; यदि वह पितृलोक की कामना करता है तो उसके संकल्प करते है। पिता सामने उपस्थित हो जाते हैं इत्यादि श्रुति से ऐसा ज्ञात होता है।

७ अधिकरण

ॐ अत एव चानन्याधिपतिः ॐ ।४।४।७।९॥

सत्यसंकल्पादेव ।

"परमोधिपतिस्तेषां विष्णुरेव न संशयः ।
ब्रह्मादिमानुषान्तानां सर्वेषामविशेषतः ॥
ततः प्राणादिनामांताः सर्वेपि पतयः क्रमात् ।
आचार्यश्चैव सर्वेऽपि यैर्ज्ञानं सुप्रतिष्ठितम् ॥
एतेभ्योऽन्यः पतिर्नैव मुक्तानां नात्र संशयः ।"

इति वाराहे ।

मुक्त जीव सत्य संकल्पमात्र से ही अनन्याधिपति हो जाते हैं जैसा कि वाराह पुराण से निश्चित होता है—"उन जीवों के परम अधिपति तो निश्चित ही विष्णु हैं वे तो ब्रह्म से लेकर मनुष्य तक सभी के अधिपति हैं, किन्तु प्राण से लेकर नाम पर्यन्त मुक्तों के अधिपति है।

८ अधिकरण

ॐ अभावं बादरिराह ह्येवम् ।४।४।८।१०॥

चिन्मात्रं विनान्यो देहस्तेषां न विद्यत इति बादरिः । "अशरीरो वाव तदा भवत्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतो याभ्यां ह्येष उन्मथ्यते" इत्येवं कौण्ठरव्यश्रुतावाह हि ।

"मुक्त जीवों का एकमात्र चिन्मात्र देह ही रहता है ऐसी बादरि आचार्य मान्यता है।" उस स्थिति में वह शरीर रहित रहता है, इसीलिए जीव को उन्मथित करने वाले पाप-पुण्य उसे स्पर्श नहीं कर पाते "यह कौण्ठव श्रुति भी बादरिमत को पुष्ट करती है।

ॐ भावं जैमिनिर्विकल्पाम्नानात् ॐ ।४।४।८।११॥

"स वा एष एवं वित्पारमभिपश्यत्यभिशृणोति ज्योतिषैव रूपेण चिता वा अचिता वा नित्येन वाऽनित्येन वाथानन्दी ह्येवैष भवति नानानन्दं कंचिदुपस्पृशति" इत्यौद्दालकश्रुतौविकल्पाम्नानादन्य देहस्यापि भावं जैमिनिर्मन्यते ।

"जो परमातमा को जानता है वह, परमात्मा को ही देखता सुनता है ज्योति रूप से, चिद् या अचिद् रूप से नित्य या अनित्य रूप से परमात्मा से ही आनन्द प्राप्त करता है, उसे दुःखस्पर्श नहीं करता" इस औद्दालक श्रुति में मुक्त जीव के शरीर विकल्पों का उल्लेख किया है, इसलिए चैतन्य के अतिरिक्त देह भी होते हैं, ऐसी जैमिनि की मान्यता है।

ॐ द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॐ ।४।४।८।१२॥

यथा द्वादशाहः क्रत्वात्मकः सत्रात्मकश्च भवति, एवं मुक्तभोगो बाह्यशरीरकृतश्चिन्मात्रकृतश्च भवति इति बादरायणो मन्यते ।

जैसे कि द्वादशाह यज्ञ क्रित्वात्मक और सन्नात्मक दोनों ही रूपों में सम्पन्न होता है वैसे ही मुक्त जीव स्थूल एवं चिन्मात्र सूक्ष्म दोनों ही शरीरों से भोगानुभूति करते हैं, ऐसी बादरायणाचार्य का मान्यता है।

ॐ तदभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॐ ।४।४।८।१३।

सन्ध्यं स्वप्नः, "सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्" इति श्रुतेः।

जैसे कि स्वप्न में शरीर के बिना भोगानुभूति होती है वैसे ही मुक्त जीव भोगानुभूति करते हैं। "सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्" श्रुति के अनुसार जाग्रत और सुषुप्ति से भिन्न तीसरी अवस्था को सन्धि अर्थात् स्वप्न कहते है, यह अवस्था उक्त दोनों अवस्थाओं के मध्य की अवस्था हैं इसलिए सन्धि अवस्था कहलाती है।

ॐ भावे जाग्रद्वत् ॐ ।४।४।८।१४।।

ब्रह्मवैवर्त्ते च—

"स्वप्नस्थानां यथा भोगो विना देहेन युज्यते ।
एवं मुक्तावपि भवेद् विना देहेन भोजनम् ।।
स्वेच्छया वा शरीराणि तेजोरूपाणि कानि चित् ।
स्वीकृत्य जागरितवद्भुक्त्वा त्यागः कदाचन् ।।" इति ।

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में उक्त रहस्य को स्पष्ट किया गया है—"जैसे कि स्वप्नावस्था में विना शरीर के ही भोगानुभूति होती है वैसे ही मुक्त जीव भी बिना शरीर के भोगानुभूति करते हैं, तथा मुक्त जीव स्वेच्छा से तेज रूप शरीर धारण करके जागरित अवस्था की तरह भोगानुभूति करके उस शरीर को छोड़ देते हैं।

ॐ प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति ॐ ।४।४।८।१५।।

शरीरमनुविश्यापि तत्प्रकाशयन्तः पुण्यानेव भोगाननुभवन्ति, न तु दुःखादीन् यथा प्रदीपो दीपिकादिषु प्रविष्टः तस्थं तैलाद्येव भुंक्ते न तु काष्ण्यादि। तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान्हृदयस्य भवति" हि दर्शयति। "न च स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्तीत्यादिना स्वर्गादिस्थस्यैव तद् इति वाच्यम्।

जैसे कि दीपक की लौ दिया में स्थित तैल आदि को ही खाती है, धूँआ को नहीं खाती वैसे ही, मुक्त जीव शरीर में प्रविष्ट होकर उसको प्रकाशित करते

हुए पुण्यों को ही भोगता है, दुःख आदि को नहीं भोगता।" उस स्थिति में वह आन्तरिक कष्टों से मुक्त हो जाता है" ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। "स्वर्ग में कोई भय नहीं है" इत्यादि वर्णन में निश्चित होता है दिव्य लोकों को प्राप्त मुक्त जीवों को ही उक्त स्थिति होती है।

ॐ स्वाप्ययसंपत्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॐ ।४।४।८।१६।।

सुप्तौ मोक्षे वा तदुच्यते "अत्र पिताऽपिता भवत्यनन्वागतं पुण्येनान्वागतं पापेन" इत्याद्याविष्कृतत्वात्। ब्रह्मवैवर्त्ते—

"ज्योतिर्मयेषु देहेषु स्वेच्छया विश्वमोक्षिणः ।
भुञ्जते सुसुखान्येव न दुःखादीन् कदाचन ।।
तीर्णा हि सर्वशोकांस्ते पुण्यपापादिवर्जिताः ।
सर्वदोषनिवृत्तास्ते गुणमात्रस्वरूपिणः ।।"

सुषुप्ति और मुक्ति में उक्त प्रकार की दिव्य सुखानुभूति होती है जैसा कि श्रुति और ब्रह्मवैवर्त्त के वचन से ज्ञात होता है। "इस स्थिति में पिता, अपिता हो जाता है, पुण्य और पाप किसी से भी अवगत नहीं होता।" विश्व को त्याग कर मुक्त जीव ज्योतिर्मय शरीर होकर स्वेच्छा से सुखों को ही भोगते हैं, दुःखों को नहीं भोगते, वे पुण्य-पाप आदि जन्य कर्मों के भोग की चिन्ता और दोषों से मुक्त होकर गुणमात्र स्वरूप वाले हो जाते हैं।

९ अधिकरण

ॐ जगद्व्यापारवर्जम् ॐ ।।४।४।९।१७।।

"सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्" इत्युच्यते। तत्र सृष्ट्यादिभ्योऽन्यानाप्नोति।

"समस्त कामनाओं को प्राप्त कर अमृत हो जाता है" इत्यादि में जिन कामनाओं की प्राप्ति बतलाई गई है वह सृष्टि आदि के भोगों से भिन्न दिव्य भोगों की है।

ॐ कुतः प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॐ ।४।४।९।१८।।

जीवप्रकरणाज्जीवानां तादृक्सामर्थ्यविदूरत्वाच्च। वाराहे च—

"स्वाधिकानन्दसंप्राप्तौ सृष्ट्यादिव्यापृतिष्वपि ।
मुक्तानां नैव कामः स्यादन्यान् कामांस्तु भुञ्जते ॥
तद्योग्यता नैव तेषां कदाचित् क्वापि विद्यते ।
न चायोग्यं विमुक्तोऽपि प्राप्नुयान्न च कामयेत् ॥" इति ।

शास्त्र में जहाँ जीव का स्वरूप वर्णन किया गया है वहाँ उस प्रकार के सामर्थ्य का अभाव दिखाया गया है जैसे कि वाराह पुराण में—"परमात्मानन्द की प्राप्ति में भी जीवों के कर्मों का आवरण तटस्थभाव में रहता है, उन्हें जागतिक कामनाएँ तो नहीं सताती वे अन्यान्य कामनाओं का भोग करते हैं उनमें परमात्मा का सा सामर्थ्य नहीं हो पाता, विमुक्त होते हुए भी बिना भगवत्कृपा के स्वतः अभिलषित कामनाओं को नहीं भोग पाते ।

ॐ प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॐ ।४।४।६।१९।

"ता यो वेद स वेद ब्रह्म सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति" इति प्रत्यक्षोपदेशाज्जगदैश्वर्यमप्यस्तीति चेन्न । आधिकारिकमण्डलाधिपतिर्ब्रह्मा हि तत्रोच्यते । गारुडे च

"आत्मेत्येव परं देवमुपास्य हरिमव्ययम् ।
केचिदत्रैव मुच्यन्ते नोत्क्रामन्ति कदाचन ॥
अत्रैव तु स्थितिस्तेषामन्तरिक्षे तु केचन ।
केचित् स्वर्गे महर्लोके जने तपसि चापरे ॥
केचित् सत्ये महाज्ञाना गच्छन्ति क्षीरसागरम् ।
तत्रापि क्रमयोगेन ज्ञानाधिक्यात्समीपगाः ॥
सालोक्यं च सरूपत्वं सामीप्यं योग एव च ।
इमामारभ्य सर्वत्र यावत्सु क्षीरसागरे ॥
पुरुषोऽनन्तशयनः श्रीमन्नारायणाभिधः ।
मानुषा वर्णभेदेन तथैवाश्रमभेदतः ॥

क्षितिपा मनुष्यगंधर्वा देवाश्च पितरश्चिराः ।
आजानजाः कर्मजाश्च तात्त्विकाश्च शचीपतिः ॥
रुद्रो ब्रह्मेति क्रमशस्तेषु चैवोत्तरोत्तराः ।
नित्यानन्दे च भोगे च ज्ञानैश्वर्यगुणेषु च ॥
सर्वे शतगुणोद्रिक्ताः पूर्वस्मादुत्तरोत्तरम् ।
पूज्यन्ते चावरैस्ते तु सर्वपूज्यश्चतुर्मुखः ॥
स्वजगद्व्यापृतिस्तेषां पूर्ववत्समुदीरिता ।
सयुजः परमात्मानं प्रविश्य च बहिर्गताः ॥
चिद्रूपान्प्राकृतांश्चापि विना भोगांस्तु कांश्चन ।
भुञ्जते मुक्तिरेवं ते विस्पष्टं समुदाहृता ॥ इति ।

"यो वेद स वेद ब्रह्म" इत्यादि में प्रत्यक्ष ही जागतिक ऐश्वर्य का उल्लेख है, ऐसा संशय नहीं करना चाहिए, इसमें आधिकारिक मण्डलाधिपति ब्रह्मा का उल्लेख है । इन सबका स्पष्टीकरण गरुड पुराण में किया गया है—"उस परमात्मा हरि की उपासना करके कुछ लोग यहीं जीवन्मुक्त हो जाते हैं, उनकी यहीं स्थिति रहती है । कुछ मुक्त जीव अन्तरिक्ष में कुछ स्वर्ग में, कुछ महर्लोक में, कुछ जनलोक में, कुछ तपोलोक में, कुछ सत्यलोक में रहते हैं जो महाज्ञानी हैं वे क्षीरसागर में भी पहुँच जाते हैं । वहाँ भी ज्ञानाधिक्य के तारतम्य से भगवान् की निकटता प्राप्त करते हैं । वे सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य के क्रमशः अधिकारी होते हैं । उस नित्य आनन्दधाम क्षीरसागर में अनन्तशयन श्रीमन्नारायण नामक महापुरुष विराजते हैं । मनुष्य, वर्ण और आश्रम भेद से, तथा राजा मनुष्य गन्धर्व देवपितर, आदि आजानज, कर्मज, और तात्त्विक देव एवं, इन्द्र, रुद्र, ब्रह्मा आदि क्रमशः उत्तरोत्तर भगवत् साहचर्य के आनंद भोग, ज्ञान, ऐश्वर्य की प्राप्ति तारतम्य भाव से करते हैं, ये सब क्रमशः सौगुने भाव से उत्तरोत्तर गुणशाली हैं । सभी पूज्य हैं, सर्वपूज्य तो चतुर्मुख ब्रह्मा ही हैं उन सभी जीवों का अपने कर्मों का आवरण पहिले की तरह ही रहता है वे परमात्मा में प्रवेश करके उनकर्मों के साथ जैसे के तैसे बाहरि आ जाते हैं इस प्रकार वे सब चिद्रूप और प्राकृत दोनों ही रूपों में भोगे बिना ही भोगते हैं, वही उनकी मुक्ति का स्वरूप कहा गया है ।" इत्यादि ।

ॐ विकारावर्त्ति च तथाहि दर्शयति ॐ ।४।४।९।२०॥

विकारावर्त्ति व्यापारो मुक्तानां न विद्यते "इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" इति श्रुतिः । वाराहे च–

"स्वाधिकारेण वर्त्तन्ते देवा मुक्तावपि स्फुटम् ।
बलिं हरन्ति मुक्ताय विरिञ्चाय च पूर्ववत् ॥
सब्रह्मकास्तु ते देवा विष्णवे च विशेषतः ।
न विकाराधिकारस्तु मुक्तानामन्य एव तु ॥
विकाराधिकृता ज्ञेया ये नियुक्तास्तु विष्णुना ।" इति ।

किन्तु मुक्त जीवों का कार्यकलाप विकृत और आवागमन वाला नहीं होता "इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" श्रुति में इसकी स्पष्ट उल्लेख है। वाराह पुराण में भी जैसे—"देवता और मुक्त जीव पूर्ण की तरह हो अपने-अपने अधिकार से वर्त्ताव करते हैं देवता इसी प्रकार मुक्त जीवों से अपना भाग ग्रहण करते हैं किन्तु वे देवता और ब्रह्मा, विष्णु से विशेष रूप से पोषण प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार मुक्त जीव भी अविकृत रूप से अपनी अर्हतानुसार भगवत्कृपा प्राप्त करते हैं। सांसारिक विकारों से तो वे ही जीव आवृत हैं जो कि कर्मानुसार भगवान के द्वारा नियुक्त हैं।

१० अधिकरण

ॐ स्थितिमाह दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॐ ४।४।१०।२१॥

"एतत्सामगायन्नास्ते" इत्युच्यते। तत्रानन्दादीनां वृद्धिह्रासश्च न विद्यते। एकप्रकारेणैव सर्वदा स्थितिः। "स एष एतस्मिन् ब्रह्मणि सम्पन्नो न जायते न म्रियते न ह्रीयते न वर्धते स्थित एव सर्वदा भवति दर्शन्नेव ब्रह्म दर्शन्नेवमात्मानं तस्यैवं दर्शयतो नापत्तिर्न-विपत्तिः" इत्याह जाबालश्रुतौ।

"यत्र गत्वा न म्रियते यत्र गत्वा न जायते, न ह्रीयते यत्र गत्वा न वर्धते।" इति मोक्षधर्मे। विद्वत्प्रत्यक्षात्कारणाभावलिङ्गाच्च। ब्रह्मवैवर्ते च–

"न ह्रासो न च वृद्धिर्वा मुक्तानां विद्यते क्वचित् ।
विद्वत्प्रत्यक्षसिद्धत्वात्कारणाभावतोऽनुमा ॥
हरेरुपासना चात्र सदैव सुखरूपिणी ।
न तु साधनभूता सा सिद्धिरेवात्र सा यतः ॥ इति ।

मुक्त जीवों में आनन्द आदि का वृद्धि ह्रास भी नहीं होता, एक सी ही स्थिति बनी रहती है। "वे इस ब्रह्मकृपा से आप्लुत होकर न जन्मते हैं, न मरते हैं न घटते हैं न बढ़ते हैं, सदा एक से ही रहते हैं, भगवत् साहचर्य की नित्य अनुभूतिकरते हुए आपत्ति से मुक्त रहते हैं। "इत्यादि जो जाबाल श्रुति का वचन है। "जहाँ पहुँचकर न मरते हैं न जन्मते हैं न घटते है न बढ़ते हैं" इत्यादि मोक्ष धर्म का वचन भी है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण भी ऐसा ही कहता है– "मुक्त जीवों का ह्रास या वृद्धि नहीं होता, भगवत स्वरूप को जानने से उन लोगों के बन्धन का कोई कारण ही नहीं रह पाता। भगदुपासना सदा सुख रूपीणी है, भक्ति साधन रूपा नहीं है, वह तो सिद्धिरूप है, अतः वही प्राप्य है।

ॐ भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॐ ।४।४।१०।२२॥

न च भोगविशेषादिविरोधः। "एतमानन्दमयमात्मानमनुविश्य न जायते न म्रियते न ह्रसते न वर्धते यथाकामं पिबति यथाकामं रमते यथाकाममुपरमते।" इति भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च।

"अवृद्धिह्रासरूपत्वं मुक्तानां प्रायिकं भवेत् ।
कादाचित्कविशेषस्तु नैव तेषां निषिध्यते ॥"

इति कौर्मे।

"प्रवाहतस्तु वृद्धिर्वा ह्रासो नैवास्ति कुत्रचित् ।
नाप्रियं कञ्चिदपि तु मुक्तानां विद्यते क्वचित् ॥

कुत एव तु दुःखं स्यात्सुखमेव सदोदितम् ।
भोगानां तु विशेषे तु वैचित्र्यं लभ्यते क्वचित् ॥"
इति नारायणतन्त्रे ।

मुक्त जीवों के भोग विशेष का कोई विरोध नहीं है । इस आनन्दमय आत्मा में प्रविष्ट होकर न जन्मता है, न मरता है, न घटता है न बढ़ता है, यथेप्सित भगवद् रस का पान करता है, मनोभिलषित विहार करता है एवं मनोवाञ्छित आनन्द लूटता है" इत्यादि श्रुति में, परमात्मा के साथ भोग मात्र साम्य का स्पष्ट वर्णन किया गया है ।" मुक्त जीवों का वृद्धि ह्रास रहित रूप होता है । आकस्मिक वृद्धि का निषेध भी नहीं है ।" मुक्त जीवों का प्रवाहमय वृद्धि ह्रास नहीं होता, उनको कभी अप्रियता का भी सामना नहीं करना पड़ता उन्हे दुःख का सामना करना ही नहीं पड़ता वे तो सदैव सुख ही भोगते हैं इत्यादि कूर्म पुराण और नारायणतन्त्र में भी मुक्त जीवों के भोग विशेष की प्राप्ति की गई है ।

११ अधिकरण

ॐ अनावृत्तिश्शब्दादनावृत्तिश्शब्दात् ॐ ।४।४।११।२३॥

"न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते सर्वान्कानाप्त्वाऽमृतः समभवत् समभवद्" इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

"वह पुनः नहीं लौटता वह पुनः नहीं लौटता, समस्त कामनाओं को प्राप्त कर अमृत तुल्य हो जात है "इत्यादि श्रुति से मुक्त जीव का उल्लेख किया गया है ।

ज्ञानानन्दादिभिः सर्वैर्गुणैः पूर्णाय विष्णवे ।
नमोस्तु गुरवे नित्यं सर्वथातिप्रियाय मे ॥
यस्य त्रीण्युदितानि वेदवचने रूपाणि दिव्यान्यलं,
बट्तद्दर्शतमित्थमेव निहितं देवस्य भर्गो महत् ।
वायो रामवचोनयं प्रथमकं पृक्षो द्वितीयं वपु–,
र्मध्वो यत्तु तृतीयकं कृतमिदं भाष्यं हरौ तेन हि ॥

नित्यानन्दो हरिः पूर्णो नित्यदा प्रीयतां मम ।
नमस्तस्मै नमस्तस्मै नमस्तस्मै च विष्णवे ॥
इति श्रीकृष्णद्वैपायनकृतब्रह्मसूत्रभाष्ये श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचिते चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।४।४।११।२१॥

सम्पूर्णोऽयं चतुर्थाध्यायः ।
श्रीलक्ष्मीहयग्रीवार्पणमस्तु ॥

ज्ञान आनन्द आदि समस्त गुणों से परिपूर्ण भगवान विष्णु और अति प्रिय गुरु के चरणों में नमन पूर्वक अपनी विज्ञाप्ति समर्पण करता हूँ ।

जिन्होंने वैदिक रहस्य को उपनिषद् ब्रह्मसूत्र और गीता के रूप में प्रकट किया एक मात्र उस महनीय तेज को ही जानने की चेष्टा करनी चाहिए यही, यही प्रतिपाद्य विषय है । वायु ने सर्व प्रथम भगवान राम के वचनों का हनुमान के रूप में भगवान कृष्ण के वचनों का भीम के रूप में तथा अब उन्हीं व्यास रूप हरि भगवान् के वचनों का मध्व के रूप में भाषण किया है ।

नित्यानन्द परिपूर्णतम भगवान हरि मुझ पर नित्य प्रेमवर्षण करें । उन विष्णु के श्री चरणों को बार-बार नमन करता हूँ ।

इति चतुर्थ अध्याय चतुर्थपाद

સમસ્તશિર્મદ઼ાતેજા: પરક્રમ સનાતન:।
જયતાજ્જાનની નાથો વેદવેદ્યો મહામતિ:॥

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत्तत्त्वतो
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः ।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनं
ह्यक्षादि त्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः ॥

श्रीमध्वाचार्य के मत में ये तत्त्व है—भगवान् नारायण सबसे श्रेष्ठ है। जगत् वास्तव में सत्य है। भेद सत्य है। जीवगण भगवान् के सेवक हैं। उनमें तारतम्य है। जीव का स्वरूप आनन्द का अनुभव करना ही मुक्ति है। मुक्ति का साधन शुद्ध भगवान् में भक्ति करना ही है। प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द ये तीन ही प्रमाण हैं। भगवान् श्रीनारायण वेद से ही जाने जाते हैं। इस तरह का संक्षेप में श्रीव्यासराजस्वामिकृत सिद्धान्त श्लोक है।

अङ्कानां वामतो गति के अनुसार 'विष्णु' शब्द के अनुसार 'व' ४ चौथा 'ष' छठ्ठा, 'ण' अपने वर्ग का पाचवाँ है, अतः ५६४ सूत्र विष्णु का प्रतिपादक है।

मध्वाचार्य अ० आद्य

સમ્રીતિર્મહાતેજાઃ પરબ્રહ્મ સનાતનઃ ।
જયતાજ્ઞાનનોનાશો વેદવેદ્યો મહામતિઃ ॥

श्रीमाध्ववेदान्त

(पूर्णप्रज्ञभाष्य)

जगद्गुरु श्रीमन्मध्वाचार्य

प्रस्तोता

आचार्य ललित कृष्ण गोस्वामी

श्री निम्बार्क पीठ : : १२ महाजनी टोला, प्रयाग

प्रकाशक :
मुनिलाल, प्रकाशन अधिकारी
श्रीनिम्बार्कपीठ,
१२ महाजनी टोला प्रयाग

प्रथम संस्करण सं० २०३१

मुद्रक :
मोहन लाल
केशव मुद्रणालय
सुधाकर रोड खजुरी,
वाराणसी-२

सम्पादकमण्डल

श्री मध्वाचार्य मूल संपादक
तर्कतीर्थ, वेदान्तमीमांसाचार्य अनुसंधानसहायक, प्रकाशनाधिकारी
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय वाराणसी-२

श्री सदानन्द गुरुदा, (एम. ए.)
व्याख्याता (कृष्ण द्वारिका-गया)

श्री कान्तानाथ गर्ग, (एम. ए.)
(महाजनी टोला, प्रयाग)

श्री सुदर्शन शरण
(अधिकारी-श्री निम्बार्काचार्यपीठ, प्रयाग)